केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : लोकधर्मी संवेदना

गोवा विश्वविद्यालय

की

पी. एचडी. (हिंदी) उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोधप्रबंध की

रूप-रेखा

शोधार्थी

संतोष कुमार यादव

पी.जी.टी. हिंदी

जवाहर नवोदय विद्यालय, काणकोण, दक्षिण गोवा

अप्रैल – 2016

गोवा विश्वविद्यालय, तालेगांव, गोवा – 403206

केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : लोकधर्मी संवेदना

गोवा विश्वविद्यालय

की

पी. एचडी. (हिंदी) उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोधप्रबंध की

रूप-रेखा

मार्च – 2016

शोध-निर्देशक

डॉ. रवींद्रनाथ मिश्र

प्रोफेसर, हिंदी विभाग

गोवा विश्वविद्यालय, गोवा

शोधार्थी

संतोष कुमार यादव

गोवा विश्वविद्यालय, तालेगांव, गोवा – 403206

Declaration

I the undersigned himself declare that this thesis entitled "KEDARNATH AGRAWAL KA KAVY : LOKDHARMI SAMVEDANA" "केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : लोकधर्मी संवेदना" has been written exclusively by me and that no part of this thesis has been submitted earlier for the award of any degree or diploma of this University or any other university.

Santosh Kumar Yadav
Research Student
Deportment of Hindi
Goa University, Goa

6 April, 2016
Taleigao Plateau,
Goa - 403206

Certificate

As per the Goa University Ordinance, I certify that this thesis entitled "KEDARNATH AGRAWAL KA KAVY : LOKDARMI SAMVEDANA" "केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : लोकधर्मी संवेदना" is a record of research work done by the candidate himself during the period of study under my guidance and that it has not previously formed the basis for the award of any degree or diploma in the Goa University or elsewhere.

06 April, 2016
Taleigoa Plateau,
Goa - 403206

Pro. Dr. R. N. Mishra
Research Guide
Head, Department Of Hindi
Goa University, Goa

पुरोवाक्

केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील काव्य-धारा के एक सशक्त हस्ताक्षर है। इनकी कविताओं में बांदा की धरती की सुगंध और लोक-जीवन की मिठास विद्यमान है। कवि की मानवीय संवेदना जन-साधारण, किसान, श्रमिक, गांव, समाज, लोक-परंपरा आदि से गहन रूप में जुड़ी है। इनकी कविताओं में ग्राम्य जीवन का सुंदर, सजीव और संघर्षमय चित्र उभरता है। जहां एक ओर इनकी कविताओं में खेत की हरियाली, रात की चाँदनी, बादल की घटाएं और बारिश के समृद्धि तथा आशा सूचक चित्र मिलते हैं, तो वहीं दूसरी ओर धूप की चांदनी और सूर्य का ताप भी है, जो साधारण जनता में पौरुष का बल और परिवर्तन की शक्ति भरता है। कवि की संवेदना आम आदमी के जीवन को सहज, सरल और समृद्ध बनाने के पक्ष में खड़ी है। कवि कविता के सहारे जनता जनार्दन तक पहुंच कर आम आदमी के जीवन में बदलाव की आग जलाना चाहता है।

आधुनिक युग में रचना करने के उद्देश्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है, इस परिवर्तन का आधार विश्व में विकसित नवीन मूल्य हैं, जैसे- लोकतंत्र, समता, भातृत्व और चराचर के प्रति मानवीय प्रेम जिसे एक शब्द में मानवता कह सकते हैं। उक्त मानवीय मूल्यों को लोक जीवन में स्थापित करने के हेतु कवि कविता को एक साधन के रूप में चुना है और अपने काव्य में लोक जीवन के विविध रूपों का यथार्थ चित्रण किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में लोक-जीवन से जुड़ी रचनाएं जो जीवन की विविध समस्याओं को उजागर करती हुई, उसके समाधान का मार्ग प्रशस्त करती हैं, लोकधर्मी साहित्य कहलाती हैं। लोक साहित्य में लोक जीवन की सरलता होती है, नैसर्गिक अनुभूतिमय व्यंजना होती है, प्रकृति की गुन-गुनाहट होती है, जिसमें लोक-मानस का हृदय बोलता है, जिससे लोक संवेदनाओं का महत्व और मूल्यों की स्थापना होती है। कवि केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में वे सभी गुण मौजूद है जो एक श्रेष्ठ लोक-साहित्य में होने चाहिए। अतः कवि की काव्य रचनाओं को लोक-जीवन के साहित्य से जोड़कर देखने का प्रयास ही इस शोध-प्रबंध का अभीष्ट है।

शोध-प्रबंध की रूप रेखा के अंतर्गत मैंने शोध-प्रबंध को सात अध्यायों में विभाजित किया है। प्रथम अध्याय 'केदारनाथ अग्रवाल : जीवन रेखा और रचना संसार' के अंतर्गत कवि के जन्म, बचपन, शिक्षा, विवाह, दांपत्य जीवन एवं परिवेश आदि पर प्रकाश डाला गया है। कवि का बचपन ग्रामीण परिवेश में सबके साथ मिलजुल कर रहने और जीने के संस्कार से निर्मित हुआ तथा गांव के नैसर्गिक

वातावरण का प्रभाव कवि के बालमन पर इतना पड़ा कि कालांतर में वहीं से उन्हें लेखन की ऊर्जा प्राप्त हुई।

दूसरे अध्याय 'केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : लोकधर्मी संवेदना के विविध आयाम' के अंतर्गत मैंने विवेच्य कवि के काव्य की लोकधर्मी संवेदना का विवेचन एवं विश्लेषण करने से पूर्व लोक और संवेदना की अवधारणा एवं स्वरूप को विवेचित करने का प्रयास किया है, ताकि उनके काव्य की लोकधर्मी संवेदना के विविध रूपों का विवेचन एवं विश्लेषण करने में सुगमता हो।

प्रकृति को मनुष्य की प्रथम पाठशाला कहा गया है। यह हमारी आजीवन सहचरी होती है, जीवन के नाना क्रिया-कलाप इसके अंतर्गत समाहित होते हैं। यह हमारी आदिशक्ति रूपा है। इसके द्वारा हमारी दैहिक, भौतिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। प्रकृति प्रेरणा और संवेदनाओं की श्रोत भी होती है, यह अपनी गति से जीवन को लय प्रदान करती है। प्रकृति की इस महत्ता को रूपायित करने के लिए मैंने तीसरे अध्याय के अंतर्गत 'केदार के काव्य में अभिव्यक्त प्रकृति की लोकधर्मी संवेदना' के महत्व को रेखांकित किया है।

विधाता की संपूर्ण सृष्टि में प्रेम मूल तत्व है। प्रेम समाज और सृष्टि को गति प्रदान करता है। हमारे जीवन में प्रेम का भावात्मक एवं कायिक महत्व है। केदारनाथ अग्रवाल प्रेम के दांपत्य रूप को आदर्श मानते हुए पत्नी को प्रेमिका के रूप में भी देखते हैं। मैंने चतुर्थ अध्याय 'केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में अभिव्यक्त प्रेम संबंधी लोकधर्मी संवेदना' में प्रेम के विविध रूपों का अवलोकन करते हुए केदार की प्रेम संबंधी मान्यताओं को दर्शाने का प्रयास किया है।

पंचम अध्याय 'केदारनाथ अग्रवाल के काव्य की प्रगतिशीलता' के अंतर्गत केदार काव्य की प्रगतिशीलता का मूल्यांकन किया गया है। प्रगतिशील त्रयी कवियों में नागार्जुन, त्रिलोचन के समान केदारनाथ अग्रवाल का विशिष्ट स्थान है। इस अध्याय में मैंने प्रगतिशीलता के वैचारिक पक्षों का उल्लेख करते हुए उनके काव्य में प्रगतिशील तत्वों का विवेचन एवं विश्लेषण किया है।

'केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : भाषिक संरचना' नामक षष्टम अध्याय के अंतर्गत कवि की भाषिक कुशलता को परखा गया है। अनुभूति की महत्ता अभिव्यक्ति की कलात्मकता पर निर्भर होती है। इसके द्वारा ही साहित्य के सौंदर्य में अभिवृद्धि होती है। साहित्य का सृजन शब्दों द्वारा होता है। रचनाकार शब्दों से ही अपनी रचना का महल खड़ा करता है। केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में भाषिक पक्ष के अंतर्गत मैंने भाषा और शिल्प के विविध पक्षों का आकलन किया है।

अंत में मैंने 'उपसंहार' के सप्तम अध्याय द्वारा सभी अध्यायों का निचोड़ और निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत शोध कार्य के इस दुर्गम पथ पर मुझे गोवा विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के आदरणीय गुरुवर प्रो. डॉ. रवींद्रनाथ मिश्र से बहुत संबल मिला। मैं उनके आत्मीय स्वभाव एवं सहयोग के बल पर ही इस कार्य को पूर्ण कर सका। शोध निर्देशक के रूप में प्रत्येक अध्याय का संशोधन, परिमार्जन और परिवर्धन इन्होंने बहुत ईमानदारी और निष्ठा से किया। गुरुवर के प्रोत्साहन और निरंतर सहयोग का आभार शब्दों में व्यक्त न कर, उसे हृदय में सदैव के लिए संजोए रखना चाहता हूं।

हिंदी विभाग की डॉ. श्रीमती इशरत ख़ान का शुक्रगुजार हूं कि विषय विशेषज्ञ के रूप में उन्होंने सदैव सहयोग और प्रोत्साहन दिया तथा उनके सुझावों से मार्ग दर्शन मिलता रहा । इसके अतिरिक्त डॉ. मंद्रेकर वृशाली के संगत सुझावों व सहयोग और डॉ. विपिन तिवारी व डॉ. ऋषिकेश मिश्र के मित्रवत साथ के लिए, आप सभी का विशेष आभारी हूं। हिंदी विभाग की श्रीमती संजना का भी आभार व्यक्त करता हूं कि उन्होंने कार्यालयी कार्यों में हर संभव सहयोग दिया। मैं भाषा एवं साहित्य संकाय की अधिष्ठाता प्रो. किरण बुडकुले के प्रति आभार व्यक्त करता हूं कि आप के प्रोत्साहन से ही हम मंजिल तक सफर कर सके।

जवाहर नवोदय विद्यालय के प्राचार्य श्री एस कन्नन जी के प्रति निष्ठा और कृतज्ञता व्यक्त करने में खुशी मिलती है कि उनके कुशल सहयोग के बिना नवोदय विद्यालय की व्यस्ततम दिनचर्या में से समय निकालकर यह शोध कार्य पूर्ण कर पाना असंभव था। साथी शिक्षक श्री टी. जे. थॉमस, श्री पी सुंदर कुमार एवं सभी शिक्षकों के प्रति साधुवाद की आप सब का सहयोग सदैव मिलता रहा।

मैं अपनी पत्नी और बच्चों का हृदय से ऋणी हूं कि उनके हिस्से का अमूल्य समय लेकर इस शोध कार्य में लगाया।

सर्वोपरि मैं ईश्वर की कृपा का चिर ऋणी हूं।

दिनांक : 6 अप्रैल, 2016

काणकोण, दक्षिण गोवा (संतोष कुमार यादव)

अनुक्रम

प्रथम अध्याय	पृष्ठ संख्या
केदारनाथ अग्रवाल : जीवन रेखा और रचना संसार	001 - 071
क) जीवन रेखा	
ख) रचना संसार	

द्वितीय अध्याय

केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : लोकधर्मी संवेदना के विविध आयाम	072 - 149
क) लोक एवं संवेदना : अवधारणा एवं स्वरूप	
ख) लोकधर्मी काव्य : स्वरूप एवं परंपरा	
ग) केदार काव्य में लोकधर्मी संवेदना	
1) लोक जीवन	
2) लोक संस्कार	
3) ग्रामीण जीवन	

तृतीय अध्याय

केदार के काव्य में अभिव्यक्त प्रकृति की लोकधर्मी संवेदना	150 - 206
क) प्रकृति : अवधारणा, स्वरूप एवं परंपरा	
ख) प्रगतिशील कविता में प्रकृति चित्रण	
ग) केदार का काव्य : प्रकृति चित्रण में लोकधर्मी संवेदना	
घ) केदार के काव्य में प्रकृति के विविध लोक-रंग-रूप	

चतुर्थ अध्याय

केदार के काव्य में अभिव्यक्त प्रेम संबंधी लोकधर्मी संवेदना	207 - 243
क) प्रेम की अवधारणा एवं स्वरूप	
ख) प्रेम की व्युत्पत्ति एवं अर्थ	
ग) केदार के काव्य में प्रेम का स्वरूप	
घ) केदार काव्य में प्रेम के विविध पक्ष	

पंचम अध्याय

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य की प्रगतिशीलता 244 - 258

क) प्रगतिशीलता : अवधारणा एवं स्वरूप

ख) केदार के काव्य में प्रगतिशील तत्व

षष्ठम अध्याय

केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : भाषिक संरचना 259 - 285

क) रचना प्रक्रिया और भाषा

ख) काव्य में प्रयुक्त भाषा का स्वरूप

ग) काव्य-सौंदर्य

सप्तम अध्याय

उपसंहार 286 - 291

संदर्भ ग्रंथ सूची i - vii

प्रथम अध्याय

केदारनाथ अग्रवाल : जीवन रेखा और रचना संसार

रचनाकार के व्यक्तित्व निर्माण में उसके परिवेशगत जीवन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। क्योंकि परिवेशगत अनुभव संघटित हो कर उसके मानस में जग-बोध की दृष्टि पैदा करते हैं। इस दृष्टि से रचनाकार के आचार-विचार, व्यवहार, सोच, चिन्तन, मनन और चरित्र का संघटन होता है, जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं। व्यक्तित्व एक आंतरिक प्रक्रिया है, जिसे व्यक्ति के कार्य व्यवहार से ही समझा या अनुभव किया जा सकता है। जब रचनाकार अपने गहन बोध को संसार के सामने ठोस रूप देना चाहता है तो उसे सृजन करना पड़ता है। जिसे उसकी कृति कहा जाता है। रचनाकार की कृति या सृजन उसके व्यक्तित्व का बाह्य प्रकटीकरण है। केदारनाथ अग्रवाल का स्वयं के बारे में अभिमत है-

हम लेखक हैं कथाकार है
हम जीवन के भाष्यकार हैं
हम कवि हैं जनवादी।
चांद, सूर, तुलसी, कबीर के
संतों के हरिचंद वीर के
हम वंशज बड़भागी।[1]

मनोवैज्ञानिक परविन का कथन है कि "व्यक्तित्व किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के उन रचनात्मक एवं गत्यात्मक गुणों का प्रतिनिधित्व करता है, जो किसी परिस्थिति के प्रति विशिष्ट प्रतिक्रियाओं द्वारा परिलक्षित होते हैं।"[2] परविन द्वारा व्यक्तित्व की दी गई मनोवैज्ञानिक परिभाषा व्यक्तित्व के दो पक्षों को उभारती है। प्रथम रचनात्मक अर्थात आंतरिक प्रक्रिया और दूसरा गत्यात्मक आर्थात सृजनात्मक। केदारनाथ अग्रवाल जिस प्रकार अपने को चांद, सूर, तुलसी, कबीर, हरिश्चंद्र तथा खुद को जनवादी लेखक और भाष्कार बता कर जिस वंश परंपरा से खुद को जोड़ते हैं, वह है- भारत की लोक संवेदना की परंपरा। जो कवि, लेखक, कलाकार, नेता, अभिनेता आदि इस परंपरा को छू पाता है, वही भारतीय मानस का नायक बन जाता है। इस लोक संवेदना की परंपरा को हम कला के विभिन्न क्षेत्रों में भी देख सकते हैं। हिंदी साहित्य के प्रगतिशील त्रयी कवियों में प्रशंसनीय कवि केदारनाथ अग्रवाल में लोक जीवन की महक मौजूद है। उनकी रचनाओं में लोक परंपरा की संवेदना अपने जनपदीय चमक के साथ विद्यमान है। अत: कवि के जीवन और रचना में 'लोकधर्मी संवेदना' पर विचार करने से पूर्व उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की परख कर लेना समीचीन होगा।

जीवन रेखा

प्रगतिशील काव्यधारा के अग्रणी और लोकवादी आलोक से दीप्तिमान कवि केदारनाथ अग्रवाल का जन्म 1 अप्रैल 1911 ई. (सं. 1968 वि.) चैत्र माह के शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन शनिवार को बांदा जिला, उत्तर प्रदेश में हुआ था। इनके गाँव का नाम कमासीन था, जो बांदा जिला मुख्यालय से 75 कि.मी. दूर बाबेरू तहसील में पड़ता है। इनके परिवार में गल्ला खरीदने-बेचने का आढ़ती कारोबार तथा कपड़ा बेचने का व्यवसाय होता था। इनके पिता का नाम हनुमान दास गुप्त और माता का नाम घसिट्टो देवी था। इनके पिता श्री हनुमान दास गुप्त रसिक मिज़ाजी थे। वे रीतिकालीन कविताओं में रुचि रखते थे और 'मान' नाम से कुछ कविताएं भी लिखे थे। कवि केदारनाथ अग्रवाल का भी तत्कालीन परंपरानुसार बालविवाह हुआ और जब ये हाई स्कूल में पढ़ रहे थे, उसी समय इनका गौना आया। इनकी पत्नी नैनी के सुगर मिल मालिक बाबू बेनी प्रसाद की भांजी पार्वती देवी थीं। इनकी पत्नी बड़े घर की बेटी थीं, जिनका बचपन सुख-सुविधाओं में बीता था। पक्का मकान और शहरी जीवन उन्हें पैदाइसी मिला था। केदारनाथ के साथ ब्याह और गौना हो जाने के बाद उन्हें गांव में उसी खपरैल के घर में रहना पड़ता था, जो परिवार का सनातनी घर था। केदारनाथ अग्रवाल की तीन संताने श्याम कुमारी और किरण कुमारी दो बेटियां और एक बेटा अशोक कुमार था। कालांतर में बेटियों की शादी होने के बाद अपने ससुराल चली गईं। पुत्र अशोक चेन्नई में स्वयं के फिल्म व्यवसाय से जुड़े हैं।

कवि केदारनाथ अग्रवाल की शिक्षा-दीक्षा तीसरी कक्षा तक गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई। बाद में अंग्रेजी पढ़ने के लिए अपने पिता के भाई गया बाबा के पास 1921 ई. में रायबरेली चले आए। छठी कक्षा तक उन्होंने यहीं अध्ययन किया। इसके बाद कटनी और जबलपुर पढ़ने गए, बाद में वे इविंग क्रिश्चियन कालेज इलाहाबाद से 9वीं, 10वीं और 11वीं, 12वीं तक की शिक्षा प्राप्त की। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से कला स्नातक तथा कानपुर के डीएवी कालेज से 1937 ई. में विधि स्नातक (लॉ) की डिग्री प्राप्त की। विधि स्नातक होने के पश्चात रोजी-रोटी के लिए अपने गृह जनपद बांदा आ गए और यहीं 1938 ई. में प्रैक्टिस शुरू कर दी। यहां बांदा में कवि के अनुभव में परिपक्वता और बढ़ी तथा सही और गलत पर निर्णय लेने की दृष्टि पैदा हुई। इस प्रकार कवि केदारनाथ अग्रवाल के व्यक्तित्व का विकास उनके परिवेश से निर्मित हुआ, जो उनकी कविताओं में सहज रूप से प्रकट हुआ है। केदार जी का बचपन बांदा के कमासिन गांव में बीता था। जहाँ ग्रामीण जीवन के पल पल के संघर्षों, प्राकृतिक सौंदर्य, केन नदी, खेत, फसल, किसान, मजदूर, पेड़, पल्लव, पहाड़, बरसात, ताजी मौसमी हवाएं, अहीरिन के दूध-दही को उन्होंने जाना, समझा और अनुभूति किया। इसका एक कारण

यह था कि केदारनाथ का संपर्क क्षेत्र अधिकांश ग्रामीणों की तरह केवल गांव या तहसील स्तर तक ही नहीं रहा। बल्कि उनको उस गवईं समाज के गहरे अनुभव के साथ-साथ शहरी जीवन और संघर्षों का भी द्वंद्वात्मक अनुभव मिला। घर में रसिक कविता का वातावरण तो मिला ही था। इस कारण इलाहाबाद में स्नातक करते समय उनकी रूचि कविता और साहित्य की ओर बढ़ी थी। इलाहाबाद में ही इनकी हरिवंश राय बच्चन, शमशेर बहादुर सिंह, नरेंद्र शर्मा आदि से परिचय और मित्रता हुई। परंतु इलाहाबाद में इनके कवि-कर्म का विकास उत्तर-छायावादी भोवबोध से आगे नहीं बढ़ सका था।

वास्तव में कानपुर में ही कवि में जीवन और कविता के प्रति नई दृष्टि का विकास हुआ। आप गाँव के किसानी जीवन से पहले से ही परिचित थे। इनका गाँव के सभी जाति, धर्म के स्त्री-पुरुषों के दुख दर्द से आत्मीय संबंध पहले से ही था। औद्योगिक नगरी कानपुर में वकालत की पढ़ायी करते समय मजदूर वर्ग से केदारनाथ अग्रवाल भली भाँति परिचित हुए। बालकृष्ण बलदुआ के संपर्क से नए साहित्य और क्रांतिकारी विचारों से परिचय हुआ। इसी दौरान केदारनाथ जी रोजी रोटी के लिए संघर्ष कर रहे थे, वकीली की पढ़ाई से कोई आर्थिक लाभ तो हो नहीं रहा था, अतः रोजी-रोटी की खोज के लिए लेखन को दृढ़ता से अपनाया। इसी सिलसिले में सन् 1934-35 में कवि निराला जी के संपर्क में आए। यहीं कानपुर में रामविलास शर्मा जी से भी संपर्क हुआ, जो बाद में व्यक्तिगत और वैचारिक धरातल पर कवि केदारनाथ के परम मित्र बन गए। अत: इन्हीं लोगों की वजह से वे प्रगतिशील आंदोलन से जुड़ सके। 1938 ई. से इन्हें स्पष्ट रूप से राजनीतिक चेतना का अहसास होने लगा और इनकी कवि वाली मानसिकता उस तरफ अपने आप जाने लगी। अतः आप बांदा को अपना कर्मक्षेत्र बनाया तथा वकीली के पेशे के साथ-साथ साहित्य साधना में जुट गए। रामविलास जी ने उनके बारे में कहा है- "अपने शालीन व्यक्तित्व के लिहाज से वकालत का पेशा उन्होंने गलत चुना। उनका शांत स्वभाव वकालत के अनुकूल नहीं था। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विरोधी चीजों से भी मनुष्य की प्रतिभा निखरती है।"[3] वकालत के विरोधी वातावरण में उनकी कविता की शक्ति और अधिक बलवती हुई। कोट-कचहरी के कानूनी दांव-पेंच के द्वंद्वात्मक वातावरण में उनकी संवेदनशीलता गहरी होकर अपना दायरा बढ़ाने में सफल हुई। उनका कवि स्वभाव जितना कविता में व्यक्त हुआ है, उतना ही उनके पत्रों के गद्य में भी निखरा है। उनके पत्र सहज और ओजपूर्ण हैं। धारदार तर्क की वकालत से सारा तत्व निचोड़कर उन्होंने अपने परिवेश को सचेत दृष्टि से देखा और ऐसी कविता लिखी जो आज भी मानव मन को भीतर तक छूती है। केदारनाथ की खास बात यह है कि उन्होंने कविताएं बड़ी जीवंत लिखी हैं। केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील आंदोलन के अन्य कवियों की तरह ही जितनी गहराई से अपने जनपद के जीवन की समस्याओं एवं संघर्षों से जुड़े हुए कवि हैं। उतने ही वह व्यापक भारतीय समाज की प्रकृति, संस्कृति और विकृतियों की पहचान तथा अभिव्यक्ति करने वाले कवि भी हैं। नागार्जुन तथा

त्रिलोचन की कविताओं की तरह उनकी कविताओं में भी प्रगतिशील जनपदीयता की जमीन पर अखिल भारतीयता का निर्माण हुआ है। अनहारी हरियाली की भूमिका में उन्होंने लिखा है- "कविता ने मुझे आदमी बनाया" और अपने पचहत्तर साल की उम्र में आप ने लिखा कि- 'दुख ने मुझ को जब-जब तोड़ा, मैंने अपने टूटेपन को कविता की ममता से जोड़ा, जहाँ गिरा मैं, कविताओं ने मुझे उठाया, हम दोनों ने, वहाँ प्रात का सूर्य उगाया'।

कवि केदारनाथ अग्रवाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विकास को सुविधा की दृष्टि से तीन सोपानों में बांट कर सरलता से समझा जा सकता है-

"1. प्रथम सोपान : बचपन से विधि स्नातक तक (1911 से 1935)

2. द्वितीय सोपान : अधिवक्ता से सेवानिवृत्ति तक (1938 से 1971)

3. तृतीय सोपान : सेवावकाश से मृत्यु तक (1975 से 2000) ।"[4]

प्रथम सोपान : बचपन से स्नातक तक (1911 से 1935)

भारतीय लोकमानस की संवेदना के सच्चे चितेरे कवि केदारनाथ अग्रवाल का बचपन ऐसा बीता की उनके मानस में भारतीय ग्रामीण जीवन धीरे धीरे रचता बसता गया। उनका बचपन बांदा जिले के बाबेरू तहसील के कमासीन गांव के लड़कों की तरह ही सामान्य गवईं जीवन था। गांव की जो सारी कमजोरियाँ और अच्छाइयाँ होती हैं उसे उन्होंने भी खेला, खाया, पिया और जिया। इनका परिवार गांव का एक शिक्षित और संपन्न परिवार था। घर पर कपड़े और केराने की दुकान के अतिरिक्त सौ-डेढ़-सौ जावनर रहते थे। घर में दूध-दही की कोई कमी नहीं थी, गाँव में दूध खाना-पीना शारीरिक विकास के लिए बहुत आवश्यक माना जाता है। यद्पि केदार को दूध पसंद नहीं था फिर भी इन्हें जबरजस्ती पिलाया जाता था। परिवार में भूत-प्रेत, टोना-टोटका, कर्मकाण्ड, अंधविश्वास का पूरा पसारा था। घर का माहौल गाँव के अर्ध-सामन्ती पारंपरिक हिंदू परिवार का था। घर में दादा, पिता, चाचा, नाना, नानी के होने से वह एक संपूर्ण भरपूर-परिवार था, जिसका भरपूर साथ केदार को मिला। इस प्रकार केदार का बचपन एक संपन्न, सुखी और धर्मभीरू परिवार में बीता।

इनके दादा श्री महादेवप्रसाद शहजादपुर इलाहाबाद के निवासी थे। किंतु ससुर लाल प्रभुदास के इकलौते दामाद होने के कारण, उनके कारोबर की देखरेख करते हुए घरजमाई के रूप में कमासिन में ही रह गए। इन्हीं श्री महादेव प्रसाद के पुत्र श्री हनुमान प्रसाद थे, जो केदारनाथ अग्रवाल के पिता थे। श्री हनुमानप्रसाद शुरू से रसिक प्रवृत्तियों के कला प्रेमी व्यक्ति थे। उनकी रसिकता का उदाहरण इस प्रकार है कि "श्री हनुमानप्रसाद के बचपन में मथुरा से एक रास मंडली कमासिन गाँव आई थी। उसकी रासलीला देखकर बालक हनुमानप्रसाद मण्डली

के साथ जाने के लिए मचलने लगे थे, उन्हें उस स्थिति से उबारने के लिए उनके पिता लाला महादेव प्रसाद (पोद्दार) ने स्व. पं. रमाशंकर शुक्ल (रसाल) के पिता पं. कुंजबिहारी शुक्ल की मदद से घर के सामने रामलीला का शुभारम्भ कराया, जिसमें वे खुलकर भाग लेने लगे और अपनी जिद्द छोड़ सके। रामलीला के कारण ही वह साहित्य और संगीत के संपर्क में आए। सितार व हारमोनियम वह स्वयं बजाने लगे। गाँव के शिक्षकों की संगति से वह पूरी तरह प्राचीन काव्य संस्कार से जुड़ गए। आगे चलकर उन्होंने बहुत-सी कविताएँ लिखीं। उनमें से जो कविताएं नष्ट होने से बच गईं उन्हें पिता द्वारा दिए गए नाम 'मधुरिमा' से ही केदारनाथ ने 1985 ई. में परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित कराया। जिस पर हनुमानप्रसाद जी का नाम 'प्रेमयोगी मान' छपा है।"[5]

केदारनाथ का बचपन गाँव में पर पूरी आधुनिकता और परम्परा की मिलीजुली चेतना के बीच शुरू हुआ। जहाँ अंग्रेजी और आधुनिक शिक्षा का पुनर्जागरण रूपी प्रकाश पहुँच चुका था। केदारनाथ के तीसरी कक्षा पास करते करते, इनके चाचा मुकुंदी लाल जो इलाहबाद से लॉ स्नातक की पढ़ाई कर रहे थे, वहाँ से आते समय क्रिकेट, पतंग और साइकिल आदि खेलने की चीजे लाया करते थे। इस प्रकार केदारनाथ को घर में ही आधुनिक शिक्षा और साहित्यिक का वातावरण मिला हुआ था। परंतु गाँव में होने के कारण केदार का परिवार अभिजातीय प्रभावों से मुक्त नहीं था। इसका प्रमाण यह कि जब केदार बारहवीं कक्षा में पढ़ रहे थे, तभी उनकी पत्नी पार्वती ने पहले बच्चे के रूप में एक कन्या का जन्म दे कर उन्हें पिता होने का सौभाग्य प्रदान किया। स्पष्ट है कि केदार का परिवार गांव का खाता पिता एक साधारण परिवार था। शायद यही कारण है कि केदारनाथ अग्रवाल के मानस का जो निर्माण हुआ, उसका आधार आम जनता के दैनिक जीवन का सुख-दुख है। केदार का बचपन उस गाँव के आम लड़के की तरह बीता जो निर्दुन्द खेलता है, खाता है, घुमता है, गर्मी में चुपके से दूसरों के घरों में खेलने चला जाता है। लड़कों के झुण्ड के साथ कबड्डी, गोली, गुल्लीडंडा का खेल खेलता है। पतंग उड़ाता है, घर के काम करने वाली कहारिनों के घर चला जाता है, वहाँ मट्ठा रोटी खा लेता है। केदार अखाड़े में कसरत और कुश्ती में भी भाग लेते थे, किंतु इसमें वे बहुत सफल नहीं हो पाते थे। वह गाँव के लड़कों की तरह नदी, खेत, जंगल, पक्षी, जीव-जंतु सबका चक्कर काटते थे और मजे के साथ ठहाका लगते हुए एक दूसरे से मिल बांट कर खाते और खेलते थे। केदार के घर के सामने रामलीला होती थी, जिसमें उन्हीं के आस पास के व्यक्ति मजेदार पाठ करते थे, जिसे केदार अपने अंतिम समय तक याद करते रहे थे। अत: केदार को सांस्कृतिक वातावरण के साथ साथ प्राकृतिक वातावरण भी मिला था। उनके गाँव के पास ढाक का जंगल था। अक्सर केदार लड़कों के झुण्ड के साथ हिरण के बच्चों को देखने के लिए निकल जाते थे। सियार की हुआँ-हुआँ, चिड़ियों की चहचहाहट, फसलों का लहलहाना, बारिश की भीज आदि के साथ जीवन जीने से केदार के अन्दर नैसर्गिक सौन्दर्य विकसित हुआ। इस प्रकार किसान के बेटे की तरह

केदार में भी बचपन से ही नैसर्गिक सच और भौतिक सच के प्रति लगाव का धरातल अनजाने में निर्मित होने लगा।

केदार जी जब कक्षा तीन में थे, दशहरे के अवसर पर नगर दर्शन पर दो सवैया याद करके बड़े शौक से सुनाया और दूसरे दिन गणित का हिसाब न लगा सकने के कारण अध्यापक महोदय ने सवैये सुनाने पर व्यंग्य कसते हुए धुनाई की तो कविता का शौक निकल गया। केदार की याददाश्त बहुत अच्छी नहीं थी, इस कारण वे कविता पढ़ने में बहुत अच्छे नहीं थे। केदार एक औसत दर्जे के ही विद्यार्थी रहे थे। क्योंकि हमारी शिक्षा व्यवस्था रटंत क्षमता पर आधारित है न कि मौलिक बौद्धिक क्षमता पर, इसी गलत शिक्षा के कारण, इस शिक्षा व्यवस्था से निकला हुआ अधिकारी, व्यापारी, नेता, अभिनेता, शासक और प्रशासक यहां की जनता और यहाँ की धरती को कभी दिल से प्यार नहीं करता, न ही जनता की भलाई में उसकी रूची होती है। वह केवल यहाँ के लोगों और संसाधनों का प्रयोग अपने हित में करता रहता है। इसके विपरीत केदार का मानस मौलिक बौद्धिक क्षमता के विकास द्वारा विकसित हुआ था, जिसके कारण वे कुल से ऊपर उठ कर अखिल का अंग बन गए थे। इसलिए उन्हें यहाँ की नदी, पहाड़, भाषा, संस्कृति और जन-लोक से गहरा जुड़ाव था।

स्वभाव और रूचियों के विकास का क्रम बचपन से ही आरम्भ होता है। केदारजी के मन में भेदभाव के संस्कार बचपन से ही न थे। भेदभाव के जितने भी रूप प्रकट हो सकते हैं, केदार का बालमन उसके प्रति अपने ढ़ंग से विद्रोह प्रकट करता है। घर में कपड़े की दुकान थी लेकिन पहनने के लिए मोटा कपड़ा ही मिलता था। महीन और अच्छे कपड़े की साध महीने भर बाबा से गिड़गिड़ाने पर भी कभी पूरी नहीं होती थी। दुकान और लेन देन के व्यापार से आमदनी भी खूब होती थी, लेकिन उसमें बच्चों का कोई हिस्सा नहीं होता था। हलवाई के यहाँ से बरफ़ी खाने के लिए केदार जी गल्ले में से कभी कभी दो-चार आने चुराकर मिठाई खा लेते थे। इस काम से मानो की वे बाबा जी की कंजूसी के प्रति अपना विरोध भाव व्यक्त कर रहे हों। घर में छोटे बड़े के बीच भेद भाव इस प्रकार था कि बड़ों का बाल अंग्रेजी कट में और छोटों का देशी कट में कटवाया जाता था।

गाँव के अधिकांश लोग बहुत गरीब थे। उच्च और मध्यम वर्ग के लोग बहुत कम थे। केदार गरीब बच्चों के साथ खेलते तथा उनके घर आते जाते थे, इस प्रकार वे एक-एक के घर की गरीबी से बहुत गहराई से परिचित होते रहे। इसका उनके बालमन पर ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा कि बाद में जब उनका कवि रूप प्रकट हुआ तब वह दुख-दर्द और संघर्ष, हाड़तोड़ मेहनत, खाने-पीने की समस्या, अंधविश्वास, अज्ञानता, अशिक्षा, रूढ़िवादिता, पीड़ा, सहजता, सरलता, लगाव और अपनापन आदि ने उन्हें गहराई से प्रभावित किया। शायद इसलिए अवसर मिलने के उपरांत भी केदार को अमीरी की ओढ़ी हुई ठसक की तुलना में गरीबी की सहजता, निर्मलता आदि सघनता से आकृष्ट करती रही। अतः अव्यवस्था और शोषण से मानव मुक्ति का स्वर

उनकी कविता की बाणी बन कर फूट पड़ा। केदार की कविता 'पैतृक संपत्ति' उसकी एक बानगी प्रस्तुत करती है-

जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने :
घर का मलवा, टूटी खटिया
कुछ हाथ भूमि-वह भी परती।
चमरौधे जूते का तल्ला,
छोटी, टूटी बुढ़िया औगी,
दरकी गोरसी, बहता हुक्का,
लोहे की पत्ती का चिमटा
कंचन सुमेरू का प्रतियोगी
द्वारे का पर्वत घूरे का,
बनिया के रूपयों का कर्जा
जो नहीं चुकाने पर चुकता
दीमक, गोजर, मच्छर, माटा-
ऐसे हजार सब सहवासी
बस यही नहीं, जो भूख मिली
सौ गुनी बाप से अधिक मिली
अब पेट खलाए फिरता है
चौड़ा मुंह बाए फिरता है
वह क्या जाने आज़ादी क्या ?
आज़ाद देश की बातें क्या ??[6]

केदार जी का बालमन अपने शिक्षा के दौरान कई समस्याओं को अनुभव किया जैसे रटंत विद्या पर इतना बल दिया जाता था कि बच्चों की स्वाभाविक क्षमता तिरोहित हो जाती थी। केदार शिक्षा के स्मरण पद्धति में स्वयं तमाम कोशिश करने के उपरांत भी अपने आप को सहज नहीं पाते थे। गांव के प्राथमिक विद्यालय से शहर के माध्यमिक विद्यालय तक, हर जगह डंडे के भय से शिक्षण दिया जाता था। अग्रेजी में सौ-सौ शब्दार्थ तथा अनुवाद करने को दे दिया जाता था, संस्कृत में शब्दरूप रटाया जाता था। काम पूरा न होने पर बेंत से ऐसी धुनाई होती थी कि देखने वालों की रूह कांप जाती थी। इसी प्रकार भूगोल, गणित आदि बिषय 'बिनु भय होई न प्रति' सिद्धांत के आदर्शों पर सिखाए जाते थे। इस स्मरण आधारित और भय आधारित पठन-पाठन का परिणाम यह होता था कि कमजोर विद्यार्थी विद्यालय छोड़ देना चाहते थे। उन्हें विद्यालय से ज्याद अच्छा अपने माता पिता के साथ काम करना लगता

था। स्मृति और दंड आधारित शिक्षा का मूल्यांकन स्मरण शक्ति के आधार पर होता था। बोध, मौलिकता और रचनात्मकता के लिए कोई मूल्यांकन और प्रोत्साहन नहीं था। इस शिक्षण में भावलोक की कोई जगह नहीं थी। अत: "केदार को इन कक्षाओं में आनन्द न आता, उन्हें नेचर स्टड़ी (नैसर्गिक अध्ययन) और मैनुअल ट्रेनिंग (हस्त प्रशिक्षण) की कक्षाएं बेहद प्रिय थीं. नेचर स्टड़ी की कक्षा में क्यारियां बनाते, आलू बोते, सब्जी लगाते, सिंचाई-गुड़ाई करते। उन्हें नरम-नरम मिट्टी बहुत अच्छी लगती। कॉपी पर पत्तियां चिपकान इस कोर्स का हिस्सा था जिसने वनस्पतियों से केदारजी का घनिष्ठ परिचय कराया। मैनुआल ट्रेनिंग में कागज की नाव बनाते, रंग-बिरंगे कागजों से तरह-तरह के खिलौने बनाते।"[7] इस प्रकार उन्हें व्यावहारिक काम करने में आनन्द आता। विभिन्न प्रकार के पत्ते चिपका कर हरवेरियम फाइल बनाने में उनकी रूचि थी, इसके अतिरिक्त एस.यू.पी.डब्लू के काम को बड़ी रुचि से करते थे।

केदार जी के व्यक्तित्व निर्माण और विकास में रायबरेली का महत्त्वपूर्ण योगदान है। रायबरेली में जहाँ पर केदार जी रहते थे, वहाँ पर उर्दू ज़ुबान और मुस्लिम तहज़ीब़ का बहुत प्रभाव था। ताजिया निकलते, मर्सिया पढ़े जाते, लोग रोते पीटते सड़कों पर निकलते। जिसे देख कर केदार का मन पसीज जाता। गरीबी और भुखमरी का वास्तविक चेहरा केदारजी ने वहीं देखा। वहां पर किसी लाला की कोठी पर उसके पिता की बरखी थी- शहर के भूखों को बुलाया गया था। ऐसा लग रहा था कि भूख साक्षात झुंड बनाकर वहाँ आ गई हो। लोग पुड़ी-कचौड़ी, बुनिया न केवल पेटभर के खा रहे थे, बल्कि उसे पहने हुए कपड़ों में बाँध कर ले जा रहे थे, ले जाने के लिए छीना-झपटी कर रहे थे, लोग ज़ान की परवाह किए ब़गैर टूट पड़ते थे। इसी प्रकार इनके गांव के भूखे लोगों ने इनके बाबा की दुकान से फेके हुए सड़े महुआ को पा कर उपकृत हो जाते थे और बाबा के दान का जयकार कर रहे थे। केदारनाथ अग्रवाल यहीं रायबरेली में भूख की संवेदना को गहराई से समझने लगे थे।

रायबरेली में केदार के सामाजिक ज्ञान में विस्तार हुआ। यहीं पर उन्होंने सबसे पहले सई नदी में आयी बाढ़ का दृश्य देखा। यहीं पर वे पतंगबाजी, बटेरबाजी, सर्कस और मेला आदि को देखा, यहीं उन्हें पहली बार रंडी का ज्ञान प्राप्त हुआ। यहीं पर सूरजपुर मुहल्ले के हनुमान मंदिर में पुजारी को मिठाइयाँ चुराते देखा। यहीं पर केदार जी को अपना काम स्वयं करने की आदत डालनी पड़ी, जो उनकी मृत्यु का कारण बनी। यहीं पर केदार ने पहली बार औरतों के नज़दीक हुए और उनकी चिट्ठियां लिखी। यहीं पर उन्होंने महसूस किया कि औरत अकेले ही पुरूष की जरूरत नहीं है, बल्कि औरत की भी जरूरत पुरूष है। इस समय तक केदार किशोर अवस्था में आ गए थे और दुनियां की चाल-चलन और रंग-ढ़ंग को समझने और महसूस करने लगे थे। अब उनको उनके गांव की हस्ट-पुष्ट सुनदी और ननकी पनिहारिनों को सिर पर दो-तीन पीतल के हंडे रखे, काँख में गगरा दबाए, एक हाथ में कलसी लटकाए, एक साथ लेकर

बलखाते चलता देखकर केदार जी को रीतिकालीन नारी सौंदर्य की नख-शिख भावना का साक्षात अनुभव होने लगा था।

इसी बीच केदार के पिता घर से नाराज़ हो कर कटनी मध्य प्रदेश चले आए। अतः केदार जी की छठी से आगे की शिक्षा यहीं पर हुई। यहीं पर उनके पिता का परिचय पं. मातादीन शुक्ल से हुआ जो 'माधुरी' पत्रिका से जुड़े हुए थे। साहित्यिक वातावरण मिलने के कारण केदार जी में भी लिखने का चाव हुआ और उन्होंने 'चूहे का ब्याह' और चिड़ियाँ आदि पर कविता और कहानी लिखी, जिसे 'शिशु' पत्रिका में प्रकाशन के लिए भेजा। किंतु वे शिशु पत्रिका से अप्रकाशित वापस चली आयी। परंतु केदार जी इससे निराश नहीं हुए। कटनी में एक साल रहने के बाद केदार को उनके पिता के साथ जबलपुर जाना पड़ा जहाँ उनके पिता वैद्यकी का व्यवसाय करते और रूचि के अनुसार काव्य चर्चा और काव्य रचना में भी समय देते। जबलपुर में उस समय साहित्य का अच्छा वातावरण था। यहाँ मिलौनीगंज मुहल्ले के एक बाग में पं. गंगाविष्णु पाण्डे, राजेंद्र सिंह, पं. कामता प्रसाद गुरु, पं. प्रेमनारायण त्रिपाठी, मंगला प्रसाद विश्वकर्मा आदि केदारनाथ के पिता के साथ इकट्ठे होते थे और आपस में साहित्यिक चर्चाएं होती थीं। यहीं पर केदार ने निराला द्वारा संपादित मतवाला पढ़ा। यहीं पर निराला विरोधी स्वर भी केदार ने सुना क्योंकि बड़े बुजुर्ग कवियों में ब्रजभाषा के प्रति लगाव था, उस समय कविता में ब्रजभाषा का ही बोलबाला था। खड़ी बोली हिंदी में भी रचनाएं हो रहीं थीं और निराला छंद का बंध तोड़ रहे थे। 1927 ई. में केदार जबलपुर से अपने पिताजी के साथ इलाहवाद अपने मामा के यहाँ आ गए। इलाहबाद में 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से केदार का परिचय खड़ी बोली काव्य से हुआ और यहीं उनका साहित्यिक समाज भी विकसित हुआ तथा साहित्य की विविध धाराओं से व्यक्तिगत परिचय भी बढ़ा।

इस बीच खड़ी बोली हिंदी में पंत का 'पल्लव' कविता संग्रह निकल चुका था, जिसे पढ़ने के बाद केदार को खड़ी बोली में ब्रज काव्य का आनंद मिला और केदार हमेशा के लिए खड़ी बोली को अपने काव्य भाषा के रूप में अपना लिया। इस समय केदार बालेंदु नाम से कविता लिखते थे, जो 'माधुरी' और कभी कभी 'सरस्वती' में छपती थी। 1930 में 'माधुरी' में उनकी तस्वीर के साथ कविता छपी और बाद में दो कविताएं मुख्य पृष्ठ पर भी छपीं। स्नातक तक आते आते वे नए कविओं में स्वीकार किए जाने लगे थे। इलाहाबाद विश्वविद्याल में ही पढ़ते समय नरेद्र शर्मा और शमशेर बहादुर सिंह से उनका परिचय हुआ। ये सभी कवि उनके क्लास में पढ़ते थे। उन दिनों इलाहबाद विभिन्न साहित्यिक गतिविधियों का केंद्र था। उसी समय रामकुमार वर्मा जी के घर पर मालवीय जी की उपस्थिति में केदार ने 'गुल्लाला' वाली कविता सुनाई थी।

कविता सुनाना और प्रशंसित होना केदार जी के लिए संभव था, किंतु कवि गोष्ठियों में साँसत होने के कारण वे प्रायः जाने से बचते थे। स्नातक के दोनों वर्षों में केदार जी 'हिंदी

साहित्य परिषद' के सचिव थे। उन्होंने विश्वविद्यालय की गोष्ठी कराया और मुं. प्रेमचंद और कौशिक को आमंत्रित भी किया था। इन्हीं वर्षों में शमशेर से केदार की मित्रता गाढ़ी हुई और शमशेर ने उन्हें अंग्रेजी कवियों से परिचित कराया। इस दौरान केदार की साहित्यिक व्यस्तता इतनी बढ़ गई कि वे बी.ए. में फेल हो गए। 1935 ई. में केदार ने हिंदी, अंग्रेज, दर्शनशास्त्र और अर्थशास्त्र लेकर बी.ए. पास किया। उसी वर्ष विधि स्नातक (लॉ) करने के लिए डी.ए.वी. कालेज कानपुर चले गए।

केदार जी कहते है - "इलाहाबाद में हम रहे जरूर और साहित्यिकों को देखते रहे, लेकिन हमको वहाँ सिवाय निराला के कोई विशेष रुचि किसी में नहीं थी। सिर्फ पढ़ते लिखते थे, हमको अच्छा लगता था। ..... इलाहाबाद में न हमारी प्रतिभा का कोई विकास हुआ ..... (शमशेर की) उनकी कविता सुन लेते थे। उस बखत तक हमारा डेवलपमेंट नहीं था, कविता-सवैया वाला दौर था और दूसरी पकड़ नहीं हुई थी ..... लेकिन हम अपने ढंग में लिख लिया करते थे कुछ।"[8] इस प्रकार केदार जी का जो शैक्षणिक धरातल स्नातक तक तैयार हुआ। वह संभावनाओं से उर्वर था, किंतु दिशा और रास्ते की तलाश थी। केदार जी इस समय आर्थिक तंगी, कैरिआर और वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों से संघर्ष कर रहे थे। उनके अनुभव का फलक तो विस्तृत था, किंतु उसमें जुड़ रही थी, आम आदमी की दिन-प्रतिदिन की समस्याएं और अभावों की पीड़ा। जिसके केदार किसी न किसी रूप में स्वयं भुक्त भोगी थे। इन्ही दशाओं में कवि केदार के जीवन की प्रारंभिक अवस्था की नींव पड़ी।

द्वितीय सोपान : वकालत की डीग्री से सेवानिवृत्ति तक (1938 से 1971)

केदारनाथ अग्रवाल इलाहबाद में स्नातक की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात कानून की पढ़ाई करनी चाही, इसके लिए वे कानपुर आए और यहीं पर वे जीवन की वास्तविकता से परिचित हुए। 1935 ई. में वे डी.ए.वी. कालेज कानपुर में विधि स्नातक शिक्षा हेतु प्रवेश लिया और 1938 ई. में इसे पास किया। उनके जीवन को दिशा और स्वरूप कानपुर में विधि स्नातक की पढ़ायी करते समय प्राप्त हुई। केदार जी कहते हैं- 'कानपुर में हमें जीवन देखने को मिला'। वास्तव में कानपुर में केदार जी का संपर्क कवि बालकृष्ण बलदुआ से हुआ। बलदुआ के इर्द-गिर्द प्रगतिशील विचारों और साहित्यिक संस्कारों का माहौल था। यहीं पर उनका परिचय मजदूरों के जीवन से, उनकी समस्याओं से, उनकी पीडित, दमित जिंदगी से होता है। यहीं पर मार्क्स की विचार धारा का केदार गहराई से अध्ययन करते है। केदार बलदुआ की एक अच्छे आदमी के रूप में प्रशंसा करते हैं, उनसे किताबें और अन्य मार्क्स विचार धारा से संबंधित सामग्री ले कर पढ़ते है। यहीं पर केदार ने शोषण के दुश्चक्र को समझा और जनता की निरीहता के कारणों

को समझने की दृष्टि पायी। लॉ पढ़ने के कारण वे संविधानों, विधियों, कानून की धाराओं आदि के मूल में कार्यरत प्राकृतिक सिद्धांतों को समझा, कानून और धर्म के विकास के कारणों के पीछे की ऐतिहासिक अवधारणा को समझा और उसके तत्कालिक रूपों व व्यवहारों से तुलना करके बहुत दुखी होते थे। केदार के दृष्टिकोण के विकास के विषय में अजय तिवारी लिखते हैं- "कानपुर में औद्योगिक मजदूर वर्ग से परिचय, बालकृष्ण बलदुआ के संपर्क से नये साहित्य और क्रांतिकारी विचारों का ज्ञान उनके दृश्टिकोण में ऐसा परिवर्तन लाया कि कानपुर की गंगा में उन्होंने 'देवताओं की आत्महत्या देखी'। श्रम की रचनात्मक और मुक्तिदायी भूमिका समझी तथा शोषण और जड़ता की वास्तविकता पहचानी। इससे उनके काव्य में सौंदर्य और सहानुभूति का जो उदात्त स्तर प्रकट हुआ, वह असाधारण है।"[9] इसी भावभूमि पर श्रमिक के घर में पुत्रजन्म के उल्लास का दुर्लभ चित्र केदार जैसा क्रांतिकारी ही चित्रित कर सकता है-

एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ !
हाथी सा बलवान,
जहाजी हाथों वाला और हुआ !
सूरज-सा इंसान,
तरेरी आँखोंवाला और हुआ !!
एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ!
माता रही विचारः
अँधेरा हरनेवाला और हुआ !
दादा रहे निहारः
सबेरा करनेवाला और हुआ !!
एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ ![10]

विधि स्नातक की पढ़ाई करते समय केदार बहुत परेशानी से गुजर रहे थे। वे पैसा-रुपया अपने चाचा से नहीं माँगना चाहते थे, क्योंकि उनके चाचा केदार की कविता-कर्म को पसंद नहीं करते थे। उन्होंने ट्यूशन करने की सोची। इसलिए वे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के यहाँ गए जो 'माधुरी' पत्रिका निकालते थे। उसके पहले केदारनाथ जी के दो लेख 'माधुरी' में छप चुके थे। कालेज में छायावाद के ऊपर एसेज़ कंपीटीशन हुआ था, जिसमें केदार ने भी लेख लिखा था। जिसमें केदार को पुरस्कार मिला, उस निबंध में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविता कोटेड थी। केदार का लेख 'माधुरी' अंक में पहने पृष्ठ पर छपा। इस लिए केदार उनसे मिलने गए कि कहीं ट्यूशन दिला देगें तो अच्छा होगा, थोड़ा आर्थिक राहत मिल जाएगी। परंतु जब केदार उनसे मिले और अपनी समस्या बताया तो बेचारे (नवीन) ने हँस कर कहा कि हम प्रयास करेंगे, इसके बाद वे वहाँ दुबारा नहीं गए। केदार स्वीकार करते हैं कि ज्यादा, वे बालकृष्ण

बल्दुआ के ही पास आते जाते थे। बल्दुआ जी उनकी हर प्रकार से मदद करते थे। इस प्रकार केदार का शिक्षा के लिए संघर्ष उसी प्रकार से था जिस प्रकार से गाँव के मध्यम परिवार के छात्र इलाहाबाद, कानपुर, दिल्ली आदि जगहों पर पढ़ने के लिए जाते हैं और आर्थिक तंगी से संघर्ष करते हैं। अतः केदार का अनुभव, कष्ट और जीवन, भारत के किसानों, मजदूरों, दुकान दारों, छोटे व्यापारियों अर्थात सर्वहारा के जीवन संघर्ष के समान था। इसलिए उनकी कविताएं आमजन के लिए रास्ते की तलाश करती दिखाई पड़ती हैं।

कानपुर में ही निराला से केदार का संबंध बना, निराला एक कवि सम्मेलन में भाग लेने गए थे और केदार के ही रूम पर रुके थे। केदार पहले से ही निराला की कविताओं से प्रभावित थे और उनसे मिलने के बाद उनके निराले पन से भी प्रभावित हुए। किंतु केदार जब पहली बार अपने दो मित्रों के साथ निराला से मिलने कानपुर से लखनऊ गए तो निराल के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए। क्योंकि उन्होंने देखा इन लोगों को होटल में खाना खिलाने का आदेश दे कर निराल खुद पानी और झाड़ू ले कर अपने आवास की सफाई में जुट गए थे, ताकि केदार और उनके मित्रों को साफ-सुथरा स्थान लगे। अतः निराला की योग्यता और जीवन की सच्चाई ने दूसरे सच्चे हृदय को हमेशा के लिए अपना मुरीद बना लिया।

सन् 1938 ई. में केदार वकालत पास कर बांदा आए। अपने संयुक्त परिवार के मुखिया और बांदा के सुप्रसिद्ध वकील मुकंदीलालजी के साथ वकालत शुरू की। उस समय यदि उनके पास पाँच सौ रुपये होते तो वे आवश्यक राशि जमा करके तभी 'एडोकेट' बन गए होते पर मात्र पच्चीस रुपए जमा कर प्लीडर ही बन सके। स्वाभिमान के कारण चाचा से रुपए माँगे नहीं और उन्होंने स्वयं दिए नहीं। चाचा का अनुशासन परिवार में कठोर था और कविता से उन्हें बहुत चिढ़ थी। परिणाम यह हुआ कि केदार जी एक ओर रात में कविता लिखने लगे और दूसरी ओर नियमित रूप से केन नदी की सैर करने लगे। केदार स्वभाव से शर्मीले थे ही और अंतर्मुखी हो गए। केन उन्हें आत्मीयता, राहत और उन्मुक्तता देती। वह उनकी सखी बनती गई, उनकी संवेदनाएं केन से जुड़कर कविता में ढलने लगी। प्रकृति के साहचर्य से केदार जी में एक नया उत्कर्ष आया। चाचा की भूमिका नकरात्मक ढंग से केदार के लिए लाभप्रद रही, किंतु उनके दबदबे को केदार का स्वाभिमान कभी भी स्वीकार न सका और स्वतंत्रता के लिए विद्रोह करता रहा। इसलिए 1950 ई. के लगभग जब मुकंदीलाल बैरिस्टर के रूप में इलाहाबाद चले गए, तब केदार ने स्वतंत्रता महसूस की। उनके चाचा कभी कभार मुकदमों को देखने के लिए बांदा भी आते रहते थे। मुक्ति की वह अनुभूति केदार की कविता में इस प्रकार प्रकट हुई है-

छाँह की छतुरी फटी

आलोक बरसा ।

अब मिला जिसके लिए

मैं नित्य तरसा।[11]

अदालत में केदार को जीवन के कटु सत्य से और आदमी के स्वभाव के अच्छे-बुरे पक्षों के रंगरेशे से परिचित होने का अवसर मिला। अदालत के अनुभवों ने केदार की रचना को बहुत गहराई से प्रभावित किया। केदार कहते हैं- देश भक्ति क्या है? जमीन की मानसिकता यदि आप में नहीं है, आपको अपने गाँव की नदी, लोग, जमीन, पेड़-पौधे, अपने घर की लड़कियाँ, लड़के, भाषा, आदि प्यारे नहीं हैं, तो आप वहाँ सुधार क्यों करेंगे? स्पष्ट है इंडिया के लोगों को केदार देश भक्त मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका संस्कृति-असंस्कृति का नारा जमीन से जुड़ा नहीं है अर्थात लोक की भलाई के लिए नहीं है। केदार द्वार उठाई गई सच्चाई को आज चारो तरफ देखा जा सकता है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो भ्रष्टाचार में संलिप्त न हो। केदार अदालती उदाहरण देते हैं- "अरे हम तो कचहरी में लड़ जाते हैं, ... देहात का आता है, बिचारा कह नहीं पाता, पढ़ा-लिखा है नहीं, : घटना है, डकैती पड़ी है या कतल हो गया है, घटनाएँ तमाम हैं। अब उसका वो वर्णन नहीं कर पाता। क्यों भाई, 'फिर क्या हुआ, फिर क्या हुआ', बार बार पूछते हैं उसी से। 'का बाबूजी (केदार)?' 'अब इसके बाद का भा?' (भया या हुआ) तब फिर कहेगा। अब इतने में जज झल्लाता था; 'क्या कहता है, चूतिया नहीं तो, घंटा भर समय बरबाद करता है।' एक दफे मैंने सुना। दूसरे दफे जब उन्होंने फिर कहा एक दिन, तो मैंने कहा कि 'माफ कीजिए, आप को ये अधिकार नहीं है कि जब-तब आप इसको इस तरह से गाली दें! आपको जो भी है, हम हैं और आप हैं, इसके न जबान है, न पढ़ा-लिखा है, कह नहीं पाता। आप धैर्य से सुनिए। यह नहीं होगा मेरे रहते; मैं यह नहीं होने दूँगा'। कहैं (जज), नहीं, आप कैसे कहते हैं, और हमको अधिकार है।' तो मैं दूसरे दिन आ कर यहाँ से रूलिंग, इलाहाबाद हाईकोर्ट से लाया और उनको दिखाया कि कैसे जज को बिहैव करना चाहिए ! और ..... जस्टिस बेग की रूलिंग आ गई थी, एच.जी. वेल्स को उसने कोट किया था कि कैसे आदमी नहीं कह पाता। मैंने पढ़ के सुनाया सारा, तब साले शांत हुए। आदमी को आदमी नहीं समझते थे। पहला काम यही है कि आप आदमी को आदमी समझिए।"[12]

इस प्रकार केदार के मानस को समझा जा सकता है। देश भक्त वह है, जो देश के लोगों से प्यार करता है, उसे आगे बढ़ता है, केदार सच्चे देश भक्त हैं, लोक की भावना को समझते है, आम आदमी को ऊपर लाने के लिए दमभर कोशिश करते हैं। वह जज जरूर डिग्री और दिमाग में तेज इंडियन था, किंतु उस जैसों से इस देश का उत्थान नहीं हो सकता, क्योंकि वह यहाँ कि जनता को केवल नोचना जानता है, प्यार करना नहीं। दुर्भाग्य है, आज देश के शासन और प्रशासन में ऐसे ही इंटेलिजेंट लोग भरे हुए हैं।

जहां केदार एक ओर वकालत के पेशे से जुड़े रहे थे, वहीं दूसरी ओर साहित्य साधना में भी से लगे रहे। सन् 1938 ई. में पंतजी की 'रूपाभ' पत्रिका में केदार की कविता 'स्टैच्यू' छपी, रूपाभ में ही उनकी दूसरी कविता 'बसंती हवा' भी छपी। इस दौरान निकलने वाली पत्रिकाओं 'उच्छृंखल', 'हंस', 'नया साहित्य', 'नया पथ' तथा 'जनयुग' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेखों और कविताओं का प्रकाशन होता रहा। काँग्रेस के बदलते चरित्र को दिखाने के लिए डॉ रामविलास के कहने पर केदार ने हंस के विशेषांक के लिए एक कविता 'कामधेनु सी काँग्रेस अब सुरसा जैसे मुँह बाए है'- नामक शीर्षक से लिखी थी। जो काँग्रेस के बदलते हुए जन विरोधी दमनात्मक चरित्र पर चोट करती है।

"कविता में तो केदार जी खुब चमक रहे थे, लेकिन वकालत में जम नहीं पा रहे थे अतः उन पर परिवारिक दबाव बढ़ रहा था। जिसकी वजह से वे बहुत परेशान थे। जिसकी चर्चा उन्होंने अपने पत्र में रामविलास जी से किया है। ऐसे उदासी के क्षणों से उबरने के लिए उन्होंने बाबू वृंदावनलाल वर्मा के यहाँ जाने कि सलाह दी, किंतु केदार पलायनवादी नहीं थे, जो समस्याओं से भाग जाएं। केदार खुद संघर्ष कर परिस्थितियों पर विजय हासिल किए, वकालत और साहित्य में ख्याति अर्जित किए। उनकी सफलता और प्रतिष्ठा का उदाहरण यही है कि सन् 1963 ई. में वे सरकारी वकील बना दिए गए और 4 जुलाई, 1970 ई. तक इस पद पर कार्यरत रहे। केदार सरकारी वकील तो बन गए पर उसके प्रचलित अभिजात्य को ओढ़ने में उनका लोक-प्रेम विद्रोह कर गया। उनकी दिन-चर्या वैसी रही जैसे पहले थी। क्लबों, सोसायटियों में जाने, आधिकारियों, जजों की जी हजूरी और दरबारगिरी के विपरीत, नीलम मेडिकल स्टोर पर जा कर बैठना, चाय पीना, गप्प लड़ाना बदस्तूर जारी रहा। सरकारी वकील होने का मतलब होता है- कोठी, कार, धन-दौलत और रुतबे में इज़ाफा; पर केदार जैसे फटेहाल पहले थे वैसे तब भी रहे। लेकिन जनता, अधिकारियों और जजों में उनकी ईमानदारी के कारण उनके मान-सम्मान और रुतबे में इज़ाफा हुआ।"[13]

वकालत शुरू करने के तीन-चार साल बाद केदार जी बीमार हुए और चिकित्सा के लिए लखनऊ गए। वहीं पर निराला और रामविलास भी थे। केदार जी वहीं पर रामविलास के साथ रहे, मार्क्सवाद के वैज्ञानिक जीवन दर्शन और कविताओं पर खूब बहस किए। वहीं पर उनकी मित्रता गिरिजा कुमार माथुर, अमृतलाल नागर आदि से हुई। यहीं पर केदार ने रामविलास जी के हाथ की बनी हथपोई रोटी खाई। जिसकी मिठास कवि के हृदय पर अंकित हुई और कविता में व्यक्त हो कर अमर हो गई -

स्वादी संसारियों को मेरी कविताएँ, दोस्त !

वैसे ही रूचेगीं जैसे

रोटी हथपोई मुझे

परवर के सूखे साग

कड़ुए मिर्चे के साथ

खूब रूचीं

तुमने जो बनाई थीं।[14]

स्वास्थ्य लाभ करने के बाद केदार लखनऊ से बांदा आए और फिर बांदा में ही रहे। कभी कभार अपने मित्रों के यहाँ जाते थे। किंतु डॉ. रामविलास जी के पास आगरा कई बार गए, उनकी पत्नी के बनाए गरम पराठे, सीझी खीर की सोंधी-सोंधी सुगंध अक्सर उनकी बातचीत में आती रही है। केदार कविता लिखने के साथ-साथ कवि सम्मेल भी कराया करते थे। उन्होंने श्री वीरेश्वर सिंह के साथ मिलकर 'साहित्य परिषद' की स्थापना की, जिसके माध्यम से वे राहुल सांकृत्यायन और उनके तत्कालीन सचिव नागार्जुन से जुड़े। जिला प्रशासन के अनुरोध पर उन्होंने कई साहित्यिक सम्मेलन और गोष्ठियाँ कीं, जिसमें दो-तीन बार निराला जी भी आए थे। सन् 1970 ई. में सरकारी वकील से सेवामुक्त होने के बाद वे एक बार फिर साहित्यिक गतिविधियों में जोर-शोर से लग गए। किंतु सेवावकाश से पूर्व उनके निम्नलिखित कविता संग्रह – 'युग की गंगा'- (1947), 'नींद के बादल'- (1947), 'लोक और आलोक'- (1957), 'फूल नहीं रंग बोलते हैं'- (1965) और 'आग का आइना'- (1970) तथा अनुवाद--- 'देश-देश की कविताएँ'- (1970) और निबंध संग्रह–'समय समय पर'- (1970) प्रकाशित हो चुके थे।

तृतीय सोपान : सेवावकाश से मृत्यु पर्यन्त (1971 से 2000)

प्रगतिशील काव्यधारा में चोटी पर स्थान बना चुके कवि केदारनाथ अग्रवाल 4 जुलाई, 1970 ई. को सरकारी वकील के पद से सेवा-निवृत्त हुए। तत्पश्चात वे वकालत की तरफ देखे भी नहीं, पूरी तरह कविता और साहित्य की साधना में समर्पित हो गए। सन् 1973 ई. में केदार जी ने एक बड़े जमावड़े के साथ बांदा में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक' सम्मेलन का आयोजन किया। यद्यपि केदार इसके पहले अनेक क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर के सांस्कृतिक कार्यक्रम सफलता पूर्वक करवा चुके थे। लेकिन 1973 के 'प्रलेस' सम्मेलन से केदार जी को विश्व-विश्रुत मिली। इस सम्मेलन में महादेवी वर्मा, निराला, पंत, नागार्जुन, नीरज, भवानी प्रसाद मिश्र आदि नामी-गिरामी हस्तियों ने भाग लिया था। इस सम्मेलन की दिल्ली से लेकर बांदा तक खूब चर्चा हुई। इस प्रगतिशील साहित्यिक सम्मेलन के आयोजन में बेबस विधान सभा के तत्कालीन सीपीआई विधायक देव कुमार यादव ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

केदार मंच पर अपनी कविता प्रस्तुत करने से बचते थे। केदार को इस बात का आभास था कि उनकी कविता मंचीय कविता नहीं है, केदारनाथ अग्रवाल इन आयोजनों को परंपरागत ढंग से न चलाकर जनवादी अनुशासनों से चलाते रहे। आने वाले कवियों को यथोचित मानदेय, भोजन एवं ठहराने के अतिरिक्त पेय आदि की व्यवस्था उन्होंने कभी नहीं की। यदि कभी किसी कवि ने उनसे इसकी मांग कर ली तो दुबारा वह कभी नहीं बुलाया गया। इसलिए इसकी मांग का इनसे कोई साहस नहीं करता था। वे "मार्ग व्यय पहले से निश्चित करके, उस पर कवि की स्वीकृति आ जाने पर ही कवि को आमंत्रित करते थे, यदि कोई कवि स्वीकृति देने के बाद आयोजन में नहीं आता था तो दुबारा उसे फिर नहीं बुलाया जाता था। कुछ कवियों के पत्रों की बानगी यहाँ पर दे रहा हूँ। भवानी प्रसाद मिश्र के पत्र की बानगी देखिए "प्रिय भाई! २७/१ को निस्संदेह बांदा पहुँच जाऊँगा। यह तिथि बिल्कुल ठीक है मुझे याद नहीं है पिछले वर्ष आपने क्या दिया था, स्नेह ही याद है और उस मामले में मैं कुछ नहीं कहूँगा, आप वहाँ की परिस्थितियों में जो अधिक-अधिक ठीक समझे सो करें। विनीत-भवानी प्रसाद मिश्र 13-01-1961, 56 सुन्दर नगर, नई दिल्ली।"[15] इससे पता चलता है कि केदार अपनी विचार से बहुत गहराई से जुड़े हैं।

केदार इस समय तक जनवादी कवि के रूप में विश्व प्रसिद्ध हो चुके थे। उनकी कविताओं का रूसी, जर्मन, चेक तथा अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका था। सन् 1973 ई. में उनके काव्य संकलन 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' को उसके प्रगतिवादी, जनवादी, मार्क्सवादी चेतना और समूचे विश्व के करोड़ों-करोड़ जनता की वाणी के पहचान के रूप में 'सोवियत लैंड नेहरू' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। जिसके अंतर्गत सन् 1974 ई. में केदार रूस की यात्रा पर गए। केदार को पूरा रूस देश गुलाबों का देश लागा। वहाँ उन्होंने चारों ओर खुशहाली, हरियाली और मानव सेवा के प्रति लगन की भावना देखी। वहाँ से लौटकर एक संस्मरणात्मक यात्रा वृत्तांत 'बस्ती खिले गुलाबों की' लिखा, जो 1975 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके बाद केदार जी कविता लेखन में और सक्रिय हो गए।

25 अप्रैल, 1977 ई. में केदार के पिता का उनके गाँव कमासिन में निधन हो गया। जिसके कारण वे पूरी तरह से अकेले हो गए। सन् 1981 ई. में उन्हें उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान ने उनकी सेवाओं के लिए पंद्रह हजार रुपए की अभिनन्दन-प्रतीक-राशि पुरस्कार स्वरूप भेंट कर स्वयं को गौरवान्वित किया। 11,12,13 सितंबर, 1981 में मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ की भोपाल इकाई ने त्रिदिवसीय "महत्त्व केदारनाथ अग्रवाल" नाम से कार्यशाला आयोजित किया जिसमें कवि का सम्मान और सर्वपक्षीय मूल्यांकन किया गया।

केदार की धर्मपत्नी श्रीमती पार्वती देवी उम्र ढलने के कारण अस्वस्थ रहने लगीं थीं। उन्हें पार्किंसन की बीमारी थी। केदार स्वयं उनकी देख-रेख करते थे, अपनी प्रियंबदा की सुश्रुषा ऐसा करते थे कि वे सदैव सद्यः स्नात दिखाई देती थीं। किंतु 1985 ई. के सितंबर महीने के

सप्ताहांत में कुर्सी से गिर जाने के कारण उनके बायें पैर के कुल्हे की हड्डी टूट गई। कुछ दिनों तक बांदा में इलाज चला किंतु कोई स्वास्थ्य लाभ न होते देख उनके बच्चों को सूचना दी गई। बेटे अशोक कुमार माँ को चेन्नई ले गए और 9 नवंबर को उन्हें विजय नर्सिंह होम में भर्ती कराया। वहीं चेन्नई से 10 दिसम्बर, 1985 को केदार अपने प्रिय मित्र डॉ रामविलास शर्मा को पत्र लिखा कि- "संकट गहरा रहा है, वह बच नहीं सकतीं।"[16] 26 दिसम्बर, 1985 को अपने मित्र रामविलास को काव्यात्मक संदेश भेजते हैं कि - "मौन पड़ी हैं प्रिया प्रियंवद / बिना बोल का मुँह खोले / प्यार पुलक की आँखें मींचे / दुख में डूबी साँसे लेतीं / पास खड़ा मैं / कविताओं का घेरा डाले / महाकाल को रोक रहा हूँ / यहाँ न आए, उनका जीवन जय पाए।"[17]

7 जनवरी, 1986 को केदार ने डॉ. शर्मा को फिर लिखा कि- "कभी कभी धैर्य टूटने लगता है। फिर जल्दी जल्दी अपनी चेतना पाने की कोशिश करता हूँ, और स्वयं जीते हुए अपनी प्रिया प्रियंवद को जिलाए रखता हूँ। उनकी देह तो नहीं रहेगी, पर चेतना में वह हमेशा जिएँगी। यही लड़ाई लड़ रहा हूँ। मैं इस लड़ाई में मौत की हार ही देखता हूं।"[18]

किंतु कविताओं का घेरा उनके पत्नी के पार्थिव शरीर को बचा नहीं पाया। 28 जनवरी, 1986 को सायं 6.15 बजे प्रिया-प्रियंवद का निधन हो गया। पत्नी पार्वती देवी का निधन केदार को बहुत गहराई से हिला दिया। 4 मार्च, 1986 के पत्र में केदार लिखते हैं- "प्रिया-प्रियंवद पार्वती तो प्रेम योगिनी थीं। उनकी मूर्ति बराबर सामने आती है। वह मरी नहीं। उनका चेतन रूप मेरे दिल में है। काव्य बन गई हैं। 1988 ई. में प्रकाशित उनका काव्य संकलन- 'आत्मगंध' जिसे केदार ने 'दीर्घायु की कविताएं' कहा है, इसी चेतना का दस्तावेज है।"[19]

अप्रैल में, उनका 75वां जन्म दिवस परिमल प्रकाशन की ओर से बड़े धूम-धाम से मनाया जानेवाला था। क्योंकि उस वर्ष जहां प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन 50 वर्ष का हो रहा था, तो वहीं परिमल प्रकाशन ने सफलता पूर्वक अपने प्रकाशन का 25 वर्ष पूरा कर रहा था। किंतु केदार जी अपनी अर्धांगिनी के दिवंगत होने से बहुत दुखी थे। अतः उनकी स्थिति देख कर उसे टाल दिया गया। जब उनकी मानसिक दशा थोड़ी सामान्य हुई तो उनकी सहमति से यह आयोजन 20-21 सितम्बर, 1986 को डी.ए.वी. इंटर कॉलेज बांदा में रखा गया। इस भव्य समारोह को 'सम्मान केदारनाथ अग्रवाल' का नाम दिया गया। इस समारोह में देश भर के कवि-लेखक अपनी विचार धारा से ऊपर उठ कर, अपने खर्चे से बांदा पधारे। स्वयं डॉ. रामविलास शर्मा और दिल्ली के कुछ साहित्यकारों ने भाग ले कर इस आयोजन की सफलता के मानक स्थापित किए। इस समारोह में डॉ. रामविलास शर्मा ने 'केदारनाथ अग्रवाल की राजनीतिक कविताएं' शीर्षक से अपना लेख पढ़ा तथा केदार जी की कविता जिंदगी' (देश की छाती दरकते देखता हूँ) का सस्वर वाचन किया। केदार के प्रिय मित्र रामविलास शर्मा इस अवसर पर आठ दिन उनके साथ रहे जो अपने आप में एक महत्व की बात है। इस अवसर विशेष पर 'प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल' नामक डॉ. रामाविलास शर्मा की पुस्तक के साथ-साथ चार

अन्य पुस्तकों का भी विमोचन हुआ। इस आयोजन की 30-30 मिनट की सात कड़ियां लखनऊ दूरदर्शन से प्रसारित की गई थीं। कवि केदार के जीवन पर आधारित यह एक ऐतिहासिक आयोजन था। इस समारोह के दबाव में साहित्य अकादमी ने उनके काव्य संग्रह 'अपूर्वा' को 1986 का 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार प्रदान कर उन्हें सम्मानित किया तथा अपनी साख बचाई। इस आयोजन के बाद केदार अपनी पत्नी के निधन के दुख से थोड़ा उबर सके और बांदा के बाहर कुछ आयोजनों में सम्मिलित भी हुए थे।

वे 19 नवंबर, 1986 को इलाहाबाद विश्वविद्याल द्वारा आयोजित निराला व्याख्यान माला के अंतर्गत 'छायावादोत्तर हिंदी काव्य परिदृश्य' पर व्याख्यान दिए। मई 1987 में लखनऊ जा कर 'प्रयोजन' पत्रिका का उद्घाटन किया। जून 1987 में मद्रास गए। नवंबर में 'बच्चन' के जन्मदिन समारोह में भाग लेने दिल्ली गए। फरवरी में पुनः मद्रास गए, और वहाँ से मार्च में ऊटी भी गए। 26 अक्टूबर, 1991 को केदारनाथ जी का अस्सीवां जन्म दिन इलाहाबाद के हिन्दुस्तान ऐकेडमी में परिमल प्रकाशन ने मनाया। इस अवसर पर 'मित्र संवाद' का लोकार्पण किया गया। 'मित्र संवाद' केदारनाथ अग्रवाल और रामविलास शर्मा के पत्रों का अनूठा संग्रह है जिसका सम्पादन डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. अशोक त्रिपाठी ने किया है।

पच्चीस और छब्बीस नवंबर, 1991 की रात में केदारनाथ जी के घर में चोरी हो गयी थी। जिसमें दस हजार रुपया और सोवियत लैण्ड पुरस्कार का मैडल चोरी हो गया। 15 फरवरी, 1992 में केदार जी ने भोपाल "मैथिलीशरण गुप्त" सम्मान लेने गए और फिर वहीं से मद्रास चले गए। 22 दिसम्बर, 1996 को झाँसी गए और झाँसी विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें डी.लिट. की मानक उपाधि से सम्मानित किया गया। इसके बाद केदार जी बाहर कहीं नहीं गए, बाँदा में ही रहे।

केदारजी को कई पुरस्कार और सम्मान मिले हैं, जिन्हें केदार जी ने विनम्रता के साथ स्वीकार किया है। किंतु केदार के लिए इन पुरस्कारों का कोई महत्व नहीं है, बल्कि इन पुरस्कारों का महत्व केदार को दिए जाने से बढ़ जाता है। उनके लिए सबसे बड़ा पुरस्कार है, लोगों के दिलों में जगह बनाना, लोगों का उनके प्रति स्नेह और प्यार। यह जनता का वही स्नेह और प्यार है, जो कबीर, तुलसी, सूर, नानक, मीरा, निराला, टैगोर और नजरूल इस्लाम को मिला हुआ है। जिनके गीत खुशी और हँसी, दुख और विषाद के समय हृदय से ओठों पर फूट पड़ते हैं। आजादी की एक उड़ान भर दिल में हौसला बढ़ाते हैं। यहाँ केदार शब्द ही स्वतंत्रता और निर्मलता बन लोक जगत में गूँज रहा है।

सरसों के खेत में
केदार
खोज रहे हैं ताज़गी
और गा रहे हैं 'मेरा मन डोलता

कि तेरा तन डोलता।' [20]

पत्नी के मृत्यु के आघात से केदार जैसे ही संभल रहे थे कि उन पर एक वज्रपात हुआ। उनके परम स्नेही मित्र डॉ रामविलास शर्मा का 30 मई, 2000 को देहावसान हो गया। यह खबर केदार जी की लिए किसी हृदय घात से कम नहीं थी। शारीरिक रूप से वे कमजोर हो ही चुके थे, किंतु मित्र की मृत्यु की घटना उन्हें मानसिक रूप से भी तोड़ दिया। अब मन की बात वे किससे कहेंगे और अब उनको कौन धीरज धराएगा। मित्र शर्मा के निधन के समय केदार की उम्र लगभग 90 शाल की हो रही थी। प्रिय पत्नी हे मेरी तुम प्रियंवदा पार्वती, प्रिय मित्र रामविलास शर्मा और मन बोध सखा नागार्जुन के पंचभूत में मिल जाने से केदार बहुत मानसिक धरातल पर अकेले हो गए थे। घर में भी वे अकेले रहते थे। भतीजे भोजन और आवश्यक वस्तुओं का तो प्रबंध कर देते थे, लेकिन मन के भाव को समझ कर सांत्वना देने वाला कोई नहीं रह गया था।

केदार की बचपन से आदत थी कि वे अपना काम स्वयं करते थे। इसी आदत से मजबूर हो कर एक दिन रात के अंधेरे में लड़खड़ा कर गिर पड़े। जिससे उनके जांघ की हड्डी टूट गई। रात भर यातना झेलते रहे। सुबह होने पर उनके भतीजों ने डाक्टर को दिखाया। इलाज चलता रहा, कोई लाभ नहीं हुआ। अंत में 22 जून, 2000 ई. को वे अपने परम स्नेही मित्र डॉ. रामविलास शर्मा से मात्र 22 दिन पश्चात महाप्रयाण कर गए। वे जीवन पर्यंत काव्य रचते रहे, निधन से कुछ माह पहले आकाशवाणी इलाहाबाद की एक औपचारिक भेंट में कविता लिखने के बारे में उन्होंने कहा था कि 'कविता मेरे द्वारा तबतक लिखी जाती रहेगी जबतक मौत इसे रोक न दे।'

केदार के दिवंगत होने पर विभिन्न राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संप्रेषण माध्यमों ने विभिन्न प्रकार से अपनी अपनी श्रद्धांजलियां दीं। राष्ट्रीय दूरदर्शन दिल्ली ने अपनी श्रद्धांजलि में लिखता है- 'शोषितों की आवाज कवि केदार का स्वर थमा।' जिसमें कवि के काव्य की मुख्य संवेदना कि विशेषता प्रकट होती है। बीबीसी हिंदी सेवा लंदन अपनी संवेदना प्रकट करते हुए कहता है कि 'केन का कवि केदार पंचतत्व में विलीन।' समाचार पत्र जनसत्ता नई दिल्ली अपने मुख्य पृष्ठ पर शीर्षक लिखता है- 'जनकवि केदार का निधन हिंदी साहित्य की अपूर्णनीय क्षति।' मृत्यु तो अटल सत्य है। परंतु 'काल पर जीवन की जयघोष' करने वाले कवि केदारनाथ अग्रवाल का जीवन एक खुली किताब की तरह है। उनके जीवन का प्रतिक्षण स्वयं उसे प्रतिबिंबित करता है। जीवन-जगत में व्याप्त प्रतिरोधों के बावजूद कवि ने अपनी ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवादी वैज्ञानिक विचार की दृष्टि से संसार को देखा, जीवन जिया और रचनात्मक संदेश दिया। इसी कारण उनका पूरा जीवन बनावटीपन से अलग सामान्य, सरल और सहज था। वे पूरे जीवनभर शाश्वत मूल्यों और प्राकृतिक सिद्धांतों का अनुपालन कर सदा ऊर्जावान बने रहे। उनके इन्हीं गुणों के कारण पूरे बांदावासी उन्हे 'बाबूजी' कह कर संबोधित

करते थे। 'बाबूजी' शब्द का बहुत बड़ा गुणार्थ है। जनता यह आदरणीय विशेषण केवल उन महापुरुषों को देती है, जिसे वह पिता तुल्य समझती है। जिससे स्पष्ट होता है कि कवि केदार लोक-जन और लोक-संवेदना के अंतस्तल के साहित्यकार थे। वास्तव में केदारनाथ अग्रवाल हिंदी साहित्य के ऐसे रचनाकार थे, जिन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से सामाजिक विद्रूपताओं, विसंगतियों को मिटाने का भरसक प्रयास किया है। समाज में समता और बंधुत्व का भाव जागृत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनकी सेवाओं से हिंदी-साहित्य-जगत चिरकाल तक लाभान्वित होता रहेगा।

केदार के संपूर्ण वाङ्मय पर काम करने वाले और 'संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल' के लेखक डॉ. अशोक त्रिपाठी के शब्दों में "केदार तो चले गए पर उनका रचना संसार आज भी हमारे लिए प्रेरणा का, संघर्ष का, प्रेम का, मनुष्यता का, अन्याय के प्रति प्रतिरोध का अजस्र श्रोत है और आगे आने वाली सदियों तक बना रहेगा। वह अपनी रचनाओं में सदैव जीवित रहेंगे-मौत को मारते हुए।"[21] केदार जी के जीवन के अंतिम वर्षों से ही 'मृत्यु पर जीवन के जय की घोषणा' को चिर-सजीव बनाए रखने के लिए सन् 1996 में 'केदार सम्मान' नामक पुरस्कार की स्थापना की गई। जिसकी देख-रेख 'केदार शोध पीठ न्यास' बांदा द्वारा की जाती है। यह सम्मान प्रतिवर्ष ऐसी प्रतिभाओं को दिया जाता है जिन्होंने हिंदी साहित्य में केदार की काव्यधार को अपनी रचनाशीलता द्वारा आगे बढ़ाने में कोई अवदान दिया हो। 'केदार शोध पीठ' के संप्रति अध्यक्ष उनके सुपुत्र अशोक अग्रवाल और सचिव श्री नरेंद्र पुण्डरीक हैं।

रचना संसार

हिंदी जगत में केदारनाथ अग्रवाल का पदार्पण विद्वानों ने लगभग सन् 1927-28 ई. से माना है। जब उनकी रची हुई पहली कविता पं. माखनलाल चतुर्वेदी की 'सेवा' पत्रिका में छपी। उस समय उनकी उम्र 16 साल थी और वे महज 9वीं कक्षा में पढ़ रहे थे। उन्हें साहित्यिक संस्कार घर से घुट्टी में मिला था। उनके पिता साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्ति थे और ब्रजभाषा में स्वयं रचना किया करते थे। उस दौर में कविता की भाषा ब्रज हुआ करती थी और कविता के क्षेत्र में ब्रज का बोल बाला था। जिस कारण से केदार भी शुरूआती कविताएं ब्रजभाषा में लिखा करते थे। किंतु 'सरस्वती' पत्रिका के प्रयासों के फलस्वरूप युवा लेखकों ने खड़ी हिंदी को अपने काव्य की भाषा बनाया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की प्रथम खड़ी बोली हिंदी की काव्य रचना 'प्रिय प्रवास' तथा राष्ट्रकवि मैथिलिशरण गुप्ता की काव्य रचनाएं 'भारत भारती' और 'साकेत' ने गद्य की तरह पद्य में भी खड़ी बोली हिंदी को शीर्ष स्थान पर स्थापित कर दिया। केदारनाथ अग्रवाल पर इस आंदोलन का प्रभाव पड़ा तथा उन्हें ब्रजभाषा काव्य के समान ही खड़ी बोली काव्य में आनंद प्राप्त हुआ। अतः उन्होंने अपनी कविता के लिए खड़ी बोली हिंदी को अपनाया।

प्रारंभिक दौर में केदार भी भाववादी और रसवादी रचनाएं किया करते थे। किंतु कानपुर में वे मार्क्सवाद से प्रभावित हुए तथा प्रगतिशील विचार धारा को अपनी रचनाओं का आधार बनाया। वे कालांतर में अपनी रचनाओं से हिंदी साहित्य की प्रगतिशील धारा को समृद्ध किया। केदार बहुमुखी प्रतिभा के धनी रचनाकार थे। उन्होंने काव्य तथा गद्य में कुल 29 रचनाएं दे कर हिंदी जगत को समृद्ध किया। उनकी कुल रचनाओं में से 21 काव्य संग्रह के रूप में प्रकाशित हुए हैं तथा अन्य 8 कृतियां साहित्य की विविध विधाओं को सुशोभित करती हैं। किंतु आरंभिक तीन काव्य संग्रह 'युग की गंगा', 'नींद के बादल' तथा 'लोक और आलोक' उपलब्ध नहीं हैं। इन तीनों काव्य संग्रहों के अतिरिक्त संप्रति 18 काव्य संग्रह उपलब्ध हैं।

काव्य संग्रह

1. युग की गंगा

प्रस्तुत काव्य संग्रह कवि केदारनाथ अग्रवाल का पहला प्रकाशित काव्य संग्रह है। इसका प्रकाशन मार्च, 1947 ई. में हिंदी ज्ञान मंदिर लि. मुंबई द्वारा किया गया था। इसमें कुल 52 कविताएँ संकलित हैं। इस काव्य संग्रह की एक कविता 'युग की गंगा' के आधार पर इस काव्य संग्रह का नामकरण किया गया है। इस काव्य संग्रह की कविताओं से पता चलता है कि कवि की दृष्टि यथार्थवादी है परंतु वह साम्यवादी विचारों से प्रभावित है। कुछ कविताएं 'चन्द्रगहना

से लौटती बेर', 'बसंती हवा', 'सावन का दृश्य, 'चांद-चांदनी' और 'बसंत' आदि कविताएं रोमानी रंग के प्राकृतिक चित्रण हैं। किंतु अधिकांश कविताओं में प्रकृति सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक विषमताओं को प्रकट करने हेतु उपकरण के रूप में प्रकट हुई हैं।

मानव जीवन की विद्रूपताओं और पीड़ाओं से भरी जिन्दगी की छाया बड़ी विषाक्त, चोटिली और व्यंग्यात्मक रूप से काव्य में फैली हुई है। कवि समाज के सड़े-गले व्यवस्था रूपी कपड़े में पैबंद लगाने के लिए तैयार नहीं है बल्कि वह लाल क्रांति के सहारे समाज का आमूल-चूल परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हुए दिखाई दे रहा है। उसका आग्रह नवीनता के लिए इतना प्रबल है कि वह पुराने को डूबो कर नव संसार स्थापित करना चाहता है। इसलिए कवि ने रस, अलंकार, और संगीत की तुकात्मक शैली को छोड़कर जनता की वाणी में जनता की गाथा गाने का प्रयास किया है। यहां से कवि की चेतना परंपरा, स्वार्थपरता, अहंकार, लालच, आत्मश्लाघा तथा विशिष्टता की व्यक्ति केंद्रित चेतना से मानवता, समता, प्राणी की महत्ता तथा वैज्ञानिक दृष्टि जैसी समष्टि केंद्रित चेतना की ओर अग्रसर हुई है। केदार का इस काव्य संग्रह के बारे में स्व-कथन है कि "मेरे काव्य - संकलन - युग की गंगा - में मेरी ऐसी परिवर्तित मानसिकता (चेतना) की रचनाएं हैं। फिर यही क्रम चालू रहा। मेरे अन्य संकलनों में इस तरह की रचनाएं संगृहीत हैं।"[22] अतः यह काव्य संग्रह केदारनाथ अग्रवाल के भावी दृष्टिकोण की पहली अभिव्यक्ति है।

चूंकि इस काव्य संग्रह की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। इसलिए श्री अशोक त्रिपाठी के संपादन में इस संग्रह की दस कविताएँ 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' काव्य संग्रह में संकलित हैं, शेष बयालिस कविताएँ 'गुलमेंहदी' संग्रह में संकलित हैं।

2. नींद के बादल

प्रस्तुत काव्य संग्रह केदारनाथ अग्रवाल का प्रकाशन की दृष्टि से दूसरा काव्य संग्रह है, जिसमें कुल 42 कविताएँ संकलित हैं। इसी काव्य संग्रह की अन्तिम कविता 'नींद के बादल' के नाम पर इसका नामकरण किया गया है। परंतु 'नींद के बादल' काव्य संग्रह के अनुपलब्ध होने के कारण इस संग्रह की सभी कविताएँ कवि के अन्य काव्य संग्रह 'गुलमेंदी' में संगृहीत हैं। इस काव्य संग्रह में कवि के जीवन की प्रारंभिक दौर की कविताएँ संकलित हैं, जब वे अपनी भावनाओं को कविता के माध्यम से व्यक्त करने की कोशिश कर रहे थे। कवि स्वयं इस बात को स्वीकार करते हुए लिखता है कि "मेरे काव्य संकलन 'नींद के बादल' में मेरी काव्य-चेतना की प्रारंभिक रचनाएं है। वे रचनाएं मेरे तब के मानवीय बोध को व्यक्त करती हैं।"[23] कवि ने इस काव्य में प्रेम-प्रणय और प्रकृति के अनेक चित्र खींचे हैं। किंतु कवि का मुकाबला जब जीवन के यथार्थ से होता है, तब वह प्रकृति में बिखरे असली जीवन क्षेत्र को देख पाता है। जीवन की वास्तविकताओं ने उसके दृष्टिकोण में जनवादी परिवर्तन लाती हैं। उसका स्व-प्रेम,

संसार के सभी प्राणियों तक फैल जाता है, जिस कारण से आगे की कविताओं में वे मानव के हित का गान करते हैं।

इस काव्य की कविताएँ छायावादी कविताओं की तुलना में प्रेम को और अधिक सहज स्वाभाविक एवं स्वस्थ रूप में ग्रहण करती हैं, कहीं भी प्रणय का स्वरूप विकृत नहीं हो पाया है। केदार नर-नारी के आकर्षण को स्वाभाविक मानते हैं और उसे सहज भाव से व्यक्त भी करते हैं। कवि अपनी पत्नी में प्रिया को खुली आँखों से देखता है तथा दांपत्य-प्रेम की गहन-मधुर-व्यापक चिर आकर्षक शक्ति में प्रेम के सभी रुपों का रस पाता है-

तुम आओ तो रस से पूरित अंगूरी तन देखूँ,
लाल गुलाब कपोलों के मैं, रसमय चुंबन देखूँ,
मेरा भाग्य उठाती ऊपर लज्जित चितवन देखूँ,
भर-भर लोचन देखूँ प्यारी, भर-भर लोचन देखूं!![24]

कवि स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देता है कि- 'नींद के बादल' की कविताएँ नितांत वैयक्तिक भाव भूमि पर आधारित हैं और उन पर किसी प्रकार की सैद्धांतिक मतवादिता का आरोपण नहीं किया जा सकता। "'नींद के बादल' रात के जादू के बाद दिन के लाल सबेरे के साथ ओझल हो जाते हैं।"[25] इस प्रकार कवि अपनी प्रारंभिक सोच में हुए परिवर्तन की घोषणा करता है। 'नींद के बादल' की कविताएं उस दौर की रचनाएं हैं जब छायावाद चरम ह्रास पर था। उत्तरछायावादी और प्रगतिशील कविताएं नए विकल्प के रूप में संघर्ष कर रहीं थी। इस संधिकाल के दौरान युवा केदारनाथ अग्रवाल छायावादी कल्पनाओं और रोमांटिकता से प्रभावित थे। किंतु जैसे ही उन्हें वैचारिक धरातल मिला वे नींद के बादल के घेरे से बाहर आकर आलोक की तलाश शुरू कर दिए। इसलिए आगे उन्होंने 'नींद के बादल' जैसी छायावादी, रोमानी अथवा भाववादी प्रवृत्तियों से युक्त रचनाओं से मुक्त हो लिए। इस काव्य संग्रह की विशिष्टता यह है कि इसकी भाषा की चंचलता और गतिशीलता नई संभावनाओं के द्वार खोलते हैं।

3. लोक और आलोक

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन, लहर प्रकाशन, इलाहाबाद द्वार मई, 1957 ई. में हुआ था। प्रकाशन की दृष्टि से यह उनका तीसरा काव्य संग्रह है। इस संकलन में कुल 54 कविताएं संकलित थीं। किंतु काव्य संग्रह के अनुपलब्ध होने के कारण उसकी सभी संकलित रचनाएं क्रमशः 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में 17 और 'गुलमेंहदी' में 37 की संख्या में साहित्य भंडार, इलाहाबाद द्वार संकलित कर प्रकाशित की गई हैं। इस संकलन की रचनाएं जनता के लिए हैं और जनता के दुख दर्द से गहरा सरोकार रखती हैं। ये कविताएं जनवादी दृष्टिकोण के प्रकाश में लोक जीवन के अनछुए पक्षों को प्रमुखता से उभारती हैं। इन कविताओं के स्वर में ओज और पौरुष गुणों की प्रधानता है। कवि जन-जीवन की चेतना के प्रति सजग और जागरूक है।

वह इन कविताओं के माध्यम से क्रांति करने का आवाहन करता है। कवि के क्रांतिकारी व्यक्तित्व का परिचय 'हाथ में तलवार लेकर', 'आँधी के झूले पर झूलो', 'हथौड़े का गीत' आदि कविताओं में साकार हो उठा है। जिसकी एक बानगी प्रस्तुत है-

जागरण है प्राण मेरा,
क्रांति मेरी जीवनी है,
जागरण से क्रांति से मैं,
घनघना दूँगा दिशाएँ![26]

इस संकलन में हिंदी साहित्य के अमूल्य निधि रूपी कविताएँ संकलित हैं जो साहित्य के काव्य प्रेमियों को परितृप्त करती रही हैं। वे हैं- 'माँझी न बजाओ बंशी', 'गाँव का महाजन', 'तेज धार का कर्मठ पानी' और 'नागार्जुन के बाँदा आने पर' की लम्बी कविता आदि संकलित हैं। कवि अपनी रचनाओं द्वारा सचमुच लोक-जागरण का गुरुतर कार्य किया है। वे अपनी कविताओं से लोक मानस में सामाजिक क्रांति की, शोषकों के प्रति घृणा की तथा जागृत मनुष्यों में अधिकार की भाव-भावना भर दिया है। जिसके फल स्वरूप उनकी कविताओं में नये समाज, नये जीवन और नई धरती के प्रति आस्था और प्रेम दिखाई पड़ता है। कवि केदार ने त्रस्त और पीड़ित जनता को जागरूक करने और उसे सच्चे मानवतावादी पथ पर चलने का मार्ग अपनी रचनाओं द्वारा दिखाते हैं। इसके अतिरिक्त मानवतावादी मार्ग में पड़ने वाली बांधाओं को क्रांतिकारी तरीके से उखाड़ फेकने के लिए भी शिक्षित करते हैं। 'लोक और आलोक' कविता संग्रह में कवि ने तत्कालीन यथार्थ चित्रण के साथ ही आंचलिकता का घोल डाल कर रचनाओं को लोक जीवन की मिठास और कड़ुवाहट से जोड़ दिया है।

इस काव्य संग्रह की मूल विशेषता शोषण, अभाव, अशिक्षा और अंधविश्वास से ग्रसित, धर्म और परंपराओं से जकड़ी ग्रामीण जनता के तड़फ का यथार्थ-नग्न चित्रण है। वास्तव में कटु सत्य यह है कि- "सामाजिक विषमताएं मानव जीवन और संस्कृति के मानवीय चरित्र का हनन करती हैं।"[27] जिससे मुक्ति पाए बिना कोई समाज या राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता है। इस काव्य संग्रह का वैशिष्ट्य मूलतः जनवादी भाव युक्त प्रकृति चित्रण तथा क्रांतिकारी स्वरों से युक्त सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनवादी कविताएँ हैं।

उपलब्ध काव्य संग्रह

1. फूल नहीं रंग बोलते हैं

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन अक्तूबर 1965 ई. में परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा किया गया था। इस कविता संग्रह की भूमिका 'मेरी ये कविताएं' में स्वयं केदारनाथ

अग्रवाल लिखते हैं कि "पहले भी मेरे तीन काव्य संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। अब उनमें से एक भी उपलब्ध नहीं हैं। यह संकलन उस कमी की पूर्ति करता है।"[28] जिससे स्पष्ट होता है कि कवि 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' काव्य संग्रह को अपने काव्य जीवन का प्रवेशांक मानता है। इस काव्य संग्रह में उनके पूर्व प्रकाशित तीन अप्राप्य काव्य संग्रहों 'युग की गंगा' की 10 कविताएं- चंद्रगहना से लौटती बेर, बसंती हवा, घन-जन, दो जीवन, आज, देश की आशाएं, कानपुर, बुंदेलखंड के आदमी, पैतृक संपत्ति और कटुई का गीत संकलित हैं। 'लोक और आलोक' से 17 कविताएं इस काव्य संग्रह में संकलित हैं जो इस प्रकार हैं- माँझी न बजाओ वंशी, धीरे उठाओ मेरी पालकी, नाव मेरी पुरइन के पात की, टूटे न तार तने, चाँद-चाँदनी, प्रात-चित्र, खेत का दृश्य, धूप का गीत, लौह का घन गल रहा है, गाँव का महाजन, हथौड़े का गीत, मैं, नागर्जुन के बांदा आने पर, मैं घोड़ों की दौड़, धोबी गया घाट पर, तेज धार का कर्मठपानी और मैंने उसको। इस काव्य संग्रह के विषय में कवि लिखता है कि 'कविता का संकलन इस दृष्टि से किया गया है कि इसमें मेरे कृतित्व का पूरा बोध-चित्र उपस्थित हो जाता है। पाठक इससे मेरी कविताओं का ऐतिहासिक मूल्यांकन भी कर सकते हैं।' इस काव्य संग्रह का नाम इसी काव्य संग्रह की एक कविता "फूल नहीं" से लिया गया है जो काव्य संग्रह के प्रभाग 'रंग बोलते हैं' की प्रथम कविता है। कविता इस प्रकार है-

फूल नहीं
रंग बोलते हैं
पंखुरियों से।
समुद्र के अंतस्तल के
नील, श्वेत
और गुलाबी
शंख बोलते हैं और वल्लरियों से।[29]

इस काव्य संग्रह में अगस्त 1955 से अप्रैल 1964 तक की कविताएं संकलित हैं। इन कविताओं की रचना के समय कवि की उम्र 44 से 53 वर्ष की थी। ये कविताएं उनके रचना-काल के 9 वर्षों का संकलन हैं। इस संग्रह में लोक-जीवन, लोक-समाज, प्रेम, प्रकृति और जनवादी कविताएं हैं। कवि आदर्श और सुधार की भावनाओं से परिपूर्ण है। इसलिए इन कविताओं में कवि ने जीवन का यथार्थ सच्चा-चरित्र उकेरा है। प्रकृति का मसृण सौंदर्य, नारी-केलि का उल्लास और जीवन संघर्षों से निकलती चिनगारियों को बिखेरा है। कविता के विषय में केदार बाबूजी का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट था। उन्होंने लिखा है कि "कविता में अगर नदी, पेड़, पहाड़, वन, धूप-छांव, सूरज-चाँद-सितारे और ऋतु परिवर्तन के दृश्य न हों और उनमें लौकिक वस्तुओं के रंग रुपों का बिंबन न हो तो बेचारा पाठक कैसे अपने प्रांत, प्रदेश और देश को देख सकता

है और कैसे उसे प्यार कर सकता है। ..... मेरी कविताओं में मेरा अनुभूत व्यक्तित्व तो है ही, साथ ही साथ उसमें युगबोध और यथार्थ बोध भी है।"[30]

'फूल नहीं रंग बोलते हैं' संकलन की कविताएं जब हम पढ़ते हैं तो लगता है, केदार अपने जन-जीवन से जुड़ी कविताओं में काव्य सृजन के उच्चतम शिखर पर पहुंच गये हैं। यद्यपि उनकी बाद की कविताओं में जीवन अनुभूतियां, प्रकृति के सुवास, विविध लोक रंग और जनवाद आदि के गहरे व यथार्थ युग-बोध मिलते हैं। इस लिए इस काव्य-संग्रह की कुल 236 रचनाओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है, जो इस प्रकार हैं-

1. प्रकृति-चित्रण
2. लोक-जीवन और प्रेम
3. जनवादी विचारधारा

प्रकृति-चित्रण के अंतर्गत कुल 76 कविताएं हैं। जिसमें प्रकृति के विविध स्वरूपों को रूपायित किया गया है। लोक-जीवन और प्रेम के अंतर्गत कुल 125 कविताएं है, जो लोक-जीवन और लोक समाज के विस्तृत फलक को चित्रित करती हैं। जनवादी विचारधार के अंतर्गत कुल 35 कविताएं हैं। जनवादी कविताओं में किसान, मजदूर और आम जनता के शोषण करने वाले कारकों को सजीव और यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है। कुछ छोटी-छोटी कविताओं के द्वारा लोक समाज की दुखी दशा, प्रकृति का सौंदर्य और युग का बोध एक साथ व्यक्त हुआ है। प्रस्तुत है यहां युगबोध का गतिशील यथार्थ बिंब-

कैसे जिएँ कठिन है चक्कर
निर्बल हम, बलहीन है मक्कर
तिलझन ताबड़तोड़ कटाकट
हट्टी की लोहे से टक्कर।[31]

'फूल नहीं रंग बोलते हैं' काव्य संग्रह को केदारनाथ अग्रवाल का प्रतिनिधि काव्य माना जाता है। इस काव्य की भूमिका से भी यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। इस काव्य को कवि के युवावस्था की सोच की अभिव्यक्ति माने तो स्पष्ट है कि कवि सदियों से चली आ रही शोषण आधारित व्यवस्था को सामने लाना चहता है। वह शोषकों के दोगले चरित्र को लोक के सामने खोलता है। प्रकृति का ग्रामीण सौंदर्य तथा प्रेम के सात्विक स्वरूप को कवि ने यहां साकार किया है। कवि केवल शोषण को ही उजागर नहीं करता है बल्कि इस व्यवस्था को नकारते हुए जनसंघर्ष के रास्ते से लोकवादी सरकार व शासन व्यवस्था स्थापित करना चाहता है।

केदारनाथ अग्रवाल के इस प्रतिनिधि काव्य संकलन की भाषा सरल, सहज और देशी मिठास से युक्त है। पाठक सहजता से कविताओं के भावों से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। काव्य संग्रह की कविताओं में वर्गीय चेतना देखने को मिलती है। जहाँ रूढ़ियों और अंधविश्वासों से जकड़ा ग्रामीण समाज है, वहीं पर महाजनों और जमींदारों द्वारा शोषित और दुखी दलित,

मजदूर और परेशान किसान भी है। केदार इस वर्ग के उत्थान के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। कवि का मानना है कि इन परिस्थितियों का निर्माण सक्षम वर्ग द्वारा भौतिक साधनों के नियंत्रण से हुआ है। अतः इसका समाधान भी वर्ग संघर्ष से ही होगा। डॉ. राममनोहर सविता के शब्दों में "समाज का विकास वर्ग-संघर्ष के माध्यम से हुआ है, इसलिए इसकी नैतिकता भी हमेशा वर्ग नैतिकता ही रही है अर्थात वर्ग से परे नैतिकता निराधार है।"[32] अतः केदार भौतिकवादी वर्ग संघर्ष से पठार और जड़ बीहड़ रूपी जनता के संसार को वन-फूलों के गंध से भर देना चाहते हैं। यह वर्गीय चेतना और संघर्ष सुखमय संसार की स्थापना के लिए अनिवार्य है। यही इस काव्य की मौलिक स्थापना है जिसे केदार 'वह पठार जो जड़ बीहड़ था' कविता से स्थापित करते हैं-

वह पठार जो जड़ बीहड़ था
कटते कटते ध्वस्त हो गया,
धूल हो गया,
सिंचते सिंचते,
दूब हो गया,
और दूब पर
वन के मन के-
रंग-रूप के, फूल खिल उठे,
वन फूलों से गंध-भरा
संसार हो गया।[33]

इस काव्य संकलन में कवि के मार्क्सवादी विचार अनुशासित और सुदृढ़ चित्र के रूप में न केवल निखरे हैं बल्कि गंभीर चिंतन और गहरे मूल्य के रूप में उसे जन मानस में सहजता से स्थापित कर देते हैं। जो लोक संवेदना बन कर, लोगों को सच्चा और अच्छा लगता है। जिसका परिणाम आज जगत के समस्त क्षेत्रों में आर्थिक समानता के लिए संघर्ष के पैमाने के रूप में देखा जा सकता है।

2. आग का आईना

प्रस्तुत काव्य संग्रह केदारनाथ अग्रवाल का ऐसा काव्य संग्रह है जिसमें कवि के व्यक्तित्व के विकास को देखा जा सकता है। काव्य संग्रह का प्रकाशन जुलाई, 1970 ई. में हुआ। इसमें संकलित 106 कविताएं, सितंबर, 1960 से मार्च, 1970 तक के बीच लिखी गई थीं। इस पुस्तक के बारे में केदारनाथ अग्रवाल कहते हैं कि "इसकी कविताएं पहले की मेरी कविताओं से बिल्कुल भिन्न हैं। दोनों के बीच की दूरी मेरे पहले और अब के केदार के बीच की दूरी है। यह दूरी मेरे दोनों अस्तित्वों को एक क्रमिक विकास से जोड़े है।"[34]

इस संग्रह में केदारनाथ अग्रवाल का वह अनुभव पिरोया गया है, जिसे वे सरकारी वकील बनने के बाद अनुभव किए। केदार जी देश के विद्वानों और नेताओं के विषय में जो अनुभव किया उसे साफ लिख दिया है-

विद्वान अँधेरा
ढपोरशंखी सूर्य
दोनों हमारे हैं
और हम
उनके सहारे हैं
थके हुए
हारे हैं।[35]

देश की जनता किस प्रकार नकलची विद्वानों और मूढ़ नेताओं के सहारे अपना जीवन सुधारने का सपना देख रही है। ये नकलची विद्वान और मूढ़ नेता जो स्वयं का भविष्य नहीं बन सकते, वे क्या जनता की सेवा करेंगे? किंतु इस देश में जनता इनके आसरे आस लगाए हुए हैं। जिसका परिणाम यह हुआ है कि वह थक चुकी है और असहाय सी हो गई है। केदार के सामने पतित होते चरित्रों का संकट था। पुलिसवाला, वकील, कलेक्टर, जज, डॉक्टर, इंजीनियर जो देश की तरक्की और लोगों की परेशानी को दूर करने के लिए अच्छे वेतनों पर सेवा हेतु नौकरी पर लगे हैं। सभी अपना कर्तव्य भूल चुके हैं। सभी का चरित्र गिर चुका है। पैसे पर बिकने वाले ये जन सेवक, जनता के मेहनत को लूटने के जुआड़ में अपनी शक्ति लाग देते हैं। केदार यह भी देखते हैं जो अपने चरित्र पर बने हुए हैं, वे तबाह और परेशान हैं। क्योंकि स्वार्थ के इस नग्न नाच में उनका साथ देने वाला कोई नहीं है। फिर भी केदार ऐसे चरित्रों को देवदार की उपमा देते हैं तथा उन्हें ही सम्मान से देखते हैं।

कवि उस समय के गिरते हुए मूल्यों से बहुत दुखी थे। उनके सामने प्रश्न था। कैसे होगा लोक कल्याण?, कैसे होगी लोगों की भलाई? कैसे स्थापित होगा सच्चा लोकतंत्र? प्रेम और सौंदर्य की लोग क्यों धज्जियां उड़ा रहे हैं? उन्हें शायद पता नहीं हैं कि उनके द्वारा बोये बीजों का एक दिन परिणाम भी अच्छा नहीं होगा। इस लिए केदार भवितव्य को ले कर कहीं अधिक व्याकुल दिखाई देते हैं।

न इश्क
न हुश्न
गए हैं दोनों बाहर
अवमूल्यन में
कर्ज चुकाने।[36]

केदारनाथ लोक कवि हैं, उन्हें लोक की समस्याओं का यथार्थ चित्र दिखाई दे रहा है। आम आदमी की परेशानी समझ रहे हैं। लोग क्यों नहीं अपना कार्य, कुशलता से संपन्न कर पाते हैं। उसके पीछे की सच्चाई उन्हें पता है। केदार जी अपनी कविता कर्म के माध्यम से सदैव जन समस्याओं के यथार्थ को दुनिया के सामने लाने का आजीवन प्रयास करते रहे।

कर्ज का पहाड़
बड़े से बड़े मर्ज से बड़ा है
न मरा आदमी
पहाड़ से मरा पड़ा है।[37]

भारत का आम आदमी सदैव परेशान है, कहीं आडंबरों, कहीं अंधविश्वासों, कहीं अज्ञानताओं, कहीं शोषण, कहीं अपमान, कहीं जाति-पांति। परंतु इससे वह लड़ता रहा है। पेट की आग के लिए घुटता रहा है। आम आदमी इतना मजबूर है कि वह केवल चलते रहने के लिए विवश है। उसके चलने का उद्देश्य और उसका अंतिम लक्ष्य केवल और केवल पेट की आग शांत करने में समाप्त हो जाता है। वह एक ओर अपनी अज्ञानता, गरीबी और सामाजिक, आर्थिक कमजोरियों से घिरा है तो दूसरी और भाषाई, जातीय और शैक्षिक सुविधाओं से वंचित भी है, साथ ही साथ वह मजबूर है, उन लोगों के इशारों पर नाचने के लिए जो सामंती सोच से प्रभुत्व संपन्न हैं। केदार जी को यह अनुभव लोकाधिकार के लिए लड़ते हुए बहुत अच्छी तरह से समझ में आया। इस लिए उन्हें यह गहरी सच्ची कविता लिखनी पड़ी।

पेट के अंदर
पुरुष पिट गया है।[38]

केदार के 'आग का आईना' नामक काव्य संग्रह में संकलित कुछ कविताएं जैसे- कवि मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद, अपने जन्म दिन (पचासवें), संभोग की मुद्रा में (ला विये : पिकासो का चित्र), श्री श्री खण्डे के प्रति (उनके तराशे मूर्ति फलकों पर), कमासिन मेरा गाँव, सिपाही का डंडा, कर्ज, स्वधर्म हो गया है वेतन बचाना आदि कविताएं बहुत उच्च कोटि का जगतीय-बोध लिए हुए हैं। इस काव्य की अन्तिम कविता आग का आईना है, जिसके नाम पर इस संग्रह का नाम आग का आईना पड़ा है। इस काव्य संग्रह को सचमुच में आग का आईना कहा जा सकता है, क्योंकि लोक में जलती आग को यहाँ साफ-साफ देखा जा सकता है। संकलन में शिल्प नवीन ढंग से दृष्टि गोचर होता है। छोटी-छोटी और चुटिली कविताओं का विशेष प्रभाव है।

3. गुलमेंहदी

प्रस्तुत काव्य-संग्रह का प्रकाशन जनवरी, 1978 ई. में हुआ था। गुलमेंहदी में कवि केदारनाथ अग्रवाल की पूर्व प्रकाशित संप्रति अप्राप्त काव्य-कृतियों 'युग की गंगा' की 42

रचनाएं, 'नींद के बादल' की संपूर्ण रचनाएं और 'लोक और आलोक' की 37 रचनाएं संकलित हैं। इसके अतिरिक्त 'आज अभी आँखों से' शीर्षक के अंतर्गत तब तक की अप्रकाशित 32 रचनाएं भी संकलित हैं। 'युग की गंगा' और 'लोक और आलोक' की शेष (10+17) कविताएं 'फूल नहीं रंग बोलते काव्य-संग्रह में संकलित हैं। जैसा कि बताया जा चुका है कि यह काव्य संग्रह पूर्व प्रकाशित अप्राप्य काव्य संग्रहों का संकलन है, शायद इसी कारण से इसमें कोई भूमिका या कवि का काव्य के विषय में विचार व्यक्त नहीं हुआ है। 'आज अभी आँखों से' शीर्षक के अंतर्गत संकलित 32 कविताओं में से अंतिम 'गुलमेंहदी' कविता के आधार पर इस संग्रह का नाम रखा गया है।

इस कविता में कवि ने 'गुलमेंहदी' के पौधे के विकास, उसके लाल खिले, दहके विभिन्न रंग के पुष्पों की माला के सौंदर्य को, खिले गालों की सुंदरता से अच्छा बताया है। गुलमेंहदी को सुर-सुंदरियों सी सुंदर तथा मेघों एवं अवनी द्वार उन्हें प्रदान किया हुआ बताया है। स्पष्ट है कि कवि कविता में मांसल सौंदर्य पर संघर्ष से उपजे सौंदर्य को श्रेष्ठ बताया है। जिससे इस काव्य संग्रह का नाम सार्थकता पाता हैं। क्योंकि इस काव्य-संग्रह में लेखक के समय-समय पर उपजी श्रेष्ठ काव्य-रचनाओं को संगृहीत किया गया है। अतः हम कह सकते हैं कि यह काव्य-संग्रह कवि की समस्त रचनाओं की गुलमेंहदी है, जो अपेक्षा कृति छोटी कविताओं का उत्कृष्ट संकलन हैं। इनमें शिल्प का नवीन प्रयोग दिखाई देता है। कवि की भाषा पूर्व की रचनाओं की अपेक्षा परिष्कृत होती दिखती है। विचारों की व्यंजना और चिंतन की प्रौढ़ता में कवि अनुभव और बौद्धिकता के चरम शिखर पर पहुँचने का प्रयास किया है।

4. पंख और पतवार

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य-संग्रहों में यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण काव्य-संग्रह है। इसका प्रकाशन जनवरी, 1979 ई. में परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद द्वार किया गया। इस पुस्तक में कुल 168 पृष्ठ हैं। इसमें कुल 123 कविताएं जो 1971 से 1977 के बीच लिखी गई थीं, के अतिरिक्त एक कविता "विरोधी व्यक्तित्व' 1964 ई. की भी संकलित है। जहाँ तक इस पुस्तक के विषय-वस्तु का संबंध है तो इसमें प्रकृति, केन नदी, बुंदेलखण्ड के पहाड़, राजनीति और प्रशासन का चरित्र, लोक जीवन एवं व्यवहार, कवि की अनुभूति और सौंदर्य-बोध व्यक्त हुआ है। कवि अपनी तमिलनाडु यात्रा के दौरान वहाँ की प्रकृति-वेश, मद्रास शहर (चेन्नई), रामेश्वरम, कवि त्रिरुवल्लुवार आदि विषयों पर कई कविताएं लिखी हैं, जो इस संकलन का अंग हैं। कवि ऐसे विषयों पर हिंदी में रचना कर अपने राष्ट्रीय चरित्र का परिचय दिया है। बनारस पर लिखी उनकी कविता 'बनारस की प्रशस्ति में' उनके प्रगतिशील दृष्टि का बखूबी परिचय मिलता है। इस काव्य संग्रह की प्रभावकारी कविताएँ जैसे- कनबहरे, हम और लोग, बौद्धिक नौजवान, अफसर, सच, महँगाई, देश की राजनीति, मैं और प्रशांत, सरकार अफसर और जनता, अक्षम

हूँ मैं, व्यक्ति-व्यक्ति का जीना आदि कविताएं मानव की चिरकालीन प्रवृतियों की व्यंजना करती हैं।

इस काव्य-संग्रह की भूमिका में कवि केदारनाथ अग्रवाल कविता की रचना प्रक्रिया और सरोकार की व्याख्या की है। तत्कालीन कविता में हो रहे नये-नये प्रयोगों के कारण उठने वाले सतही और उथलेपन का विरोध भी किया है। वे लिखते हैं कि कविता का सरोकार जनता और समाज में प्रचलित जीवित संवेदनाओं की व्यंजना से है। कविता मात्र निजी इच्छाओं और संकीर्ण संवेदनाओं की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि वह लोक और समाज की चित-वृत्तियों के साथ, कवि की आपबीती अनुभूतियों की कलात्मक व्यंजना है। उन्होंने तत्कालीन कविता में नकारात्मक प्रवृत्तियों को झकझोरते हुए प्रश्न उठाए हैं कि "क्या उसे सब तरह से नंगा कर दिया जाए? क्या उसे अजनबी और अनजान बना कर विशिष्ट इकाई बना दिया जाए? क्या उसे संप्रेषणीयता के सभी तत्वों से वंचित कर दिया जाए? क्या उसे भावनाओं और संवेगों से कतई दूर कर दिया जाए? क्या उसे बौद्धिकता और आधुनिकता के चक्कर में डाल कर सब तरह से अकविता बना दिया जाए या गद्य का ही रूप दे दिया जाए?"[39]

वे कविता में जन्म ले रही उपर्युक्त दृष्टिकोणों को सही नहीं मानते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि "कविता को उसके तमाम, उपलब्ध किए हुए, गुण-धर्मों, से वंचित नहीं करना चाहिए अपितु उसके उन गुणों को अपनाए रखना चाहिए जो उसे चमकाते और निखारते हैं और जो उसे आदमी की सही सार्थक मानसिकता देते रहते हैं।"[40] संक्षेप में कहें तो कविता मानवीय संवेदनाओं एवं अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति है। डॉ. रवींद्रनाथ मिश्र अपने व्याख्यान में प्रायः कहते है कि 'लेखक या कवि में तीन गुणों- अनुभूति, समझ और अभिव्यक्ति-कला होने से ही वह महान रचनाकार बन सकता है।' उनका यह कथन पूर्णतः और सटीक निकष केदारनाथ अग्रवाल की रचनाओं के लिए है। जिसमें उनकी सारी रचनाएं खरी उतरती हैं।

सच
अब नहीं जाता
अदालत में,
खाल खिंचवाने,
मूँड़ मुँड़वाने,
हाड़ तोड़वाने,
खून चुसवाने।[41]

प्रस्तुत काव्य संग्रह की कविताओं से शासकों और शासितों के हितों के विरोधाभासों को समझा जा सकता है। कवि ने स्वार्थी हितों के संरक्षण से उपजने वाली समस्याओं को अपनी दूर दृष्टि से पचास-साठ साल पहले अपनी कविताओं में व्यक्त किया था। वे आज किसी न किसी रूप में देश के सामने चुनौती पैदा कर रही हैं। कवि आम आदमी से गहराई से जुड़ा है।

वह अपनी रचनाओं में प्रकृति का भरपूर प्रतीकात्मक प्रयोग करता है। कवि प्रकृति के मुखर प्रतीकों को ग्रहण कर सामाजिक विद्रूपताओं और आर्थिक नग्नता को वास्तविक स्वरूप में अनावृत्त करता है। बनावटी फिल्मी दुनिया, दिखावे की संस्कृति, शासन और प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को संग्रह की रचनाओं द्वार जनता के सामने खोलता है। पूंजीपतियों और किसान, मजदूर के हितों के टकराव को सर्वहारा के सम्मुख उजागर करता है।

प्रस्तुत संग्रह में 'पंख और पतवार' नाम की कोई रचना संकलित नहीं है। संग्रह का शिल्प छोटी, लम्बी सरस रचनाओं से सज्जित है। रचनाओं के कथ्य प्राकृतिक-राजनीतिक, लौकिक-यथार्थवादी, देशी-विदेशी और सामयिक-द्वंद्व के भावों से युक्त हैं।

5. मार प्यार की थापें

केदारनाथ अग्रवाल के इस काव्य संग्रह का प्रकाशन समय मई, 1981 ई. है। इसमें कुल 66 कविताएँ संकलित हैं। उनके रिटायरमेंट से इस पुस्तक के प्रकाशन के बीच 10 वर्ष का अनुभव समाहित है। इस लिए इन कविताओं में कवि ने कुछ गहरे लोक-यथार्थ को प्रकट करने में सफलता पाई है। यद्यपि इसमें छपी कविताओं का लेखन काल अक्टूबर, 1968 से सितंबर, 1980 के बीच का है। इस काव्य संग्रह के बारे में कवि स्वयं लिखते हैं कि "मैंने जो कुछ भी इन कविताओं में कहाँ है। वह मार और प्यार की थापों के रूप में कहा गया है। वह मार भी प्यार के भाव से संपृक्त है।"[42] कुल मिलाकर इसमें देश, राजनीति, समाज, भ्रष्टाचार, नैतिक पतन, राजनीतिक पतन, जनशोषण, नेता, मतदाता, न्याय, आयोग, सड़क और संसद के साथ-साथ कवि का व्यक्तित्व भी पूरी तरह से इस काव्य संग्रह में निखरा है। काव्य संग्रह की एक विशेषता यह है कि इसमें छोटी और लम्बी दोनों प्रकार की कविताएं संकलित हैं, जो केदार जी ने उस दौर में लिखी थी। किंतु लम्बी कविताओं की संख्या ज्यादा है।

फिर से
मुक्त हुआ
जन मानस;
फिर से लाल अनार[43]

उपर्युक्त कविता की रचना फरवरी, 1977 ई. में की गई थी। यह वह समय था, जब देश इमरजेंसी से उबरा था और कांग्रेस पार्टी बुरी तरह पराजित हुई। कवि कि आशाएं लाल अनार के रूप में प्रकट हुई हैं। जहां जन मानस को मुक्ति मिल सकती है। किंतु कवि मुक्ति का मार्ग लोकतांत्रिक जीवन दर्शन में देखता है। 'पैटर्न' कविता में उन्हें कुछ बदलता सा नहीं दिखाई देता है। केवल सरकार और लोग बदल जाते हैं किंतु जनता की पीड़ा, शोषण और अभाव ज्यों का त्यों बना रहता है। सरकार बदले या शासक बदले, जिलाधीश बदले या न्यायाधीश

किंतु लोगों के लिए कुछ नहीं बदलता हैं। दशा और दिशा जस की तस बनी रहती है जो कवि की चिंता का मूल बिंदु है।

केदार को ऐसी सक्षम और संपन्न दृष्टि मिली है कि वे जनता के मर्म पर हाथ रखते हैं। कविता के माध्यम से यह प्रकट करते हैं कि वर्तमान व्यवस्था लोक में कोई भी ऊर्ध्वाधर परिवर्तन करने में नाकाम रही है। जनता जिस प्रकार सदियों से लुटती, बिलखती और असहाय रही है। वैसे स्वतंत्रता के पचास वर्षों वाद भी जीने के लिए मजबूर है। उधर केदारनाथ को देश के नेताओं की दशा पर बहुत निराशा हो रही है। इस देश के नेता समस्याओं का समाधान की जगह पर केवल लफ्फाजों से समाधान दे रहे हैं। जिससे देश की जनता का कोई भला नहीं होने वाला है। क्योंकि कहीं पर कुछ ठोस होता दिखाई नहीं पड़ रहा है। चोरी और दूसरे को मूर्ख बनाने के कार्य केवल चल रहे हैं।

देश में लगी आग को
लफ्फाजी नेता
शब्दों से बुझाते हैं;
× × ×
लोकतंत्र का शासन
भाषण तंत्र से चलाते हैं।[44]

केदार के इस काव्य संग्रह की कविताएं सामाजिक समस्याओं को भी बहुत गहराई से बाहर निकाला हैं। लूट और बेईमानी का जो माहौल हर जगह व्याप्त है, उससे आने वाली पीढ़ी भी खराब हो रही हैं। संगति का सरासर असर लोगों पर पड़ रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि जनता में यह विश्वास पनपता जा रहा हैं कि बेईमानी, लूट, खसोट ही रास्ते हैं, जिससे कोई आगे बढ़ सकता हैं। इससे नई पीढ़ी नष्ट हो रही है। भविष्य का कोई रखवाला नहीं है। जनता जहां थी, आज भी वहीं है। उसका नैतिक धरातल लगातार गिरता चला जा रहा है।

केदार जी का देश की न्यायिक व्यवस्था से भी विश्वास उठ गया है। जनता को भी न्याय पाने की कोई उम्मीद नहीं रहती है। इसलिए प्रायः गरीब न्याय पाने के स्थान पर दण्ड सहना सरल समझता है। बड़े-बड़े हादसों और दुर्घटनाओं को न्याय दिलाने के लिए बने आयोगों में भी छेद है। जिसमें कथित यशस्वियों का भष्टाचार और आतातायियों का अत्याचार तो छेद से निकल जाता है। किंतु दर्द से कराहता-खांसता आम आदमी फंस जाता है। केवल चापलूसों और चाटुकारों का ही बोलबाला बना हुआ है। उनका व्यंग्य 'चलनी चलाते हैं छोटे-बड़े आयोग' न्यायिक व्यवस्था पर एक बड़ा सटीक व्यंग्य है। इसी प्रकार 'गाँव हो या शहर' में गांव और शहर की अराजकता का बड़ा ही सटीक रूपायन किया गया है। 'अंडे पर अंडा' में जहां आयोगों के निर्माण पर व्यंग्य है तो वहीं 'आज ही तो हुआ था' पर उनके द्वार उनके 68 वर्ष की

अवस्था पर स्वयं अपना जन्म गीत लिखा गया है। इस गीत में केदार की विहंगम दृष्टि प्रकट हुई है। इस गीत से हम केदार के दुनियावी फलक को और नजदीक से पहचान सकते हैं।

इसी प्रकार 'जाता हूँ' कविता में एक हिंदी लेखक की मद्रास में अपने बेटे-बहू और पोता-पतियों से मिलने की चाहत या कहीं हिंदी की घोर प्रतिरोधी समाज में अस्तित्व की स्थापना की चाहत प्रबल है। उन्होंने मद्रास की सुन्दरता को उसी मन से देखा जिस मन से वे बांदा को देखते थे। केदार की दृष्टि प्रत्येक स्थान, संस्कृति, भाषा या यहां तक की जीवन में लोक-जीवन को खोजती है।

कागज की शक्ति दिखा कर देश की अशिक्षित और अंग्रेजी न जानने वाली आम जनता को सरकारी नुमाइंदे किस प्रकार कागज की धौंस जमाकर या उन्हें फंसा कर उन्हें लूटते हैं। आम जनता को लूटने के लिए कानून की आवश्यकतानुसार व्याख्या बना ली जीती है। भारत की पूरी व्यवस्था ही शोषण पर आधारित है। केवल ऊपर वाले को खुश रखें और चाहे जो करें। अपनी ही जनता को जितना चाहें लूटें। कोई शिकायत करे तो उसे पक्का दण्ड मिले यही हमारी व्यवस्था है। फिर आम आदमी की क्या औकात है, जो शिकायत करें या गलत आदेश का उल्लंघन करें। केदार सरकारी व्यवस्था का यथार्थ चित्र खिंचा है-

कागज के गज
गजब बढ़े;
धम-धम धमके
पाँव पड़े,
भीड़ रौंदते हुए कढ़े।
ऊपर
अफसर
चंट चढ़े
दण्ड दमन के
पाठ पढ़े।[45]

इसी प्रकार इस काव्य संग्रह में 'कागजी घोड़ा' कविता में न्याय व प्रशासन की दमनात्मक एवं नकारात्मक सोच को बहुत अच्छे से व्यंजित किया गया है। इनकी कविता 'इधर भी है एक दरवाजा' अवसरवादिता की पहचान करने या गुमनामी के अँधेरे में जीने के तरीके को यथार्थतः बाहर लाती है, ताकि लोकजन इसे जान सकें। इसके अलावा 'देवताओं के देश में' और 'मेरी घड़ी' लम्बी कविता का उदाहरण है। जो अपने आप में बहुत कुछ समझने के लिए विवश करती हैं। कविता 'मतदाताओं ने' में मंत्री की शक्ति के स्रोतों और उस पर कब्जा बनाए लोगों का बड़ा ही जीवंत चित्रण किया है। कविता 'पछाड़ते-पछाड़ते' जीवन जीने की जिजीविषा पर

आधारित है। केदार जी बड़े ही जनवादी और यथार्थवादी कवि थे, उन्होंने 'मुझे न मारो' कविता में लिखा है, मान सम्मान इतना न करो की आदमी की आदमियत ही खत्म हो जाए।

इसके अलावा इस काव्य संग्रह में अनेक लोगबाग की बातें कही गई हैं। परंतु सबके ऊपर प्रभाव छोड़ती उनकी कविता 'मैं' है। केदार स्वयं की व्याख्या करते हैं कि वे क्या हैं? और उनकी कितनी गहरी अनुभूति है। जिसे उनकी इस कविता से अच्छी तरह से समझा जा सकता है-

मैं
समय की
धार में
धँसकर घड़ा हूँ।
× × ×
टूटने वाला नहीं
कच्चा घड़ा हूँ।[46]

केदारनाथ अग्रवाल की कविता सच्चे मनुष्य के सामने उपस्थित समस्याओं को तो आवाज दे ही रही है, साथ में समाज और व्यवस्था के सामने कैसे वह लाचार है, जो सत्य के साथ खड़ा है, को भी प्रकट करती है। केदार उस आशा को जिंदा रखना चाहते हैं, जिसे स्वार्थी सत्तालोलुप समाज तोड़ना चाहता है। क्योंकि सत्य की स्थापना में गरीब, कमजोर और निराश्रितों की आशा बनी रहती है कि उनके साथ न्याय होगा। जहां तक सत्य के वर्तमान स्वरूप की बात है, तो वह कैसे-कैसे पद-दलित हो रहा है। यह किसी से छिपा नहीं है। परंतु केदार जनवादी कवि हैं इसलिए अपने गीतों में सभी प्रकार के छलावों को जानते हुए भी न टूटने की घोषणा करते हैं। यह घोषणा इस बात का सबूत है कि टूटता तो कच्चा घड़ा है। कवि तो सधा, सच्चा और पका है। वह टूटने के लिए नहीं निकला है। वह तो धारा का मार्ग बदलने के लिए निकला है।

6. हे मेरी तुम

प्रस्तुत काव्य-संग्रह का प्रकाशन मई, 1981 ई. में हुआ था। यह काव्य-संग्रह उनकी पत्नी पार्वती देवी को समर्पित है। इस संग्रह की सभी कविताएं कवि के आंगन में खिलने वाले गुलाबों तथा उनका पत्नी से आत्मिक प्रेम के प्रौढ़ स्वरूप को व्यंजित करती हैं। कवि इन कविताओं में जीवन संचालित करने वाली रस शक्ति को बड़े ही परिपक्वता से दुनिया के सामने लाया है। इस संग्रह की भूमिका में केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं कि "यह कविताएं पत्नी ने सुनी हैं। इसमें हम दोनों के घरेलू जीवन झलमला उठा है। स्नेह की ये बातें भी भले ही हमारी निजी बातें हों, दूसरे भी इनको पढ़कर - समझकर - अपनी बीती समझ सकते हैं।"[47]

इस काव्य संग्रह में कुल 61 कविताएं संकलित हैं जो 1973 से 1980 के बीच लिखी गईं। संग्रह की सभी कविताओं की शुरुआत 'हे मेरी तुम' से होता है। कवि हे मेरी तुम द्वारा अपनी पत्नी को संबोधित करता है। जैसा की शीर्षक से यह मालूम होता है कि इन कविताओं में कुछ रोमानी अंतरंग की बाते होंगी, किंतु ये कविताएं कवि के अपने जीवन और संसार के बारे में हैं। इन कविताओं में 'चिड़ीमार ने चिड़िया मारी' में नन्ही प्यारी चिड़िया का दर्द है; 'काल कलूटा बड़ा क्रूर है' समय के प्रभाव से लड़ने के लिए आपसी प्रेम की बात है; लोकतंत्र का गिरता स्वरूप 'सब चलता है लोकतंत्र में' व्यक्त हुआ है। इस प्रकार 'हे मेरी तुम' काव्य संग्रह की कविताएं आम आदमी के घरेलू बात-चित में उठने वाले प्रश्नों को उठाती हैं। इन कविताओं की खुशबू कहीं न कहीं पाठक को उसके जीवन के उज्ज्वल क्षणों में डूबो देती हैं। यहां पर 'न चलता घर' कविता का एक दृष्टांत प्रस्तुत है-

हे मेरी तुम !
न चलता घर
अब नहीं चलता चलाये
ठेलने-ठालने से;
इस मँहगाई में
कमाई पड़ गई खटाई में।[48]

उपर्युक्त कविता में दंपति जीवन की खट्टी-मीठी घरेलू बातों को कितनी सहजता से कवि केदार ने अपनी पत्नी से कह दिया है। यही बात हर आम आदमी अपनी प्रिया से इसी भाव से कहता है। केदार कितने आम-आदमी और लोक जीवन से संपृक्त हैं, जिसे इस कविता मात्र से समझा जा सकता है। आम आदमी की शक्ति प्रदायी ताकत उसकी पत्नी और बच्चे होते हैं, जिसका मुंह निहार कर सर्वहारा दैनिक दुखों को रौंदता हुआ, जीवन को जीता है। उसी पारिवारिक सुख को केदार इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

हे मेरी तुम
सुख का मुख तो
यही तुम्हारा मुख है[49]

केदारनाथ अग्रवाल का यह कविता संग्रह दंपति जीवन के दैनिक क्रिया-कलाप, जो जीवन में रंग भर कर उसे रसमय बना देते हैं कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। कामता प्रसाद के शब्दों में "काव्य संकलन 'हे मेरी तुम' की कविताएँ दूसरे तरह के आस्वाद हैं। ये कविताएं पत्नी को संबोधित हो कर भी उतनी ही दूसरों के लिए हैं।"[50] 'हे मेरी तुम' काव्य संकलन की कविताओं की केन्द्रीय शक्ति प्यार है। मनुष्य के वास्तविक जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ, सामाजिक प्रवृत्तियाँ सभी उस पर प्रभाव छोड़ते हैं। मनुष्य कभी जीतता है तो हारता भी है, आशान्वित होता है तो निराश भी होता है। किंतु यह प्रेम की धारा टूटते जड़ जीवन को चेतन

बनाती है जिससे 'जग हो फूल गुलाब हमारा' की आशाएं फूटती हैं। इसी आशा को आलोच्य संग्रह की रचनाओं ने एक सजीव स्थापत्य बना दिया है। 'हे मेरी तुम' काव्य संग्रह की भाषा बड़ी चित्रात्मक और ध्वन्यात्मक है। कविता पढ़ते समय ऐसा लगता है कि जैसे आप उस भावस्थितियों में पड़े हों और उसे वास्तविक रूप में अनुभूत कर रहे हो। कथ्य का वातावरण पूरी तरह पाठक के मानस को घेर लेता है। कविताएं स्वयं में भावों तथा विचारों की पूर्णता लिए हैं। अतः कहा जा सकता है कि इस काव्य संग्रह की कविताएं कथ्य और भाव दोनों कला शक्तियों से लोगबाग पर प्रभाव छोड़ती हैं।

7. मुंबई का रक्तस्नान

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन सितंबर, 1981 ई. में हुआ था। यह काव्य रचना 1946 ई. में मुंबई नौसैनिक विद्रोह का जीता-जागता वीर-रस में वर्णन है। यह रचना 1946 ई. में 'हंस' पत्रिका के अगस्त अंक में प्रथम बार छपी थी। कवि ने यह सर्जना अंग्रेजों की गुलामी के विरुद्ध हुए प्रसिद्ध नौसैनिकों की बगावत से अनुप्राणित हो कर किया था। क्योंकि यह विद्रोह अपने अधिकारों के लिए बगावत का बिगुल था। इसका वर्णन कवि ने बुंदेलखंड की प्रसिद्ध लोक शैली 'आल्हा' के तर्ज पर किया है। यह कवि केदार द्वारा 25 पृष्ठों का सफलता पूर्वक रचा हुआ, वीर रस का प्रबंध काव्य है। जिसमें पूरे काव्य में बुंदेलखंड के आस-पास की बोली जाने वाली बुंदेलखंडी बोली के शब्दों का कलात्मक प्रयोग किया गया है। इस लम्बी कविता में देश की गुलामी की दुर्दशा को चित्रित किया गया है।

देश की जनता धर्मों, जातियों में बंटी हुई है, जिसका विदेशी हमेशा लाभ उठाकर इस देश को गुलाम बनाते रहे हैं। कवि देशीय एकता को शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है-
नौसैनिकों बलिदान के सम्मान में जनता कैसे खड़ी है, देखें इसे आल्हा शैली में-

यादगार माँ उनके साथिव ! एक इमारत किहेव तयार।
जौन अमर राखै कीरति का जैहिका द्याखै सबु संसार।।
वहि कै ऊपर तीनिव झण्डा खून में भीज दिहेव फहराय।
तीनिव दल के अनुयायिन का एकुइ तीरथ दिहेव बनाय।।[51]

इस 'आल्हा' काव्य में नौसैनिकों की बहादुरी, देशभक्ति, राष्ट्रीय एकता, मजदूरों के हड़ताल और नौसैनिकों का समर्थन, देशभक्त नौसैनिकों और मजदूरों के जीवन-मरण की कहानी है। इसको पढ़ने से आल्हा शैली में गाये जाने वाले, आल्हा-ऊदल की वीरता तरो-ताजी हो जाती है। उसी वीर रस शैली में यह पुस्तक पूरे नौसैनिक विद्रोह का रसास्वादन कराती है। इससे केदारनाथ अग्रवाल की लोक संस्कृति की गहरी अनुभूति भी प्रकट होती है। आल्हा लिख कर कवि ने लोक विरासत को आगे बढ़ाने तथा उसे गौरवान्वित किया है। अतः यह पुस्तक केदार की परंपरा को जानने के लिए अपने आप में अद्वितीय है।

8. कहें केदार खरी खरी

प्रस्तुत काव्य संग्रह के प्रकाशित होने से पहले केदार के इसके पूर्व प्रकाशित काव्य संग्रहों द्वारा उनकी छवि एक लोक नायक कवि के रूप में स्थापित हो चुकी थी। विशेष कर उनका काव्य संग्रह 'फूल नहीं रंग बोलते हैं'। किंतु डॉ. अशोक त्रिपाठी के संपादन में जब यह काव्य संग्रह 1983 ई. में प्रकाशित हुआ तो इनके व्यक्तित्व व कृतित्व में चहुंमुखी विस्तार हुआ। इस काव्य संग्रह के प्रकाशन के बाद यह पूर्णरूप से स्थापित हो गया कि कवि केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिवादी लोक कवि हैं।

प्रस्तुत काव्य संग्रह में 1946 से लेकर 1977 ई. तक का युग बोलता है जिसमें कुल 101 कविताएं संकलित हैं। किसी भी रचना की विशेषता का मापदण्ड होता है कि-

1. रचना का अपने युग से संपृक्त होना।
2. अपने समय की कोख से पैदा होना।
3. उस समय के मनुष्य के दुख-दर्द व हर्ष-विषाद की मूकता को वाणी देना।

उर्युक्त विशेषताएं केदार जी के इस काव्य संग्रह में पाई जाती हैं। इस काव्य संग्रह की कैफियत के संपादक डॉ. आशोक त्रिपाठी ने लिखा है कि इस संकलन में केदार जी की राजनीतिक, सामाजिक व्यवहारों पर सटीक व्यंग्य करने वाली कविताएँ संगृहीत हैं। डॉ. आशोक त्रिपाठी लिखते हैं कि "केदार जी धरती के कवि हैं। खेत, खलिहान, कारखानों और कचहरी के कवि हैं। इन सबकी पीड़ा, दुख, संघर्ष और हर्ष के कवि हैं। वह पीड़ित और शोषित मनुष्य के पक्षधर हैं। वह मनुष्यता के कवि हैं। कविता में मनुष्य और मनुष्यता की तलाश के कवि हैं। वह मनुष्य बनना चहते हैं, देवत्व उनकी कामना नहीं हैं। क्योंकि उनका विश्वास 'परम स्वार्थी देव सब' पर से उठ गया है। मनुष्य बनना और बनाना ही उनके जीवन की तथा कवि कर्म की सबसे पड़ी साध है तथा साधना भी।"[52] केदार ऐसे कवि हैं जो समय के साथ चलते हैं तथा सामयिक चाल-चलन से भविष्य का सफल अनुमान लगा लेते हैं।

राजनीति नंगी औरत है

× × ×

कभी किसी के, कभी किसी के

गले झूल कर मुस्काती है।[53]

कहा जाता है कि 'भारत में अनेकता में एकता है', किंतु यह जो अनेकता है? उसके बहुत दुखगामी परिणाम होते हैं। प्रायः देखा जाता है कि गरीबों और निम्न जातियों को स्वार्थ-लालच या ईर्ष्या-द्वेष के सहारे बहुत आसानी से लड़ाया जा सकता है। जिसके कारण वे उभय हित के कार्य में भी साथ नहीं खड़े हो पाते हैं। इस विभाजन की प्रवृत्ति का लाभ अपने स्वार्थ हित में ऊपर बैठे लोग उठाते हैं। इस लिए केदार के सामने भी अनेकता की समस्या है। जिसके

कारण सर्वहारा हितों को नुकसान पहुँच रहा था। कवि सर्वहारा को एकता की शक्ति सिखाना चाहता है। इस काव्य संग्रह की कविता 'एका का बल' में यह भावना देखी जा सकती है।

डंका बजा गाँव के भीतर,
सब चमार हो गए इकट्ठा।
× × ×
यहीं रहे हैं, यहीं रहेंगे,
और मजूरी पूरी लेंगे।[54]

'कहें केदार खरी खरी' एक ऐसा काव्य संग्रह है जिसमें आम लोगों के दुख, दर्द, पीड़ा, निस्सहायता, नफरत, शोषण और कभी न टलने वाली समस्याओं से दबे मानव को देखा जा सकता है। वह मानव जो चारों ओर से बंधनों से बंधा है, जो खुद को मुक्त करना चाहता है, जो चिल्लाना चाहता है। परंतु न चिल्ला सकता है, न मुक्त हो सकता है, विवश है, वह बोझ भरी जिंदगी को ढोने के लिए। किस प्रकार वे लोग जो समाज के ठीकेदार बनते हैं, नेता कहलाते हैं। दुनिया बदलने की बात करते हैं। किंतु उनका असली चेहरा कैसा है-

हमतो उनकौ वोट न दैबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
रोटी कपड़ा लत्ता खातिर,
जो हमका तरसाईन हैं।।
अरजी का फरजी कर दीन्हिन,
गरजी जान भगाइन हैं।
आजादी के टोपीधारी,
हमका भीख मँगाइन हैं।।[55]

केदार को उस समय बहुत कष्ट होता, जब वे न्यायालय में सच को पराजित होते हुए देखते। यह जानते हुए कि सच क्या है? न वे उसे हारने से रोक पाते और न न्याय करने के लिए बैठे जज कभी सच को न्याय दे पाते। यह बात पेशे से वकील केदार को बहुत खलती। औसत भारती सत्यवादी होता है। वह सत्य के साथ चलना चाहता है, किंतु छली और झूठे लोगों द्वारा वह ठगा जाता है, सच हर जगह विशेष कर न्यायालय में पराजित होता है। यह सब यथार्थ केदार, जनता को बताना चाहते हैं, उसे जागरूक करना चाहते हैं। इस लिए केदार की सबसे बड़ी समस्या 'झूठ मरे तो कैसे' है-

सच के पाँव उखड़ते
झूठे के जब झंड़े गड़ते
सच जीते तो कैसे
न्याय मिले तो कैसे।[56]

अतः हम कह सकते हैं कि 'कहें केदार खरी खरी' ऐसी कविताओं का संग्रह है जो टूटे हुए मूल्यों के सच्चे रूपों को जनता के सामने लाती है। जनता को यथार्थ का बोध कराती हुई, उसे खुद का आईना दिखाने वाली कविताएं हैं। कवि जनता के समक्ष झूठे और खोखले आदर्शों की झूठी अवधारणा को पूरी तरह खोल देता है ताकि जनता जागरूक और सचेत हो। शिल्प की दृष्टि से रचना में उत्तरोत्तर सघनता और जीवंतता बढ़ी है। कविता में रचना-प्रक्रिया लगातार विकसित होती गई है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यह एक बहुत उच्च कोटि का काव्य संकलन है।

9. जमुन जल तुम

इस काव्य संग्रह में 1947 ई. के बाद की प्रेम-प्रणय भरी कविताएं हैं। उसके पहले कवि की इस प्रकार की कविताएं 'नींद के बादल' काव्य संग्रह में प्रकाशित हो चुकी थीं। इस पुस्तक का प्रकाशन 1984 ई. में हुआ। इसमें कुल 110 कविताएं संकलित हैं जो 24 जनवरी 1932 से 30 सितंबर 1976 के बीच लिखी गईं। इस संग्रह में कवि का पत्नी के प्रति स्वकीया प्रेम की खुली अभिव्यक्ति हुई है। संकलन की रचनाएँ सरलता, कोमलता, प्रेम और माधुर्य भाव से भरी-पूरी पटी हैं। इस संग्रह की एक कविता 'जमुन जल तुम' के नाम पर इसका नामकरण किया है।

कवि केदार अपने काव्य सृजन के आरंभिक दिनों में 'बालेंदु बी.ए.' के नाम से कविता लिखते थे। उनके इसी नाम से उनकी अनेक रचनाएं तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। उनकी कविताओं का मुख्य स्वर प्रेम और प्रकृति रहे हैं। कवि अपनी कविताओं से प्रेम को समाज में चारों ओर फैला देना चाहता है। कवि की कुछ ऐसी कविताएं भी इस संकलन की शोभा बनी हैं। प्रगतिशील कवियों पर प्रायः आरोप लगता है कि उनकी कविताएं केवल राजनीति, मजदूर और शोषितों के इर्द-गिर्द ही घूमती हैं, उनमें प्रेम और प्रकृति की नीरसता होती है। किंतु दम्पति जीवन की प्रेम-प्रणय से भरी रचनाओं का संग्रह 'जमुन जल तुम' इन आक्षेपों को निराधार साबित करते हुए, गृहस्थ जीवन के मधुरस को प्रगतिशील ऊंचाई देकर उत्कृष्ट और अनुपम बना दिया है-

उसने मेरी सेज सजायी
सेज सजाकर अंग मिलाया
ओंठों को रस पान कराया।[57]

कुछ रूढ़िवादी लोग ऐसी कविताओं को नारी के स्थूल सौंदर्य और दैहिक आकांक्षाओं की तृप्ति से जोड़कर इन रचनाओं की आलोचना भी करते हैं। किंतु डॉ. रामविलास शर्मा केदार की प्रेम-प्रणय कि कविता के बारे में लिखते हैं कि "केदार की प्रेम संबंधी कविता उनकी राजनीतिक कविता से कहीं, बहुत गहरे जुड़ी हुई है। जैसी निष्ठा देश की जनता के प्रति है, वैसे ही अपने

जनपद के प्रति है, वैसी ही अपनी जीवन संगिनी के प्रति।"[58] इसके साथ ही कवि भारत की स्वकीया प्रेम की श्रेष्ठ लोक परम्परा आजीवन-दंपति प्रथा द्वारा सीता, राधा और गौरी से अपनी प्रिया प्रियंवदा पार्वती को जोड़ देता है-

मैं, तुमें, बाँधे हुए हूँ
बाँह में;
तुम जियो मेरे नयन की
छाँह में।[59]

आलोच्य काव्य संग्रह की 'प्यारी! तारों का आलोक'; 'आती हूँ'; 'प्रेम-तीरथ'; 'है न इतना गीत में रस'; 'यौवन की पीड़'; 'प्राणमयी मुस्कान भरी'; 'जमुन जल तुम' और 'मैं रणोद्यत हुआ' आदि अत्यन्त लक्षणात्मक, लोक-संवेदनात्मक और यथार्थवादी कविताएं है जो इस काव्य संग्रह को प्रगतिशील श्रेष्ठतर काव्य संकलनों में और सभी प्रकार के काव्य संकलनों में ऊंचा स्थान दिलाती हैं। डॉ. राम किशोर शर्मा 'जमुन जल तुम' के संदर्भ में लिखते हैं कि "केदार जी की काव्ययात्रा मूलरूप से मानव-मुक्ति के मार्ग को तलाशने का परिणाम है। पीड़ा और बेचैनी के बावजूद वे मनुष्य के नव निर्माण के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हैं। उनमें मानवीय बोध का वृहत्तर फलक उभरता है और अन्ततः वे स्वयं अपनी रचनाशीलता के दायित्व और लक्ष्य को निर्दिष्ट करते हैं। वे देह से जुड़कर इन्द्रियों को जीवन्त बनाए हुए, सूर्योदयी मुस्कान अपनाने के लिए सौंदर्य को चूमने की स्पृहा से मानवीय बोध की फसल उपजाने के लिए रम्य, रचनाओं की संपदा को सरसाने के लिए रचनारत होते हैं।"[60]

इस काव्य संग्रह में घरेलू जिंदगी की तपन, झंझा, पीड़ा से मुक्त कराने वाली शक्तिदायनी प्रेमलेप रूपी प्रणयानंद का फूल खिला है, जहाँ से हर रात के पश्चात नया सबेरा होता है। यद्यपि इस संग्रह की अधिकांश रचनाएं कवि के आरंभिक दौर की रचनाएं हैं किंतु ये तत्कालीन छायावाद के प्रभाव से मुक्त नई दिशा की ओर उन्मुख दिखाई देती हैं।

10. अपूर्वा

आलोच्य काव्य संग्रह का प्रकाशन सन 1984 ई. हुआ। इस संकलन में 23 जनवरी सन 1968 ई. से लेकर 5 अगस्त सन 1982 ई. तक की कुल 63 लघु कविताएं संकलित हैं। प्रस्तुत काव्य-संग्रह को 1986 ई. में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसकी भूमिका में केदारनाथ अग्रवाल स्वयं इस काव्य संग्रह में संकलित कविताओं के बारे में लिखते हैं कि "मैं कविता की सांस्कृतिक सार्थकता का समर्थक कवि रहा हूँ और अभी भी हूँ। इससे मेरी कविता उतनी ही मेरी है जितनी की दूसरों की।"[61]

अपूर्वा में संग्रहित कविताएं विभिन्न समयों अर्थात 15 वर्षों की कालावधि में विभिन्न विषयों पर लिखी कविताएं हैं। ये कविताएं आकार में छोटी और सपाट हैं, पर इस सपाटबयानी

में भी जीवन के गहरे सत्य का उद्‌घाटन किया गया है। इनकी सत्य की पकड़ ही इनका प्राण है। ये कविताएं सामान्य आदमी को उसके कर्तव्यों का समुचित बोध कराती हैं। केदार के अन्य संग्रहों की तरह 'अपूर्वा' में भी प्रकृति और मनुष्य के अनेक प्रकार के चित्र उकेरे गए हैं। इस काव्य संग्रह की कविताओं को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है-

1. मानव के दायित्व बोध संबंधी।
2. राजनीति और शासन संबंधी।
3. प्रकृति संबंधी।

मानव के दायित्व बोध संबंधी कविताओं में दायित्ववान की हार और दायित्वहीनों के सफल छल-प्रपंच को दिखाया गया है। कविताओं में प्रगतिशीलता के तत्व भरपूर हैं, क्योंकि लोक जीवन की छटपटाहट, खिन्नता और व्यवस्था के सड़-गल जाने के कारण मरम्मत का संवेग भी है। केदार की मुख्य चिंता आदमी के गिरते नैतिक मूल्यों को लेकर है। क्योंकि मूल्यहीन समाज जानवर से भी नीचे गिर जाता है और तेरी मेरी की लड़ाई में सतत नीचे गिरता जाता है। ऐसे समाज में किसी भी प्रकार से जीवन का उत्थान संभव नहीं है। केवल पिसता, झेलता और आँसू बहाता प्राणी अपनी समस्याओं के लिए ईश्वर को जिम्मेदार मान कर, मनौतियों जैसे अंधविश्वासों के सहारे जीवन-नर्क का समाधान खोजता है। कवि को आदमी में आदमीयत नहीं केवल पशुता दिखाई पड़ती है। पशुता से जगत सुंदर नहीं बन सकता अतः क्रांतिकारी परिवर्तन ही इस दशा में सुधार ला सकता है-

जहाँ
आदमी
आदमी होता है,
वहाँ
आप नहीं-
आपके आदमी होने का धोखा होता है।[62]

समाज और सत्ता में राजनीति की बढ़ती ताकत की कुरूपता बढ़ रही है। स्वतंत्रता, समानता और सर्वेभवंतु सुखिनः के स्थान पर चापलूसी और चाटुकारिता का बढ़ता महत्व किस प्रकार पूरी व्यवस्था को चाट रहा है। प्रशासन जिसका काम है जनता के हितों का खयाल करना, आजादी का लाभ लोगों तक पहुंचाना, अधिकारियों को सेवक और लोक हितैषी के रूप में काम करना, क्या कुछ भी बदला? सरकारी मशीनरी केवल सत्ताधारियों के तलवे के नीचे पलने वाली एक गैर-जिम्मेदार संस्था बन कर रह गई है। आम आदमी से उसका सरोकार कहां रहा है? प्रशासन केवल नेताओं के लिए उनके स्वार्थों को साधने का औजार बन गया है। जब जनता अपना अधिकार मांगने की कोशिश करती है तो प्रशासनिक इकाइयां जनता को ही रोक देने का कार्य करती है। गांवों में थानों की हाल देखें-

गांव में थाने
और थाने में सिपाही हैं
थानों के जियाये
राज-तंत्र से सिपाही हैं
जनता को मिटाए
मार-तंत्र के सिपाही हैं।[63]

इस संग्रह में अनेक प्राकृतिक उपादानों नदी, पेड़, मौसम, कलियां, फूल आदि के माध्यम से कवि ने गाँव की सोंधी महक, खेतों और खलिहानों की चहक, लोक जीवन की महक को बिखेरा है। इन्होंने ऐसे दृश्य बिंब खींचे हैं कि पूरा गांव-गिरांव अपने शोभित रूप में प्रकट होता है। वहां शोषण, अपराध, छल, माया सब है। किंतु सब के बावजूद प्रकृति का मनोहारी रूप भी है। अतः उसी आशा को जगाने और मिलकर पाने का आग्रह है-

पेड़ महोदय!
कलियाँ खोलो,
कुछ तो हमसे
हँस कर बोलो।[64]

कुल मिलाकर अपूर्वा में प्रकृति के सौंदर्य को निखारती कविताओं के अलावा राजनीति, प्रशासन, मानव के जीवन में बढ़ रही शोषण, स्वार्थ और दायित्व विहीन प्रवृत्तियों से ग्रस्त सत्ता की सड़क पर परेशान सज्जन है। दूसरी ओर वहीं मालामाल स्वार्थी समाज जो खुद की बिछाई चाल में उलझ-उलझ कर दम तोड़ रहा है। किंतु शून्य-दृष्टि और खल-चरित्र की वजह से नरक में भी क्षणिक सुख की अनुभूति करता हुआ वह आलोच्य काव्य में दिखाई पड़ता है। इस छटपटाहट में वह फूहड़ अँधेरे में भटक रहा है। फिर भी इस काव्य में चेतना का उजेला भी दिखाई दे रहा है।

11. बोले बोल अबोल

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन 1985 ई. में परिमल प्रकाशन द्वारा किया गया था। इस संग्रह में कुल 106 कविताएं संकलित हैं। इन कविताओं की रचना अवधि अप्रैल 1963 से जुलाई 1985 ई. के बीच की है। इस काव्य संग्रह में कुल 183 पृष्ठ हैं। केदारनाथ अग्रवाल के अन्य काव्य संग्रहों की तरह इसमें भी छोटी, बड़ी, सामाजिक, राजनीतिक, प्रगतिवादी कविताओं के अलावा उनके वैयक्तिक अनुभूतियों की कविताएँ भी हैं। इस काव्य संग्रह का नाम इसमें संग्रहित कविता बोले बोल अबोल के नाम पर रखा गया है। यह कविता स्टारवार से संबंधित है। इस काव्य संग्रह की भूमिका में कवि स्वयं की विचारधारा को व्यक्त करते हुए, संकलित कविताओं को उसकी उपज बताया है। उनका मानना है कि प्राकृतिक सृष्टि का अस्तित्व मानव

के अस्तित्व से बहुत पहले का है। प्रकृति का अपना प्राकृतिक नियम है जो कार्य-करण के सिद्धांतों पर आधारित है। इस प्रकृति में अण्डज, स्वेदज और उद्भिज प्रकार की उत्पत्तियां होती रहती हैं। आदमी भी इसी विकास क्रम में अस्तित्व में आया और इसी प्रकृति परिवेश में जीने लगा। समूह में रहते हुए उसने कुटुम्ब और कबीले से होता हुआ, आज वैश्वीकरण के युग में आ पहुँचा है।

इस प्रकार केदारनाथ अग्रवाल ने भौतिक संघर्षों से संसार के विकास की बात बताने की कोशिश किया है। कवि ने मानव के जीवन विकास को तीन जीवन दर्शनों में बाँटा है- प्रथम प्राकृतिक जीवन दर्शन, दूसरा भाववादी या काल्पनिक जीवन दर्शन और तीसरा भौतिकवादी जीवन दर्शन। तीसरे दर्शन को कवि ने जन-मुक्ति का दर्शन कहा है। कवि का उपर्युक्त विचार इस संग्रह की प्रमुख कविताएं- 'न्याय का पारा गिरा', 'जंगली जनतंत्र', 'सूर्य नहीं डूबता साहब', 'नहीं सहारा रहा', 'लीला के बाद', 'गिर रहे हैं' तथा 'दुख ने मुझको' आदि कविताओं में देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत है उनकी कविता 'न्याय का पारा गिरा' जो वर्तमान समय में भी खरी उतरती है-

न्याय का पारा गिरा
नीचे
और नीचे गिरा;
शून्य तक पहुँचा;
सत्य की हार
और झूठ की
जीत हुई
मौसम
खराब है
गिरावट का,
मातम की मिलावट का।[65]

इस प्रकार हम देखते हैं कि केदार के समय न्याय का पारा गिर कर शून्य पर पहुँचा था। किंतु वर्तमान समय में न्याय ठिठुर कर रह गया है। जहाँ पर पैसे की जीत होती है और झूठ के सामने सत्य छिप गया है। योग्यता, चरित्र, सच्चाई जैसे सात्विक गुण कमजोरों को बहकाने के साधन बन गए हैं। धनबल सबसे बड़ी योग्यता है- उदाहरण के तौर पर मेडिकल, इंजीनियरिंग, मैनेजमेंट आदि की सीट बिकती है, पद बिकते हैं, पुलिस, जज, मंत्री भी बिकते हैं, यहाँ तक की वोट भी बिकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि केदार जनता को वास्तविक संसार दिखा कर उसमें अधिकारों और कर्तव्यों की चेतना पैदा कर, एक नए सभ्य समाज का निर्माण करना चाहते हैं। क्योंकि गिरावट कुछ समय के लिए अच्छी अवश्य लगती है किंतु

उसमें स्थायित्व नहीं होता है। वह तभी तक स्थायी है जब तक जनता विमुख है। केदारनाथ उसके सम्मुख सब कुछ खोल देना चाहते है। इसलिए कवि वह बोलता है जिसे अबोल यानी बोलना उचित नहीं समझा जाता है।

'गिर रहे हैं' कविता में कवि आशान्वित है कि सब अलगाव और बिलगाव के आधार टूट रहे हैं। आने वाले दिनों में स्वेद से ही सुख पसीजेगा। 'जी कहता है' कविता में कवि इस लौकिक दुनिया को सबसे सुंदर बनाने की बात करता है और किसी अलौकिक संसार से इहलौकिक संसार की महत्ता स्थापित करता है। कुल मिलाकर प्रस्तुत काव्य संग्रह प्रगतिशील आस्था का दस्तावेज़ है। इस संग्रह की सभी कविताएं जनता को जगाने का सच्चा प्रयत्न हैं, किंतु जन में व्याप्त दुष्वृत्तियों, कुरीतियों आदि को खोलने और मिटाने की कोशिश भी है। इस प्रक्रिया में कवि टूटता भी है किंतु जागृति फैलाना अपना कर्तव्य भी मानता है। इसलिए कविता की ममता से वह अपनी पीड़ा को भर लेता है। पुनः कविता के सहारे नए सबेरे का सूर्य उगाता है अर्थात आशा का जन-जन में संचार करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि इस संग्रह की कविताएं आशावाद की कविताएं हैं।

12. जो शिलाएँ तोड़ते हैं

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन सन 1986 ई. में परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा किया गया। संप्रति इसका प्रकाशकीय अधिकार साहित्य भण्डार, इलाहाबाद के स्वामित्व में है। इस काव्य संग्रह में केदारनाथ अग्रवाल के शुरूआती दौर की कविताएं संग्रहित हैं। इसके संपादक अशोक त्रिपाठी का कहना है कि 'इस काव्य संग्रह के अध्ययन से हमें केदारनाथ अग्रवाल में विकसित होते कवि को पहचानने में मदद मिलेगी'। इस काव्य संग्रह में सन् 1931 से 1948 ई. तक की अप्रकाशित रचनाओं को संजोया गया है। ये रचनाएँ केदारनाथ अग्रवाल के 65 वर्षों के रचना-यात्रा के विकासमान रास्ते को दिखाती है। इन से यह भी स्पष्ट होता है कि कवि की जन पक्षधरता एक मौसमी उबाल नहीं है, बल्कि उसके पीछे एक संघर्षपूर्ण, सार्थक, सुदीर्घ रचना परंपरा है।

प्रस्तुत काव्य संग्रह में कुल 138 रचनाएं संग्रहित हैं तथा कुल पृष्ठों की संख्या 199 है। इस काव्य संग्रह का नाम इसमें संगृहीत अंतिम कविता 'जो शिलाएँ तोड़ते हैं' पर दिया गया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि इस काव्य संग्रह में कवि के प्रारम्भिक दौर की कविताएँ संग्रहित हैं जैसे- 'प्रेम निवेदन', 'आराध्य', 'माँ कौन वहाँ रहता है', 'दीप-शिखा', 'माँ के प्रति' आदि। प्रारम्भिक कविताओं में कवि को तुकबंदी गढ़ते हुए देखा जा सकता है। ये उस समय की कविताएँ हैं जब कवि काव्य के पथ पर चलना आरम्भ किया था। उस समय कवि तत्कालीन कवियों से प्रभावित हो कर उनके मार्ग का अनुसरण करता हुआ दिखाई देता है। 'विवशता' कविता का उदाहरण प्रस्तुत है-

इस राह को जाना नहीं है भला इसको हम पूर्व से जानते हैं,
दिल टूटते हैं चल थोड़ी-सी दूर इसे हम सत्य ही मानते हैं।
फिर भी इस शूल भरे पथ पै हम दौड़ने की हठ ठानते हैं,
कर ही सकते पर क्या हम हैं जब एक ही पथ जानते हैं।।[66]

अभिलाषा, कामना, आधुनिक शंकर आदि कविताओं में हम देख सकते हैं कि कवि पूरी तरह आस्तिक है, भाववादी है, ईश्वर में भावनात्मक विश्वास करता है, यहाँ तक की मानव पर दैवीय चमत्कार की अपेक्षा भी करता है। इस प्रकार इस काव्य संग्रह की कविताओं में केदारनाथ अग्रवाल का भावबोध जो एक औसत हिंदू का होता है, वही है। किंतु इनकी चेतना शक्ति सत्य और सही की तलाश करती आगे बढ़ती दिखाई देती है। उसी प्रकार जिस प्रकार प्रेमचंद आदर्श से यथार्थ की और बढ़े हैं। "पति की टेक" कविता में सामान्य पति की जो अपेक्षाएं अपने पत्नी से होती है, उसे कवि ने यथार्थतः प्रकट किया है। यहां स्त्री देवी नहीं बल्कि पुरुष की वासना को तृप्त करने वाली वस्तु है। इतना सटीक और सच्ची पुरुषवादी सोच का प्रकट करना ही कवि का मानवता की ओर एक कदम बढ़ाने का प्रमाण है। दूसरी ओर "गाँव की औरतें" कविता में औरतों की वास्तविक स्थिति का यथार्थ वर्णन कर, उनकी दशा को समाज के सामने लाने का महान कार्य किया है-

गंदी कोठरियों में हाँफती
खाँसती, खसोटती रूखे बाल
घीसती हैं जाँता....
सूखा पिसान फाँक-फाँक कर,
पीठ पेट एक कर हाँड़ तोड़
मरती हैं.....।[67]

कविता की संवेदना के स्तर से पता चलता है कि कवि बदलाव करना चाहता है। वह समाज को बदलना चाहता है। उसके मन में आम आदमी की पीड़ा बसी है। उस पीड़ा को उजागर कर लोगों को यह बताना चाहता है कि यह पीड़ा, कष्ट, दुर्दशा बनावटी है। इसे बदला जा सकता है। इसके लिए वह अपनी कविताओं को माध्यम बनाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि वह बदलाव के रोड़ों को भी जानता है। इस लिए कवि अपनी तरह से जन-नवजागरण करने का प्रयास करते हुए दिखाई देता है।

धीरे-धीरे कवि केदार की अलौकिक आशाएं टूटती हैं और वे अपने कविता के माध्यम से नास्तिकता की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं। 'आदमी और ईश्वर' कविता में, वे ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देते दिखाई पड़ते हैं-

ईश्वर को आदमी ने जन्म दिया,
ईश्वर ने आदमी को नहीं दिया।[68]

'लाल मिट्टी', 'नई जवानी', 'कलकत्ते की दशा' और 'जो शिलाएँ तोड़ते हैं' आदि कविताएँ पूरी तरह लोक-जीवन की ओर उनके झुकाव और विश्वास को व्यक्त करती हैं। इस प्रकार देश की स्वतंत्रता के बाद उनके सपने टूटते दिखाई पड़ते हैं और देश की समस्याओं का समाधान उन्हें समाजवादी क्रांति में दिखाई पड़ता है। प्रस्तुत काव्य संग्रह की अंतिम कविताएँ कवि केदार के अंदर हुए परिवर्तनों की घोषणा करती हैं। यद्यपि इस मार्ग तक की काव्य यात्रा में वह कसावट और शिल्प सौन्दर्य उनकी कविताओं में नहीं मिलता है जो उनकी परवर्ती कविताओं में देखने को मिलता है।

13. आत्मगंध

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन कवि केदारनाथ अग्रवाल की प्रिया-प्रियंवद (पत्नी) की मृत्यु के पश्चात 1988 ई. में प्रकाशित हुआ। 'नींद के बादल', 'हे मेरी तुम', 'जमुन जल तुम' की परंपरा का कनिष्ठ काव्य संकलन है। इस काव्य संग्रह में कुल 151 कविताएँ संकलित हैं। जो सन 1964 ई. से सन 1987 ई. के बीच लिखी गई थीं। किंतु इस काव्य संकलन की अधिकांश रचनाएँ 1986-87 के उस समय की है जिस समय उनकी प्रिया पार्वती मृत्यु शैया पर जीवन और मरण का संघर्ष कर रही थीं। उनकी मृत्यु 28 जनवरी, 1986 को हुई थी। अतः ये सुगंधित कविताएँ 1986 से 1987 के बीच कवि की मनोदशा और पत्नी-प्रीति-अनुभूति की रचनाएं हैं। इसमें केदारनाथ अग्रवाल ने प्रेम के नैसर्गिक स्वरूप को रूपायित किया है। कवि का प्रेम लौकिक और समाज को बदलने की चाहत से भरा है। उनके लिए प्रेम एक हथियार है जिससे वह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहते हैं। 'कुछ हैं' कविता में कवि के उद्देश्यों और आशावाद को देखा जा सकता है-

परिस्थितियाँ अवश्य बदलेंगी
श्रमशील जनता अवश्य संघर्ष करेगी
× × ×
यथार्थवाद का संसार
चेतना का श्रेष्ठ संसार बनेगा
प्रेम और सौन्दर्य का
जहां राज्य रहेगा।[69]

प्रस्तुत काव्य-संग्रह की भूमिका में स्वयं केदार घोषित करते हैं कि 'उनका जीवन वैज्ञानिक चेतना को आत्मसात करने वाला जीवन है। उन्होंने जीवन से प्रेम किया है। जीवन से दूर भागना अर्थात परमसत्ता में लीन होकर जगत से मुक्ति का प्रयास, जगत को यथास्थितिवादी बनाता है।' यथास्थितिवाद परिवर्तन के विरूद्ध एक प्रकार की विचारधारा है, जो पीड़ित, शोषित और पिछड़ों के पक्ष में नहीं है। कवि का परम उद्देश्य ग्रामीण, गरीब,

शोषित और पिछड़ों को जीवन की मुख्यधारा से जोड़ना है। अतः कवि अनुसार परिवर्तनवादी विचारधारा का प्रसार होना आवश्यक है, इस लिए उन्होंने बदलाव वाली कविताएँ रची हैं। कवि ऐसी व्यवस्था को बनाना चाहता है जो बंधुता, समानता, न्यायप्रियता और विकास के अवसर उपलब्ध कराने की क्षमता रखती हो तथा आदमी को इसी संसार में सांसारिक दुखों से मुक्त करने और कराने के लिए प्रतिबद्ध हो। कवि का मानना है कि सच्चा लोकतंत्र तभी आएगा जब आदमी, आदमी को प्यार करेगा और समाज एवं देश के कल्याण की भावना होगी। ऐसी व्यवस्था में न कोई किसी का शोषण करेगा, न कोई किसी का क्रीतदास होगा। लोग जीएंगे और दूसरों को जीने देंगे।

"मैं कवि हूँ, पत्नी प्रेमी हूँ। इस संसार में ही वर्षों-वर्षों रहना और जीना चाहता हूँ।"[70] इस प्रकार इस काव्य की कविताएँ, अपनत्व के गंध की तलाश की कविताएं हैं। 'फिर मुसकाई' कविता में दंपति प्रेम के सुख को गहराई से अनुभूत किया जा सकता है-

फिर मुसकाईं
प्रिया पोपले मुँह से अपने।[71]

अतः कहा जा सकता है कि केदारनाथ अग्रवाल का प्रस्तुत आत्मगंध काव्य संग्रह जीवन की सच्ची अनुभूतियों को उकेरने वाला काव्य संग्रह है। इस संग्रह की हर कविता में यथार्थ और सच्चे जीवन की गंध बसी है। केदार का यह आग्रह कि 'धरती ही स्वर्ग है और यदि नहीं है तो उसे स्वर्ग बनाया जा सकता है।' प्रस्तुत काव्य संग्रह मानव जाति को धरती के स्वर्ग तक पहुँचाने का संपूर्ण प्रयत्न है। जिसमें छोटे छोटे घरेलू प्यार और त्याग मनुष्य को पूर्ण होने का बोध कराते हैं। उनका प्यार स्वकीया है। पत्नी की मृत्यु के पश्चात भी उन्हें उनका संबल मिलता रहा है। अतः आत्मगंध केदार की आत्मा और उसके परिवेश के महक की रचना है। इसलिए न रहने पर भी उसकी अनुभूति कवि के जीवन को संवारती रहती है।

तुम आती हो
यहाँ नहीं जब कोई आता
जब आँखों में जल भर आता।[72]

14. अनहारी हरियाली

प्रस्तुत काव्य संग्रह केदारनाथ अग्रवाल के जीवन के अंतिम दौर में रचित परिपक्व रचनाओं का संग्रह है, जिसका प्रकाशन सन 1990 ई. में हुआ था। इसमें 27 सितंबर, 1987 से 25 सितंबर, 1990 तक की कविताओं को संकलित किया गया है। जिसमें कुल 99 कविताएं हैं। इस संग्रह में वृद्धावस्था की उलझनों और समस्याओं के बीच जूझते व्यक्ति द्वारा उसके जीवन की कमाई गई निधि रूपी कविताओं पर कुछ लोगों द्वारा लगाए गए आक्षेपों का प्रतिवाद है। इसके अतिरिक्त प्रकृति सौंदर्य विशेष कर नीलगिरी की पहाड़ियों की सुषमा और मद्रास की

बारिश का वर्णन मोहक है। लोक चरित्र और अभिजात्य चरित्रों की सच्चाई की पोल खोली गई है। दूरदर्शन, आकाशवाणी, कवि सम्मेलनों आदि पर काव्यमय प्रतिक्रिया की कविताएं भी संकलित है। इस काव्य संग्रह में मुख्यतः चार प्रकार की कविताएं पाई जाती हैं, जिन्हें निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. कविकर्म की समस्याएं
2. लोक और अभिजात्य चरित्र
3. उटी और प्रकृति का सौंदर्य
4. जनसंचार माध्यमों द्वारा प्रस्तुत सामयिक घटनाओं पर काव्यमयी प्रतिक्रिया

केदारनाथ अग्रवाल की कविताई पर कुछ लोगों ने आरोप लगाया था कि उनकी कविताओं में रूपवाद अधिक, जनवाद कम है। जिसका उत्तर वे स्वयं देते हैं। खुद के बारे में वे संकलन की भूमिका में लिखते हैं कि 'कविता ने मुझे आदमी बनाया'। और वे अपनी कविताओं के बारे में लिखते हैं- "मेरी कविताएँ आदमी को आदमी बनाने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। वह कविताएँ मेरी होकर भी दूसरों की होती हैं। मैं उसी में अपनी मौलिकता समझता हूँ कि जो कुछ मैं लिखूँ, वह सत्यदर्शी बिंब हो, मेरा ही नहीं दूसरों का भी हो।"[73] अपने अनुभव की सच्चाई और मानवता की भलाई प्रकट करने वाली कविताओं पर अडिग होकर कबीर की तरह विरोधियों के ढकोसले को ललकारते हैं-

अब
मुझ
बूढ़े के
एकाकी मेरूदण्ड पर
अडिग खड़े तरु की तरुणाई
मुदित मंगला
अनहारी
हरियाली आई
छबि से छाई
.....
जितना मिला
दिया उतना ही
कम या ज्यादा नहीं किया
लेना है तो ले लो उतना
नहीं फेंक दो
मेरा दिया

रहेगा मेरा![74]

कवि कर्म की समस्या वृद्धावस्था में सभी कवियों को झेलनी पड़ती है, क्योंकि वह ऐसी अवस्था होती है, जब तन, मन दोनों साथ नहीं देते। ऐसे में काव्य-रचना के लिए अद्भुत मानसिक दृढ़ता की जरूरत होती है। ऐसे समय में अपनी कविताओं को सम-सामयिक विषयों से जोड़कर प्रस्तुत करना केवल एक प्रगतिशील और क्रांतिकारी द्रष्टा के ही बस की बात है। कवि केदार काव्य को भावना और स्वप्न लोक से निकालकर जन-लोक तक पहुंचाया है। उस में अपने आस पास के वातावरण, दिनचर्या में घटित होने वाली घटनाओं आदि को बखूबी व्यक्त किया है। अतः कहा जा सकता है कि कवि केदार अपने अंतिम क्षणों में भी अपने कदमों पर अडिग जगमगा रहे थे।

केदारनाथ अग्रवाल अपने क्षेत्र के लोगों के चरित्रों को यथार्थ रूप में चित्रित किया है और यह बताया है कि कैसे लोगों के चरित्रों से संस्कार, सद्भाव, स्वविवेक-बुद्धि खत्म हो गई है। लोग स्वार्थों के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार हैं, उसके परिणाम की उन्हें समझ नहीं है। लोगों में अंधविश्वास, अशिक्षा और अज्ञानता का तम इस प्रकार भरा हुआ है कि वे मरने मारने पर सदैव तैयार रहते हैं। क्योंकि आर्थिक, सामाजिक और नैतिक रूप से पतित समाज में मनुष्य नहीं पशु रहते हैं और पशुओं से मानव के गुणों की अपेक्षा करना मूर्खता है। कवि को कहना पड़ता है कि 'जंगली जानवर हो गए हैं, उनके क्षेत्र के लोग।'

शासक और अभिजात्य के चरित्र का पतन हो गया है किंतु वे पतित लोग धन और बल से समाज और व्यवस्था के उच्च पदों पर विराजमान है। जिससे लोगों का भी पतन हो गया है, लोग भी बुर्जुआ चरित्र अपना रहे हैं। क्योंकि बड़े लोगों को समाज अपना आदर्श मानता है, उनकी सफलता और धन-दौलत को देखकर लोग भी अभिजात्य-पतित चरित्र अपनाने लगे हैं। इस व्यवस्था में स्वार्थी और शोषकों की चारों और जीत हो रही है। जिस समाज का बौद्धिक और चारित्रिक पतन हो चुका होता है वहां अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकता और अत्याचार की कोई रोक नहीं होती। ऐसे समाज में अन्याय का बोल-बोला होता है। लोक समाज यानी सर्वहारा का दोहन और शोषण होता है, उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं होता। ऐसी व्यवस्था ताकत और मत्स्यन्याय पर आधारित होती है। भारतीय समाज के शासक चरित्र की झाँकी प्रस्तुत है-

तन के मधुमासी ये–
वासना-विलासी ये–
मायामुखी चाँदनी बिछाते हैं
शासकीय शोभा की
पूर्णिमा मनाते हैं–
झूम-झूम जाते हैं?

आसुरी व्यवस्था के
पोषक-प्रतिपालक ये–
लायक नालायक है।[75]

जिन्हें हम सभ्य कहते हैं, जो शासन और प्रशासन में हैं। जिनकी जिम्मेदारी बनती है कि समाज को, व्यवस्था को दिशा दे ताकि समाज और व्यवस्था कुशल और उपयोगी बन सके। स्वतंत्रता संघर्ष के यही सपने थे। किंतु सभ्य कहलाने वाला यह असभ्य-समाज ने दिशा तो दिया, किंतु उसकी दिशा स्वार्थों, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजा की ओर रही है। भेद-भाव, जाति, धर्म, क्षेत्र और भाषा आदि आधारों पर लड़ाने और घूस अर्जन की ओर रही है। इस प्रकार सभ्य समाज गोहुंअर चरित्र वाला बना हुआ है-

और हवा खाओ
मौज
और
मस्ती से
रोटियाँ चलाओ !
मुंह से शेर,
और दुम से
कुत्ता है वह-
छल और छद्म से जो,
आदमी की कुर्सी पर
चढ़ा हुआ
बैठा है।[76]

सूर्य, जाड़े, धूप, बारिश, निलगिरी के पहाड़ियां, मद्रास का जीवन उनके काव्य के मुख्य विषय इस संकलन में बने हैं। इन प्राकृतिक उपादानों का केदार ने अपनी कविता में सोद्देश्य उपयोग किया है। केदार जी को अपने पुत्र अशोक के साथ नीलगिरी पर्वत पर स्थित 'सेवाय होटल' में सप्ताह भर गुजारने का अवसर मिला। कवि ने वहां के प्राकृतिक सौंदर्य को अपनी कविता का विषय बनाया। मद्रास और वहां का जीवन कवि के काव्य में इस प्रकार झलकता है कि मानो वहां सैर कर रहे हों। धूप केदारनाथ को बहुत प्यारी थी, उसे वे महारानी कहते हैं, चतुर और सयानी भी मानते हैं। शीत रूपी दुख को दूर करने की कामना करते हैं, साथ में कला-कर्म में मदद की चाह रखते हैं-

अरे, धूप महारानी !
आओ आओ चतुर सयानी।

विश्व की दो महाशक्तियों अमेरिका और रूस के बीच मास्को निरस्त्रीकरण वार्ता गोर्बाचोव और रेगन के बीच हुई, उसके उद्देश्यों और सफलताओं में समाजवादी लोकतंत्र की सफलता की कामना है। दूसरी ओर मास्को रेडियो से प्रसारित स्तालिनकल्ट की ज्यादतियों और धांधलियों पर निराशा है। इस लिए संचार माध्यमों से जनता की शिकायतों को सरकार तक पहुंचाने का आग्रह भी करते हैं। दूरदर्शन पर रमेश कुंतल मेघ द्वारा संचालित कवि-सम्मेलन की सफलता और वाह-वाह के बीच गिरते हुए कवि सम्मेलनों के स्तर पर कविता लिखे हैं। दूरदर्शन पर शकुंतला फिल्म की प्रशंसा किए हैं। कृत्रिम परिवेश और जीवन पर प्रकृति जीवन और सौंदर्य की श्रेष्ठता स्थापित किए हैं। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण कविता है "दूरदर्शन पर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम" जिसमें प्रश्नकर्ता हैं साहित्य अकादमी के मंत्री श्री इन्द्रनाथ चौधुरी उत्तर दे रहे थे 'चेम्मीन और पल्लवन' उपन्यासों के लेखक केरलवासी मलयालम भाषी श्री पिल्लई। ऐसे प्रसंगों पर कविता लिखकर केदारनाथ जी ने अपनी काव्यकला को लोक जीवन तथा प्राकृत जीवन से जोड़ दिया है।

अनहारी हरियाली काव्य संग्रह में सत्रह दोहे भी संगृहीत हैं। कविता के विषय में वे स्पष्ट थे, वे कविता को जीवन से जन्मी और सत्य समर्पित बोध कहा है। शिल्प की दृष्टि से यह काव्य संग्रह पूर्ण सफल है। ग्रामीण शब्दावली के अतिरिक्त प्रचलित मुहावरों का भी खूब प्रयोग किया गया है। कविताएं छोटी, सटीक और कथ्य में पूर्ण हैं।

15. खुलीं आँखें खुले डैने

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन 1993 ई. में हुआ। इस काव्य संग्रह में सन 1969 से 1992 ई. तक की कविताएं संकलित हैं। यद्यपि संगृहीत कविताओं का विस्तार फलक लम्बा है, किंतु अधिकांश कविताएं नौवें दशक में ही रची गई हैं। इसमें कुल 82 कविताएं संग्रहित हैं। इस काव्य संग्रह की कुल पृष्ठ संख्या 112 है। प्रस्तुत काव्य संग्रह कवि केदारनाथ अग्रवाल के सच्चे जीवन अनुभवों का निचोड़ हैं, जिसमें वे अपने 81 वर्षों के लम्बे जीवन के अनुभवों को पिरोया है। इस कारण से यह काव्य संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य कृति बन गई है।

जैसा कि नाम से पता चलता है कि खुलीं आँखों से जो कुछ अनुभव निक्षेप हुआ है। वह डैने फैलाकर संसार के जीवंत प्राणियों तक पहुंचाने का सराहनीय कार्य है। कवि इस संग्रह में यह बताने की कोशिश किया है कि कविता "चेतना की रची हुई सृष्टि होती है।"[77] प्रस्तुत संग्रह में कवि ने लंबी भूमिका लिखी है, जिसमें उन्होंने जीवन और उसके उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है। मार्क्सवाद की सोवियत संघ में असफलता से कवि दुखी तो है किंतु निराश नहीं होता है। कवि का मानना है कि मार्क्स दर्शन मानव जीवन के विकास का श्रेष्ठतम वैज्ञानिक दर्शन है। इसकी असफलता उसके परवर्ती पालन कर्ताओं की असफलता है

प्रस्तुत संग्रह में संकलित कविताएं अपेक्षाकृत छोटी किंतु अत्यंत प्रभाव छोड़ने वाली हैं। बुर्जुआ सोच का चित्रण करती हुई यह रचना देखें-

उनको
महल-मकानी
हमको छप्पर-छान
उनको
दाम-दुकानी
हमको कौड़ी कानी
सच है
यही कहानी
सबकी जानी-मानी[78]

उपर्युक्त कविता बहुत ही स्पष्ट रूप में शासक की स्वयं के लिए तथा जनता के प्रति मानसिकता को व्यक्त करती है। इस प्रकार के व्यवहार आप कहीं पर भी देख सकते हैं। कविता भारतीय चरित्र की उस सच्चाई को व्यक्त करती है जिसके कारण वी.आई.पी. चरित्र इस देश में विकसित हुआ। सक्षम लोग जो जनता की सेवा के लिए है; स्वयं की सुविधा का कैसे ध्यान रखते हैं, किंतु जनता उनकी नजर में किसी वस्तु की हकदार नहीं है। यह सामंती सोच आज पूँजीवाद के नए चेहरे के साथ आम लोगों का शोषण कर रही है। ऐसा ही भाव दुष्यंत कुमार की गज़ल की इन पंक्तियों में भी व्यक्त हुआ है-

कहाँ तो तय था चराग़ाँ हर एक घर के लिये,
कहाँ चराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिये।

प्रस्तुत काव्य संग्रह की कुछ कविताएँ जैसे- 'कविता न जो सार्थक हो' में कवि ने कविता लिखने के उद्देश्यों को बताते हुए लोकहित में लिखी कविता को कविता मानता है। उसका मानना है कि रहस्यात्मक और अबूझ कविताओं द्वारा संसार का कोई हित सधता नहीं है। अतः कविता लोकमंगल के हितार्थ लिखी जानी चाहिए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी काव्य का उद्देश्य जन कल्याण माना है। यहां पर प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल और आचार्य रामचंद्र शुक्ल में साध्य की समानता देखी जा सकती है। 'गिरे तो गिरते गए', 'जब जो मैंने कहा', 'साक्षी' आदि कविताएं जगत में अनुभूति की गई सच्चाई से पाठक का मार्गदर्शन करती हैं।

इसी संग्रह की कविता 'अजीब आदमी हो जी!' भारतीय मानस की उस दशा को बहुत सहजता से व्यक्त करती है, जिसमें लोकजन उदासीन सा रहता है। हर आया नया कार्य उन्हें फजीहत लगता है। आखिर ऐसी मानसिकता जनमानस की क्यों बनी है? यह केदारनाथ अग्रवाल

के सामने भी प्रश्न था। किंतु वे भविष्य में इस मानसिकता को तोड़ने का अपनी कविता के माध्यम से सटीक प्रयास किया है-

अजीब आदमी हो जी!
फजीहत
फजीहत कहते हो
फजीहत फाड़कर
मैदान में
नहीं उतरते हो
मायूस बैठे
मातम मनाते हो।
कुछ तो करो जी,
खाल की ही
खजड़ी बजाओ,
उछलो
कूदो
नाचो
गाओ
माहौल तो
जिंदगी जीने का
बनाओ
हँसो
और
हँसाओ।[79]

यह काव्य संग्रह कवि के लंबे अनुभवों का निचोड़ है, जिसमें अल्पतम शब्दों में बड़ी-बड़ी बातें कही गई हैं। एक एक शब्द के अर्थ छबि तक पहुंचने के लिए गहरे आपबीती अनुभवों की आवश्यकता होती है। किंतु देखने में कविताएं सरल और सहज हैं परंतु उनमें गहरे जीवनानुभव भरे पड़े हैं। ये रचनाएं भविष्य की रचनाओं का शिल्पगत मार्ग तय करती हैं।

16. पुष्पदीप

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन सन् 1994 ई. में हुआ। इस काव्य संग्रह में कुल 102 पृष्ठ तथा 73 कविताएं संकलित हैं, इन कविताओं को कवि केदारनाथ अग्रवाल ने सन् 1992-1994 ई. के दो वर्षों की छोटी अवधि में लिखा था। कवि का मानना है कि "कविता मानवीय

बोध के सौन्दर्य को व्यक्त करती है।"[80] कवि प्रस्तुत संकलन की कविताओं के सृजन के समय पूरी तरह से जीवन अनुभवों से परिपक्व हो कर जी रहा था। उम्र की उस वृद्धावस्था में व्यक्ति को सबसे कठिन दिन देखने को मिलते हैं। ऐसे ही दिनों में विश्वासों और सिद्धांतों की परीक्षा होती है। विश्वास और सिद्धांत, अपने और पराये, सुख और दुख आदि में कौन साथ टिकता है? कौन साथ छोड़ कर भाग जाता है, की परीक्षा आसानी से हो जाती है।

किंतु केदारनाथ के सिद्धांत सदैव उनके साथ रहे जिसे वे पुष्प के रूप में देखते हैं। पुष्प केवल सौंदर्य और सुगंध प्रदान करता है। जिस प्रकार पुष्प मानव के हर अच्छे कार्य में आवश्यक है। उसके मात्र पड़ जाने से स्थान पवित्र, सुगंधित और सौंदर्य से भर जाता है। ठीक उसी प्रकार सौंदर्य-प्रियता और सत्य-प्रियता दूसरे के जीवन को सौंदर्य और सुगंध से भर देते हैं। इसलिए कवि ने प्रस्तुत काव्य संग्रह का नाम पुष्प-दीप रखा है। क्योंकि इस काव्य संग्रह की कविताएं मानवीय बोध और यथार्थ सौंदर्य को सफलता के साथ व्यक्त करती हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने इस काव्य संग्रह की भूमिका में जिन कविताओं पर चर्चा की है, वे हैं- 'अक्ल की लालटेन', 'भोगिला', 'भरोसा', 'भगौता', 'अयोध्या की जलाई लालटेन', 'कलमदान', 'बागी घोड़ा, 'लंगड़ा कुत्ता' और 'प्यार न पाता तो क्या होता' हैं।

इस काव्य संग्रह में 'न जा सका भोपाल' कविता भी संग्रहित है जिसमें उनके काव्य संग्रह 'खुलीं आँखें खुले डैने' के लोकार्पण समारोह में वृद्धावस्था के कारण न जा सकने की विडंबना व्यक्त हुई है। यह विवशता अपने आम में बहुत कुछ कहती है। 'बागी घोड़ा' बेबस जानवरों की दशा नहीं है, वरन् बेबस व्यक्तियों की दशा को भी रूपायित करती है। दासता, शोषण असहनीय होने पर विद्रोह पैदा कराते हैं। व्यक्ति के इसी विद्रोह को यह कविता यथार्थ रूप से प्रकट करती है-

मैंने बागी घोड़ा देखा
आज सवेरे
चैराहे पर उछल-कूद करता दहलाता
जोरदार हड़कंप मचाता।[81]

इसी प्रकार 'न बौद्धिक हुआ' कविता यथार्थ से दूर काल्पनिका दुनिया रचने वाले बौद्धिकों के ज्ञान की असंगतता उजागर करती है। इसका उदाहरण हम अपने ही देश में देख सकते हैं कि किस प्रकार सरकार बड़ी-बड़ी योजनाएं जनता के विकास के लिए हर वर्ष लाती है। किंतु ये खोखली बौद्धिक योजनाएं जो यथार्थ से परे हैं, नेताओं और अधिकारियों के जेब भरने का साधन मात्र बन कर रह जाती हैं।

न बौद्धिक हुआ
न आधुनिक।[82]

इस प्रकार कवि छोटी-छोटी कविताओं के माध्यम से मनुष्य को सत्य से प्रीति करने और मानव को सभ्य से सभ्यतर होने की आशा करता है, साथ में विवशता की बेड़ियों को तोड़ने का भी आग्रह करता है। यही प्रयास कवि इस काव्य संग्रह के माध्यम से किया है। छोटी छोटी वाक्य संरचनाओं से कविता गद्य का आस्वादन कराती है और कविता की शिल्पगत बनाट से सत्य भाव छलकता रहता है।

17. वसंत में प्रसन्न हुई पृथ्वी

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रकाशन 1996 ई. में हुआ था। इस संग्रह में सन् 1939 से 1960 ई. तक की कविताएं संकलित हैं, जो इसके पहले प्रकाशित संग्रहों में शामिल नहीं हो पाई थीं। इस संग्रह में कुल 323 कविताएं जो 248 पृष्ठों में संकलित हैं। प्रस्तुत संग्रह की प्रथम कविता 'लकड़हारा' है, जबकि अंतिम कविता 'वसंत के इस रंगीन महोत्सव में' हैं। प्रस्तुत काव्य संग्रह के संपादक अशोक त्रिपाठी स्वीकारते हैं कि इस काव्य संग्रह में वही कविताएं संकलित हैं जो अपूर्ण थीं या अस्पष्ट थीं अथवा इधर उधर बिखरी पड़ी थीं। कुछ कविताओं के एक से अधिक प्रारूप मिलते हैं। संकलन की कुछ कविताएं, डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा संपादक को प्राप्त हुईं। जिन्हें केदार ने अपने पत्रों में लिखकर उन्हें भेजे थे। इसलिए इस संकलन की कुछ कविताओं में शिल्प की अनगढ़ता, प्रवाह की कमी, कसाव का अभाव और कहीं कहीं अधूरापन या भाषाई दोष लक्षित होता है। इस प्रकार प्रस्तुत संग्रह को केदार के कविताओं के आधे-अधूरे, तीतर-वितर और छूटे-छंटे काव्य मोतियों के संग्रह के रूप में देखना चाहिए।

प्रस्तुत काव्य संग्रह की कविताओं के विषय-वस्तु और विचार-बोध के फलक बहुत गहराई तक फैले हुए हैं। संकलित कविताएं विविध प्रकार की संवेदनाओं तक न केवल पहुंचती हैं बल्कि कुछ कविताएं एक ही विषय को विविध दृष्टिकोण से भी प्रस्तुत करती हैं। जहां 'लकड़हारा' कविता में अभावों से ग्रसित आम आदमी संकट उठाकर, हड्डी तोड़ मेहनत करने के बाद भी भरभेट भोजन की व्यवस्था नहीं कर पा रहा है। कपड़ा, घर, शिक्षा से भी ज्यादा गहरा संकट उसके सामने परिवार के पेट भरने का खड़ा है। दिनभर अथक मेहनत करने के बाद भी वह हारा, लाचार, जब घर को लौटता है तो उसके सामने दूर तक कभी न खत्म होने वाला अंधेरा ही अंधेरा रहता है। क्या करें? कैसे लड़ें? कैसे बदलेगी स्थिति? ऐसे ही अनेक प्रश्नों को उभारती हुई यह कविता आज भी अपने को सभ्य कहने वाले समाज के ठेकेदारों, धनपतियों, धर्मपतियों, बुद्धिजीवियों, प्रशासकों और शासकों से पूछती है- कौन है, इस अंधेरे के लिए जिम्मेदार? आज भी प्रश्न अनुत्तरित है। इसके अलावा क्रांति, मार्क्सवाद, सरकारी दुर्व्यवस्था, भ्रष्टाचार, अनाचार, अनैतिकता, पूंजीवाद आदि विषयों पर भी कविताएं हैं। लकड़हारा कविता मार्क्सवादी सौंदर्य-दृष्टि का एक जीता जागता उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। जिसमें एक लघुमानव दैनिक जीवन संघर्ष का जीवंत रूप उकेरा गया है-

दूर तक सीमाहीन
अंधकार दिखता है
सिर ऊपर लादे बोझ
साधे रास्ते पर पाँव
लौटता है काँटों पर चलता है
लकड़हारा थका-हारा घर में।[83]

केदारनाथ अग्रवाल जी की लकड़हारा और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'वह तोड़ती पत्थर' कविता की तुलाना करें, तो छायावादी कवि और प्रगतिवादी कवि के संवेदना स्तर इस भाव-बोध पर एक है। 'नंगी पीठ जलती है ..... खौलता उबलता है पसीना खूब।' तो दूसरी ओर 'दिवा का तमतमाता रूप, उठी झुलसाती हुई लू, रुई ज्यों जलती हुई भू, ... हुई दोपहर- वह तोड़ती पत्थर'। दूसरा भाव-बोध यहां देखें 'लौटता है कांटों पर चलता है, लकड़हारा थका-हरा घर में।' दूसरी ओर 'एक छन के बाद वह कांपी सुघड़, ढुलक माथे से गिरे सीकर, लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा- 'मैं तोड़ती पत्थर।' तो इन दोनों कविताओं में लिंग भेद के सिवा कोई अंतर नहीं दिखाई देता है। एक आम आदमी हाड़तोड़ परिश्रम करने के पश्चात भी अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता है। दिन-भर का थका हारा घर में फिर हारता है। सामने तरुमालिका अट्टालिका, प्राकार है लेकिन उनसे तार छिन्न है। क्योंकि इस पूरी व्यवस्था में सब कुछ होते हुए भी यह व्यवस्था लकड़हारा और वह तोड़ती पत्थर के लिए केवल और केवल निराशा लाती है। इस व्यवस्था में उनके लिए कोई जगह नहीं, यह पूरी व्यवस्था उनके सहयोग में नहीं बल्कि विरोध में खड़ी है। उनका जीवन केवल अंधेरे से भरा है जहां आशा की कोई किरण नहीं। यह प्रश्न आश्चर्य करने वाला है कि दोनों कवि क्यों इस स्तर पर एक हैं तो उत्तर बहुत सरल है कि दोनों कवि देश की जनता की मूल संवेदना को उकेरने वाले लोक नायक है। जब तक इन के जीवन की निराशा नहीं दूर होती तब तक देश का विकास एक दिवास्वप्न ही बना रहेगा। इनके जीवन से अँधेरा तभी जाएगा जब देश की व्यवस्था इनके सहयोग में रास्ते बनाए और श्रम का महत्व स्थापित हो। जीवन के प्रति केदारनाथ का द्वंद्वात्मक संघर्ष में विश्वास उनके गीत 'इंकलाबी गीत' से प्रकट होता है। जीवन को केदारनाथ ने कितने गहराई से अनुभव किया है। जीवन के विकास और प्रगति का मूल संघर्ष की भावना है। उसी भावना को केदारनाथ अपने लघुमानव में भरना चाहते हैं-

सच है जीना,
प्रिय है जीना
लेकिन जीना
जब तक जीना
इंसानों के हित में जीना,

आँधी पीकर आँधी बनना
टक्कर लेते देते चलना,
करना चोटें तड़तड़ करना,
पर्वत का सिर भंजन करना,
आशा से नव रचना करना,
ज्यादा सच है
ज्यादा प्रिय है।[84]

केदारनाथ अग्रवाल के गीत आम आदमी को आशाओं से भरने वाले और निराशों से लड़ने के लिए ललकारते हैं, उसमें बिजली की धारा प्रवाहित कर उसे जीना सिखाते हैं- 'जिंदगी को गीत से गढ़ना पड़ेगा' कविता में देखिए-

रात-सी इस जिंदगी को
प्रात-सा हँसना पड़ेगा
धूल-सी इस जिंदगी को
फूल-सा खिलना पड़ेगा।[85]

किंतु कवि कर्मवादी है वह व्यवस्था की गंदगी को जहां 'दीवारें' कविता में साफ करता हुआ दिखाई देता तो वहीं 'म्यूनिसपैलिटी की लालटेन' इस गली-सड़ी प्रशासनिक व्यवस्था पर सटीक व्यंग्य करती है। इसी प्रकार 'भूखा बंगाल', 'तकवैया'- एक लम्बी कविता, 'कविताओं में अमर रहूँगा', 'स्वर्ण सबेरा'- अवधी भाषा में प्रयोग, 'अभिशाप जग का', 'दर्पण टूटे', 'सेठ जी' और 'दलाईलाम के आने पर' आदि महत्त्वपूर्ण कविताएं हैं। 'जन-गर्जन' कविता से कवि का विश्वास लेखनी की शक्ति से उठता जा रहा है और वह सभी पीड़ित, शोषित, वंचित और अभाव ग्रस्त लोगों को संगठित होने, शक्ति अर्जित करने और लड़ने के लिए ललकारता है। इसके लिए कवि को 'इंकलाबी गीत' लिखना पड़ा है। इस प्रकार सामाजिक मर्यादाओं में बंधी युवती को मुक्त कराने के लिए 'मुक्त युवती' कविता लिखा है। जो नारी जाति के शोषण के बंधनों को तोड़ने का डट कर आग्रह करती है तथा प्रेम को पारंपरिक बंधनों से श्रेष्ठ बताती है। इसी प्रकार कविता 'गीत बड़ा प्यारा है' एक उत्तम कोटि की बिंब रचना है। 'रूप तरंग को पढ़ते समय' कविता में सराहनीय प्रतीकात्मक भाव केदारनाथ ने व्यक्त किया है। शेष सभी रचनाएं भाव-विषय के स्तर पर पूर्व प्रकाशित उनके काव्य संकलनों की कविताएं सी हैं। लेकिन प्रस्तुत काव्य संकलन के पढ़ने से कवि के भाव जगत और उसकी प्रगतिशील दृष्टि के विकास को गहराई से समझा जा सकता है तथा सृजन की प्रक्रिया की भी अनुभूति की जा सकती है।

18. कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह

प्रस्तुत काव्य संग्रह केदार जी का 20वाँ प्रकाशित संग्रह है, जिसका प्रकाशन 1997 ई. में हुआ था। इस काव्य संग्रह में कुल 248 पृष्ठों में 436 कविताएं संकलित है । प्रस्तुत काव्य संग्रह में सन 1956 से 1978 तक की वे अप्रकाशित कविताएँ संकलित की गई हैं जो इसके पूर्व इनके प्रकाशित संग्रहों में किसी न किसी कारण से छप नहीं सकी थीं। ऐसा इस काव्य संग्रह के प्रकाशक डॉ. अशोक त्रिपाठी का कथन है, क्योंकि त्रिपाठी ही ने केदार जी के अंतिम दौर की कविताओं का संकलन एवं संपादन किया था। इस काव्य संकलन के विषय में त्रिपाठी जी का दावा है कि केदार की सभी प्राप्त कविताएं इस संकलन के माध्यम से प्रकाशित की जा चुकी हैं।

प्रस्तुत काव्य संकलन की कविताएं उसी प्रकार हैं जिस प्रकार की कविताएं इस काव्य संग्रह से पूर्व प्रकाशित काव्य संकलन "वसंत में प्रसन्न हुई धरती" में संकलित हैं। इस काव्य संग्रह में वही कविताएं हैं जो तत्कालीन प्रकाशनों में अधूरेपन, अपूर्णता या अप्राप्यता के कारण प्रकाशित नहीं हो पाई थीं। संपादक जी को कुछ कविताओं के भिन्न प्रारूप प्राप्त हुए हैं जिनमें से उन्होंने उपयुक्त रूप को प्रकाशित किया है। इस काव्य संग्रह में कुछ ऐसी आरम्भिक कविताएं भी हैं जो आगे चलकर जो नए कलेवर एवं नए रंग रूप के साथ प्रकाशित हुई हैं। इस प्रकार यह काव्य संग्रह कवि की रचना प्रक्रिया को भी समझने का एक साधन है।

प्रस्तुत काव्य संग्रह में इनकी स्वयं की सृजित कविताओं के अलावा श्री केदारनाथ अग्रवाल द्वार अनूदित छः कविताएं भी संकलित हैं। जिन्हें डॉ. रामविलास शर्मा ने संपादक श्री अशोक त्रिपाठी जी को 'सम्मान केदार' के अवसर पर सन् 1986 ई. में लिखवाया था। सन् 1956 में केदारनाथ अग्रवाल द्वार शैली की कविता 'टू द मून' का अनुदित रूप को प्रस्तुत किया जा रहा है-

क्या तुम नभ पर चलते चलते,
संगी साथी बिना विचरते,
अवनी अपलक, नित्य निरखते,
घटते बढ़ते और बदलते,
प्यार न पाकर पियराए हो,
शून्य नयन से पथराए हो।[86]

Art thou pale for weariness?
Of climbing heaven and gazing on the earth,
Wandering companionless
Among the stars that have a different birth,
And ever changing, like a joyless eye

That finds no object worth its constancy?

BY PERCY BYSSHE SHELLEY

प्रस्तुत काव्य संग्रह में केदार की वे कविताएं भी संकलित हैं जिन्हें केदार अंग्रेजी में भी लिखने का प्रयास किया था। उनकी कविता 'तुम ऐसी ही एक कली हो' जिसे अंग्रेजी में भी लिखने का प्रयास किया गया था। इस काव्य संग्रह की कविताएं 'भूमि की प्रिया' और 'मेरा गाँव' छोटी और बड़ी आकार की हैं, किन्तु उनके कथ्य अपनी अलग छाप छोड़ते हैं। मूलतः केदारनाथ की रचनाएं आम आदमी की भावनाओं, दुख, सुख को एक सामान्य तरीके से प्रस्तुत करती हैं। वे यथार्थवादी लोक साहित्य की उपज हैं और लोक संस्कृत को व्यक्त करती हैं।

अनूदित काव्य संग्रह

देश देश की कविताएं :

प्रस्तुत काव्य संग्रह केदारनाथ अग्रवाल द्वारा अंग्रेजी भाषा से हिंदी में समय-समय पर अनुवादित कविताओं का संग्रह है। कवि ने अपनी रचनाधर्मिता के साथ-साथ दुनिया के महत्ववान कवियों को सदैव पढ़ते रहे। उन महान कवियों की विशिष्ट रचनाओं का जिससे वे प्रभावित हुए उनका हिंदी में अनुवाद किया। इसके माध्यम से वह दुनिया से जुड़े रहे और सत्य का अन्वेषण करते रहे। यद्यपि गैर-अंग्रेजी भाषा में लिखी रचनाओं का अनुशीलन केदार ने उनके अनूदित अंग्रेजी पाठ के सहारे ही किया। इस काव्य संग्रह का महत्व इसलिए बहुत अधिक हो जाता है क्योंकि इससे हमें केदार के व्यापक और वैश्विक दृष्टिकोण तथा उनकी अध्ययनशीलता की व्यापकता की जानकारी प्राप्त होती है। केदार द्वारा अनूदित रचनाओं के अनुशीलन से उनके दृष्टिकोण और मानव मुक्ति की लड़ाई के प्रयासों की गहराई को बहुत आसानी से समझा जा सकता है। अतः इस अनुवादित काव्य संग्रह की रचनाओं के पढ़े बिना केदार को समझना मुश्किल है।

प्रस्तुत काव्य संग्रह का प्रथम प्रकाशन सन् 1970 ई. में हुआ। परंतु बाद में अन्य प्राप्त अनूदित रचनाओं को जोड़कर इसका प्रकाशन अगस्त 2009 में संपादक डॉ. अशोक त्रिपाठी द्वारा साहित्य भंडार इलाहाबाद से किया गया। संप्रति इस काव्य संग्रह में केदार द्वारा अनूदित कविओं पाब्लो नेरूदा- 30, नाज़िम हिक़मत- 7, व्लादमीर मायकोवस्की- 21, वाल्टह्विट मैन- 25, अलेक्सी सुरकोव- 5, एज़रा पाउंड- 11, याकूब कोलास- 03, निकोला वाप्त्सरोव- 03, पुश्किन- 02, प्लेतान वोरोंको- 01, मूसा ज़लील- 01, जॉन कॉर्नफोर्ड- 01, ऐंड्रियाई मैलीश्को- 01, एक चीनी कविता- 01, शेली- 02, डब्लू एस लेंडर- 01, जॉन कीट्स- 02, रवींद्रनाथ टैगोर- 01 तथा अनाम- 02 कविताएं संगृहीत की गई हैं। जिसकी कुल संख्या 119 तथा कुल पृष्ठ

215 है। उल्लिखित कवियों में से कुछ को कवि केदार ने अपनी कविताओं से श्रद्धा-सुमन अर्पित किया है।

गद्य संग्रह

यात्रा-वृत्तांत

बस्ती खिले गुलाबों की :

कवि केदारनाथ अग्रवाल द्वारा लिखा गया यह एक यात्रा-संस्मरण है। इस पुस्तक का प्रकाशन 1975 ई. में हुआ। प्रगतिवादी कवि होने के कारण इनके काव्य संग्रह 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' के लिए इन्हें 'सोवियत लैंड नेहरु एवार्ड' से इन्हें 1974 ई. में सम्मानित किया गया था। इस अवार्ड के अंतर्गत पुरस्कृत व्यक्ति को सोवियत रूस की यात्रा करने का सुअवसर मिलता है। अतः कवि केदारनाथ अग्रवाल को भी सोवियत रूस की यात्रा का अवसर प्राप्त हुआ। उनकी यह यात्रा 11 मई, से 26 मई, 1974 के बीच संपन्न हुई। इस यात्रा के जरिए जीये क्षणों को बाबू जी ने पुस्तकीय रूप प्रदान किया। यह संस्मरणात्मक यात्रा वृत्तांत 1975 ई. में प्रकाशित हुआ। केदारनाथ जी ने इस यात्रा को जितनी जीवंतता से किया और यात्रा में आए उन सभी स्थलों और लोगों की उतनी ही सच्ची तस्वीर खींची है जो अद्वितीय है।

केदारनाथ सच्चे लोक हितैषी थे, वे समाजवाद के माध्यम से सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था के शोषण के दुष्चक्र को तोड़ना चाहते थे। उन्हें रूस की समाजवादी क्रांति से बहुत आशाएं थी। अपनी रूस यात्रा के पहले भी उन्होंने रूस और समाजवादियों के प्रति कितनी रचनाएं लिख चुके थे। केदारनाथ जी जिस समता मूलक समाज और राज व्यवस्था के पक्षधर थे, उसे वे अपनी रूस यात्रा में खोजने का प्रयत्न किया तथा बहुत हद तक संतुष्ट भी हुए। केदारनाथ जी लिखते है- "समाजवादी उद्देश्य की महत्ता से सुसंस्कृत हो रहे सोवियत बच्चों को, जिनकी क्षण-दो-क्षण की भेंट मेरी अमोल थाती बन गयी और यात्रा के दौरान मिले तमाम रूसियों तथा भारतीयों की स्मृति को, जिन्हें मैं कभी भुला नहीं सकता।"[87]

केदारनाथ जी ने इरीवन स्थित बच्चों की चित्र-गैलरी देखने गए। वहां के अनेक चित्रों में उन्होंने पाया कि बच्चे समाजवादी दर्शन से ओतप्रोत हो रहे हैं। वहां की समाजवादी व्यवस्था बच्चों में कलात्मक प्रतिभा का विकास करने के लिए पूरा प्रयास कर रही है जबकि भारत में इस प्रकार के कलात्मक प्रतिभाओं के विकास के लिए कोई प्रयास न होने पर बहुत क्षुब्ध होते हैं। उन्होंने बच्चों के अनेक चित्रों के अर्थ निकाले है किंतु एक अर्थ केदार के मानस को प्रकट करता है- "मैंने एक चित्र में एक पेड़ बना देखा। पेड़ में एक लाल फल था। उस फल को उछले हुए घोड़े पर सवार होकर एक आदमी तोड़ना चाहता था।"[88] इससे केदारनाथ ने रूसी बालकों

के परिवेश और संस्कार को समझने का प्रयत्न किया और लिखते है कि ऐसी भावना से ही महान उद्देश्य प्राप्त होते हैं जो रूसी बच्चों को प्राप्त हो रही है। काश ऐसी भावना भारतीय बच्चों में पैदा कर पाते? इस बात से केदार का उच्च कोटि का सच्चा देश प्रेम प्रकट होता है। इससे केदार जी के समाजवादी दर्शन के स्वरूप को भी समझा जा सकता है। 11 मई को मास्को देखकर वे प्रभावित होते है और दिल के भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है-

देखो मास्को
जनता का जीवंत नगर
सबके लिए खुला
दागदार के लिए-दुष्ट के लिए बुरा
सहज बंधु के लिए स्नेही
सुखकर सगा भला
मानव गले कहीं दुनिया में
यहाँ न गलता
शोषण चले कहीं
दुनिया में
यहाँ न चलता
अच्छी, सच्ची, राजनीति है
पूरी पक्की
जन जन की हो रही इसी से
खुब तरक्की।[89]

उपर्युक्त कविता से पता चल जाता है कि केदारनाथ रूसी समाजवादी क्रांति में क्या खोजते हैं? उनका जीवन दर्शन क्या है? केदारनाथ ने इस संस्मरणात्मक यात्रा वृत्तांत में भारत और रूस के बीच समानताओं को खोजने की कोशिश किया है। उन्होंने मद्रास से 18वीं शताब्दी में भेजे गए कपड़े को चर्च में देखा, भारतीय प्राचीन ग्रंथों की रूसी पांडुलिपियां देखी, उनकी अपनी कविता के रूसी अनुवाद देखे, आदि। इससे यह पता चलता है कि रूसी भारतीय विद्या और यहां के लोगों में कितनी रुचि रखते हैं। यह भी पता चलता है कि वहां की व्यवस्था कितनी व्यवस्थित और जनोन्मुख है। रूसी अपने इतिहास, संस्कृति और भाषा से कितने गहराई से जुड़े हैं। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद हम रूस और केदारनाथ को और गहराई से जान सके, यही इस यात्रा वृत्तांत की प्रमुख सफलता है। केदारनाथ ने हर जगह खिले गुलाबों को देखा और पूरे रूस में गुलाब उन्हें प्रिय लगे। अतः इस पुस्तक का नामकरण बड़ा ही समीचीन है।

राजेन्द्र कुमार लिखते हैं कि "कविता के भूगोल के ये अक्षांश-देशांतर आज चाहे कितना भी इधर-उधर हो गये हों, लेकिन केदार की आंखों में आदर्श समाज-व्यवस्था की क्या छवि रही

होगी, इसका अंदाजा उनकी रूस-यात्रा के इस संस्मरणात्मक वृत्त से भली-भांति लगाया जा सकता है।"[90] इस पुस्तक को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाबू केदार जी की समाजवादी जीवन दृष्टि क्या थी। 37 पृष्ठों में केदार बाबू ने अपने एक सप्ताह के प्रवास को इस तरह विवेचित किया है कि जिसमें कुछ प्रश्नों के उत्तर अपने आप निकलते हैं तो कुछ प्रश्न भी छोड़ जाते हैं। लेकिन आम आदमी की खुशहाली का स्वप्न कहीं न कहीं रूस में उन्हें साकार होता दिखाई देता है। केदार बाबू की कविताओं को समझने में इस पुस्तक की बहुत बड़ी उपयोगिता है।

जहां तक गद्य लेखन की कला की बात है तो केदार बाबू गद्य में अपने कवि की गहरी कल्पना और सौंदर्य के साथ दिखाई पड़ते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों को काव्यमयी रूप में उन्होंने गद्य में पिरोया है। अतः रूस की मेरी यात्रा संस्मरण केदार का काव्यमयी गद्य है।

आलोचना (निबंध संग्रह)

1. समय-समय पर

प्रस्तुत निबंध संग्रह का प्रकाशन जुलाई 1970 ई. में हुआ। यह कवि केदार द्वारा विभिन्न साहित्यिक विषयों विशेष कर कविता और उसकी कसौटी पर लिखे निबंधों का संग्रह है, जो 'हंस' और 'पारिजात' पत्रिकाओं में समय समय पर छपते रहे थे। उन छपे निबंधों के अलावा इस संग्रह में कवि केदार के अप्रकाशित आलेखों को भी गृहीत किया गया है। इस संग्रह में कुल 23 निबंध तथा 175 पृष्ठ है। इस संग्रह के लेखों के बारे में केदार का कथन है कि "जब छपे थे तहलका मचा था"[91]

इस निबंध संग्रह की विशेषता यह है कि इसको पढ़ने से धारदार गद्य की अनुभूति होती है। केदार के गद्य में वैसी ही स्पष्टता, तार्किकता और गंभीर विवेचना मिलता है जैसी उनकी कविताओं में होता है। इन निबंधों को पढ़ने पर काव्य का आनंद मिलता है, जिससे पता चलता है कि केदार एक उच्चकोटि के गद्य लेखक भी थे। उन्होंने अपने लेखों के माध्यम से सभी साहित्यिक परंपराओं को वैज्ञानिक दृष्टि से देखा है। इसके अलावा काव्य के लिए नवीन आलोचनात्मक दृष्टि की स्थापना की है। साहित्य को अतींद्रिय से भौतिक जगत की वस्तु बनाने का कार्य इस निबंध संग्रह के लेख करते हैं। केदार के गद्य लेखन की डॉ. रामविलास शर्मा हमेशा प्रशंसक रहे हैं। केदार पेशे से वकील और मन से ईमानदार और दिल से सद् चरित्रवान थे। उनके अंतर के गुण उन्हें मानव को समस्याओं से उबारने के लिए उन्हें तत्पर

किए रहे। इसलिए केदार कहते हैं कि मैं वकील गलत को सही करने के लिए नहीं बाना हूं बल्कि सही की रक्षा करने के लिए हूं। अतः उनके प्रत्येक लेखन का लक्ष्य मानव मुक्ति है।

2. विचार-बोध

प्रस्तुत निबंध संग्रह केदारनाथ अग्रवाल के आलेखों का संग्रह जिसका प्रकाशन 1980 में हुआ था। इस संग्रह के माध्यम से कवि ने अपनी विचारधारा को पुष्टि करने के लिए भारतीय परंपरा में तत्व और तथ्य खोजे हैं। इन निबंधों के माध्यम से केदार ने अपने 'कवि' के निर्माण की प्रक्रिया से गुजरते हुए भोगे गए सत्यों को उजागर किया है। केदार ने अपनी विचारधारा के लिए इन लेखों के माध्यम से धरातल तैयार किया है। लेखक ने लोक कवि तुलसीदास और महाकवि कालिदास की रचना प्रक्रिया को समझने और समझाने का महत्त्वपूर्ण विवेचना किया है। इस निबंध संग्रह में कुल 25 आलेख संगृहीत हैं जिनमें 20 साहित्य संदर्भ से संबंधित, 03 संस्मरणात्मक लेखन से संबंधित और 02 भाषण पर आधारित लेख हैं। इसकी कुल पृष्ठ संख्या 184 है।

3. विवेक-विवेचन

प्रस्तुत निबंध संग्रह भी केदार के अन्य निबंध संग्रहों जैसा ही है। इसमें भी उनके प्रकाशित और अप्रकाशित विवेचनात्मक लेखों को संगृहीत कर प्रकाशित किया गया है। उसका प्रकाशन सन् 1981 ई. में हुआ था। इसमें कुल 06 विवेचनात्मक लेख, 06 केदार द्वारा लिखी पुस्तक समीक्षाएं और 05 उनके साक्षात्कार संगृहीत हैं। इस संग्रह में केदार द्वारा लिखा गया महत्त्वपूर्ण लेख 'चाबुक' भी संकलित है। इस लेख द्वारा श्री केदारनाथ अग्रवाल ने 'तरुण' इलाहाबाद में छपे लेख जिसमें श्री रघुपति सहाय 'फिराक' ने हिंदी भाषा और लेखकों के बारे में घटिया विचार व्यक्त किया था। उसके जबाब में केदार ने जो शानदार हिंदी का महत्व स्थापित करने वाला लेख लिखा की 'फिराक' बुत्त हो गया। केदार के उस लेख की साहित्य जगत में भूरि भूरि प्रशंसा हुई। इससे पता चलता है कि केदार का आलोचनात्मक दृष्टिकोण ही उनकी काव्य महल की बुनियाद है। कवि केदार का ज्ञान और दृष्टिकोण बहुत साफ और वैज्ञानिक है। जिस कारण से वे बिना लगाव-बझाव और लाग-लपेट के अपनी बात कह देते हैं। अतः कहने में कोई संकोच नहीं है कि उनके गद्य लेखों में उनका वकील का पेशा अपनी पूरी शिद्दत के साथ बोलता है।

पत्र-साहित्य

मित्र संवाद भाग 1 और 2

दो मित्रों के बीच बातचीत जो चिट्ठियों के माध्यम से छह दशकों से ज्यादा होती रही थी, उन्हीं अनमोल पत्रों का प्रकाशन सन् 1991 में संपादक डॉ. राम विलास शर्मा और डॉ. अशोक त्रिपाठी द्वारा मित्र संवाद के रूप में संसार के सामने आया। इन दो मित्रों में एक थे नवोदित आलोचक और कवि श्री रामविलास शर्मा और दूसरे नवोदित कवि केदारनाथ अग्रवाल। दोनों मित्र अपने अपने क्षेत्र में शीर्ष हस्ती के रूप में उभरे, उनमें से पहला दिग्गज आलोचक है तो दूसरा सच्चा कवि। दोनों मित्रों में मित्रता का प्रारंभ बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से हुई और मृत्युपर्यंत बनी रही। आजकल इस पुस्तक का शुमार हिंदी की क्लासिक कृतियों में किया जाता है। अब इस पुस्तक के दो भाग डॉ. अशोक त्रिपाठी के कुशल संपादन से उपलब्ध हैं जिसमें अप्रकाशित और छूट गए पत्रों को प्रकाशित कर इसे पूर्णता प्रदान करने की सफल कोशिश की गई है।

राम विलास शर्मा मित्र संवाद की भूमिका में लिखते हैं- "मित्र संवाद में केदार से मेरी बातचीत जुलाई 1935 ई. में शुरू होती है और नवंबर 1943 तक अकेले मैं ही बोलते रहा हूं। इसका कारण यह है कि इस बीच केदार के लिखे सारे पत्र नष्ट हो गए हैं।"[92] वे आगे केदार के गद्य की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि "केदार के कवि जीवन के आदि काल से मैं उनके गद्य का प्रशंसक रहा हूं। पद्य की नुक्ताचीनी, गद्य की प्रशंसा बरसों तक-यह व्यापार देखकर केदार ने समझा हो कि मुझे उनकी कविता पसंद नहीं है तो इसमें आश्चर्य ही क्या? केदारनाथ अग्रवाल और प्रगतिशील काव्यधारा के प्रकाशन के बाद उनका यह भ्रम बहुत कुछ मिट गया है। शायद पूरी तरह से नहीं क्योंकि मैं उनके गद्य का प्रशंसक अब भी हूं। अतः मैं घोषित करता हूं कि केदारनाथ अग्रवाल अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और मुझे उनकी कविता बेहद पसंद है।"[93] परंतु यह भी देखने को मिलता है कि जहां केदार की वैचारिक पक्षधरता और प्रगतिशील जनता के मूल्यों की बात आती है तो केदार बड़ी स्पष्टता से अपनी बातें कहते हैं और प्रतिवाद करते हैं। उर्वशी और निराला के प्रसंगों में इसे देखा जा सकता है।

मित्र संवाद को पढ़ना एक युग को जानने जैसा है। इन पत्रों के माध्यम से एक संघर्षरत कवि और एक संघर्षरत आलोचक के जीवन की सच्ची झलकियां, साहित्य संवाद, उस दौर की हलचलें, बौद्धिक बहसें, राजनीतिक चेतना, साहित्यिक व्यक्तित्व जैसे नागार्जुन, शमशेर, बच्चन, त्रिलोचन, अज्ञेय और कभी कभी नामवर सिंह सभी इन पत्रों आते जाते रहते हैं। रामविलास और केदार की इस मैत्री पर नामवर सिंह लिखते हैं कि "दुनिया की तो नहीं कह सकता, लेकिन रामविलास-केदार की दोस्ती की मिसाल हिंदी में नहीं है। इस मैत्री की विशेषता

है कि यह समालोचक और कवि के बीच विकसित हुई। समालोचना का काम ही ऐसा है कि समालोचक मित्रविहीन होने के लिए अभिशप्त है। ऐसी स्थिति में कवि केदार और समालोचक रामविलास की मैत्री एक आश्चर्य ही है। ऐसा नहीं है कि रामविलास और केदार में एक कवि और एक आलोचक के बीच टकराव नहीं रहा है। यह टकराव इन पत्रों में जगह-जगह लक्षित किया जा सकता है। लेकिन यह टकराव उनकी आपसी मैत्री में, प्रेम की बहती छाया में कभी नहीं आया - इसलिए इसे एक दुर्लभ दोस्ती कहा जा सकता है।"[94]

मित्र संवाद को एक उपन्यास के रुप में, एक जीवनी के रूप में, एक संस्मरण के रूप में या दो मित्रों की दोस्ती के वृतांत के रूप में पढ़ा जा सकता है। इसके द्वारा कवि केदार के निर्माण और उनके समक्ष उपस्थित चुनौतियों तथा उनके व्यक्तित्व को और अधिक गहराई से जाना जा सकता है। अतः यह मित्र संवाद अपने आप में एक नई पहल और अमूल्य निधि है।

कथा साहित्य

केदारनाथ ने तीन उपन्यास और कहानियां भी लिखी हैं। उनके लिखे उपन्यासों के नाम हैं- 1. पतिया 2. दीनू की दुनिया 3. बैल बाजी मार ले गए (अधूरा)। इनके अतिरिक्त कुछ कहानियां भी लिखी हैं, किंतु दुर्भाग्य से वे संकलित और प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं हैं। उनमें से कुछ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई हैं। पतिया उपन्यास का प्रकाशन 1985 ई. में हुआ। मित्र संवाद के पत्र के उल्लेख से समझे तो यह उपन्यास पांचवें दशक में छपा रहा होगा। पतिया उपन्यास केदार के गांव की एक कहारिन के जीवन संघर्षों पर आधारित है। इसमें जाति व्यवस्था के शिकार निम्न जाति की स्त्रियों की कहानी को यथार्थ रूप में चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में यह स्पष्ट होता है कि कैसे कथित उच्च जातियां संगठित हो कर निम्न जातियों का शोषण करती हैं तथा उनके विकास को रोकने का हर मुमकिन तरीका अपनाती हैं। उनकी कहानियां भी नारी शोषण और सशक्तिकरण से संबंधित है।

केदार अपने काव्य की तरह ही गद्य में अपनी विचारधारा से प्रतिबद्ध रहे हैं। कर्मेंद्र शिशर के शब्दों में "पूरे लेखन में कहीं भी प्रतिबद्धता और आस्था को लेकर उनके पांव डगमगाते नहीं दिखते। तार्किकता और जिरह के साथ एकदम एक दो, क्रम से तार-तार चीजों को सुलझाते, साक्ष्य सहित निष्कर्ष देते हुए गंतव्य तक पहुंचते हैं। न कोई पेंच, न ही तनिक अस्पष्टता। जाहिर है यही उनके गद्य लेखन की ताकत है।"[95] केदार का पूरा रचना संसार मूल्य आधारित है, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और गौरव को रक्षित करने का साहित्यिक प्रयास किया गया है। केदार हर व्यक्ति की शोषण और अज्ञानता रूपी राक्षस से मुक्ति कराना

चाहते हैं। इस मुक्ति के गंतव्य तक पहुंचने के लिए भौतिक द्वंद्वात्मक सिद्धांत का सहारा लिया है, ताकि व्यक्तियों में वैज्ञानिक सोच का विकास हो सके। जिससे मानव मात्र मुक्त हो कर स्वतंत्र जीवन यापन कर प्रगति के मार्ग पर बढ़े चले।

*****

संदर्भ श्रोत

1. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंदी, पृ. 118
2. मधुस्थाना किरण बाला वर्मा, व्यक्तित्व मनोविज्ञान, पृ. 11
3. रमेश खत्री, लोकधर्मी कवि केदारनाथ अग्रवाल, कविकथाकर.ब्लॉगस्पॉट.इन
4. भारतकोश, हिन्.भारतडिस्कवरी.ओर्ज
5. सं. डॉ. अशोक त्रिपाठी, संचयिता: केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 31
6. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 74
7. सं. डॉ. अशोक त्रिपाठी, संचयिता: केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 34, 35
8. अजय तिवारी, इब्बार रब्बी, कवि मित्रों से दूर, पृ. 27
9. आजकल पत्रिका, अपैल 1995, पृ. 14
10. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 113
11. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 128
12. अजय तिवारी, इब्बार रब्बी, कवि मित्रों से दूर, पृ. 35, 36
13. सं. डॉ. अशोक त्रिपाठी, संचयिता: केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 42
14. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ. 76
15. पाखी मासिक, नरेंद्र पुंडरीक- आलेख, अप्रैल 2011, पाखी.इन
16. सं. डॉ. अशोक त्रिपाठी, संचयिता: केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 43
17. वही, पृ. 43
18. वही, पृ. 44
19. वही, पृ. 44
20. नया ज्ञानोदय, विष्णुचंद्र शर्मा, स्तंभ-कविता, नवंबर 2012, पृ. 70
21. सं. डॉ. अशोक त्रिपाठी, संचयिता: केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 46
22. केदारनाथ अग्रवाल, अनहारी हरियाली, पृ. 8
23. वही, पृ. 7
24. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 76
25. वही, पृ. 199
26. वही, पृ. 123
27. डॉ. तनुजा तिवारी, प्रगतिशील कविता में यथार्थ परक चिंतन, पृ. 41
28. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 5
29. वही, पृ. 107
30. वही, पृ. 6
31. वही, पृ 149
32. डॉ. राममनोहर सविता, प्रगतिशील समाज एक विश्लेषण, 51

33. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते है; पृ. 51
34. केदारनाथ अग्रवाल, आग का आइना, पृ. 5
35. वही, पृ. 39
36. वही, पृ. 41
37. वही, पृ. 45
38. वही, पृ. 51
39. केदारनाथ अग्रवाल, पंख और पतवार, पृ. 16
40. वही, पृ. 16
41. वही, पृ. 17
42. केदारनाथ अग्रवाल, मार प्यार की थापें, पृ. 7
43. वही, पृ. 18
44. वही, पृ. 26
45. वही, पृ. 42
46. वही, पृ.111
47. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 6
48. वही, पृ. 32
49. वही, पृ. 80
50. कामता प्रसाद, कविता तीरे, पृ. 128
51. केदारनाथ अग्रवाल, बंबई का रक्त स्नान, पृ. 32
52. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 9
53. वही, पृ. 17
54. वही, पृ. 21
55. वही, पृ. 73
56. वही, पृ. 144
57. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, पृ. 47
58. प्रगिशीलधारा और केदारनाथ अग्रवाल, सं. डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 34
59. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, पृ. 177
60. डॉ. राम किशोर शर्मा, आधुनिक कवि, पृ. 192
61. केदारनाथ अग्रवाल, अपूर्वा, पृ. 9
62. वही, पृ. 28
63. वही, पृ. 61
64. वही, पृ. 75
65. केदारनाथ अग्रवाल, बोले बोल अबोल, पृ. 23
66. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ. 35
67. वही, पृ. 77

68. वही, पृ. 102
69. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 178
70. वही, पृ. 8
71. वही, पृ. 19
72. वही, पृ. 46
73. केदारनाथ अग्रवाल, अनहारी हरियाली, पृ. 6, 7
74. वही, पृ. 32
75. वही, पृ. 40
76. वही, पृ. 43
77. केदारनाथ अग्रवाल, खुलीं आंखें खुले डैने, पृ. 10
78. वही, पृ. 29
79. वही, पृ. 71
80. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ. 7
81. वही, पृ. 54
82. वही, पृ. 76
83. केदारनाथ अग्रवाल, वसंत में प्रसन्न हुई पृथ्वी, पृ. 19
84. वही, पृ. 55
85. वही, पृ. 69
86. केदारनाथ अग्रवाल, कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह, पृ. 246
87. केदारनाथ अग्रवाल, बस्ती खिले गुलाबों की, पृ. 5
88. वही, पृ. 24
89. वही, पृ. 17
90. डॉ. राजेंद्र कुमार, बस्ती खिले गुलाबों के आवरण जिल्द पर
91. केदारनाथ अग्रवाल, समय समय पर, पृ. 5
92. डॉ. रामविलास शर्मा, मित्र संवाद, पृ. 11
93. वही, पृ. 16
94. आजकल पत्रिका, मई 2011, पृ. 55
95. आलोचना त्रैमासिक, जुलाई-सितंबर 2011, पृ. 135

*****

द्वितीय अध्याय

केदारनाथ अग्रवाल का काव्य : लोकधर्मी संवेदना के विविध आयाम

लोक एवं संवेदना : अवधारणा एवं स्वरूप

भारत की लोकोन्मुख काव्य परंपरा को निरंतरता देने वाले तथा प्रगतिशील कवियों में शीर्षस्थ कवि केदारनाथ अग्रवाल के काव्य की मुख्य संवेदना लोकधर्मी है। उनका काव्य साहित्य जनता की खराब दशा को सुधारने का तार्किक और वैज्ञानिक प्रयास है। जनता में व्याप्त अदूरदर्शिता, स्वार्थपरता, अज्ञानता, कर्महीनता, अशिक्षा, अंधविश्वास, ईर्ष्या, द्वेष, और जातीयता तथा धार्मिक संकीर्णता आदि ऐसे कारक हैं जो विकास के मार्ग में मुख्य रोड़े बने हुए हैं। जिसके कारण स्त्रियों का पतन, भ्रष्टाचार और शक्ति का संकेंद्रण फलता-फूलता है। जिस देश-समाज में ऐसे तत्व बिना रोक-टोक के फैले हो, तो उस देश-समाज का उत्थान असंभव है। ऐसे देश-समाज में गहराई तक निराशा और यथास्थितिवाद फैला रहता है। ऐसे देश-समाज में प्रतिक्रियावादी शक्तियां परिवर्तनकारी प्रगतिशील तत्वों को निरंतर निगलती रहती हैं। ऐसे में देश-समाज का विकास असंभव हो जाता है। लोगों की परेशानियां अदीठ हो जाती हैं तथा उसे स्वाभाविक मान लिया जाता है। ऐसी ही समस्याओं के प्रति संवेदनशील हो कर आम जनता के उत्थान के लिए प्रयास करना लोकधर्म कहलाता है। इस लोकधर्म की स्थापना की परंपरा भारत में प्रचीन काल से चली आ रही है। उसी लोकधर्म की स्थापना के लिए परमं सत्ता को बार-बार अवतार लेना पड़ा है। राम और कृष्ण का अवतार उसी लोकधर्म की स्थापना के लिए हुआ था। हनुमान और विदुर उस लोक संवेदना के प्रतीक हैं जो जनता में व्याप्त होती है। कबीर, सूरदास, तुलसी, नानक, मीरा, ज्ञानदेव आदि भक्तिकालीन कवियों ने जिस भावना को अपनी वाणी दी वही भावना लोक संवेदना कहलाती है। स्वातंत्र्य काल में महात्मा गांधी, प्रेमचंद और लाल बहादुर शास्त्री तथा चौधरी चरण सिंह ने उसे अपने अपने तरीके से अभिव्यक्ति दे कर लोकतांत्रिक तरीके से स्थापित करने का प्रयास किया। यह वही भाव-भावना है जिसे लता और किशोर ने अपने मधुर कंठों से गाया तो राजकपूर और अमिताभ बच्चन ने पर्दे पर उसे उतारा। जहां राम और कृष्ण के समय में लोक संवेदना को समझना और उसे स्थापित करना शक्ति और सामर्थ्य का कार्य था। वहीं आधुनिक लोकतांत्रिक युग में जनता में शक्ति और सामर्थ्य दोनों निहित है। किंतु जनता को लोकधर्मी संवेदना से संवेदित कर संचालित होने की क्षमता का विकास करने की जरूरत है। इस जरूरत को अपने साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से पूरा करने में सबसे अग्रणी कवि केदारनाथ अग्रवाल हैं। उनकी रचनाओं में इसी लोकधर्मी संवेदना का परिपाक हुआ है। कवि अपनी रचनाओं में आम नागरिकों की भावनाएं और उसके द्वारा भोगे जाने वाले कष्टों को अपनी कविता से धार दिया है, कचहरी में जनता का शोषण, विद्यालयों में विद्यार्थियों से अन्याय, जवान लड़की के सुरक्षा का प्रश्न, नेताओं

की कथनी-करनी में भेद, महंगाई, सार्वजनिक सुविधाओं का अभाव, पुलिस का दुरुपयोग, भ्रष्टाचार, ईर्षा-द्वेष आदि समस्याओं से जनता मुक्त होना चाहती है। यह मुक्ति का मर्म ही लोक-संवेदना है। इसी लोक-संवेदना की भावना को स्थापित करने वाली रचनात्मक इच्छा लोकधर्मी संवेदना कहलाती है।

विवेच्य कवि की लोकधर्मी संवेदना का विवेचन करने से पहले हमें 'लोकधर्मी संवेदना' शब्द में निहित भावों तक पहुंचने के लिए इस सामासिक शब्द के उद्भव, परंपरा और विकास से होते हुए आधुनिक संदर्भ में विश्लेषित करना होगा। मूलतः 'लोकधर्मी संवेदना' शब्द का निर्माण 'लोक' + धर्म और सम + वेदना से हुआ है और 'लोकधर्म' संज्ञा शब्द में 'ई' प्रत्यय लगा कर 'लोकधर्मी' गुणवाची विशेषण बनता है। 'संवेदना' शब्द भी सामासिक है जो सम + वेदना से बना है। जिसका सामान्य अर्थ भुक्तभोगी की अनुभूति के समकक्ष भाव से अभिभूत होना अर्थात आपबीती का अनुभव होना है। अतः 'लोकधर्मी संवेदना' उपबंध में सबसे केंद्रीय शब्द संवेदना है। सबसे पहले संवेदना के अवधारणा, स्वरूप और परंपरा का विवेचन करना समीचीन होगा-

संवेदना

संवेदना शब्द के अर्थ की व्याप्ति बहुत व्यापक है, किंतु वर्तमान समय में सामान्यतः इसका अर्थ सम + वेदना से लिया जाता है। जिसका लोक-जीवन में अर्थ समान प्रकार का कष्ट या दुःख अथवा समान पीड़ा की अनुभूति से है। इसका प्रयोग साहित्य के अलावा मानविकी, विज्ञान की शाखाओं - भौतिक विज्ञान और जीव विज्ञान आदि के अलावा मनोविज्ञान, कंप्यूटर विज्ञान और मोबाइल आदि के तकनीकी शब्दों के रूप में किया जाता है। अतः संवेदना शब्द का आधुनिक स्वरूप बहुत व्यापक और भिन्न भाव की अर्थ प्रतीति स्वयं में समाहित किए हुए है। किंतु इसका सामान्य अर्थ मानव की अनुभूति और उसकी प्रतिक्रिया से जुड़ा हुआ है। संवेदना की अवधारणा एवं स्वरूप को समझने के लिए उसके कोशगत अर्थ और उद्भव को समझ लेना समीचीन होगा। संस्कृत हिंदी कोश में संवेदनम् का व्युत्पत्तिक अर्थ है– "सम्+विद्+ल्युट् अर्थात प्रत्यक्षज्ञान, जानकारी, तीव्र अनुभूति, भावना, भोगना आदि।"[1] नालन्दा विशाल शब्द सागर के अनुसार- "संवेदना (संज्ञा स्त्री.) का अर्थ है- 1. मन में होने वाला बोध या अनुभव। अनुभूति। 2. किसी को कष्ट में देखकर मन में होने वाला दुःख। सहानुभूति।"[2] प्रामाणिक हिंदी कोश में संवेदना (स्त्री) का अर्थ इस प्रकार है- "संवेदन मन में होने वाला अनुभव या बोध। अनुभूति। किसी की वेदना को देखकर स्वयं भी बहुत कुछ उसी प्रकार की वेदना का अनुभव करना। सहानुभूति (सिम्पेथी) उक्त प्रकार का दुख या सहानुभूति प्रकट करने की क्रिया या भाव (कण्डोलेन्स)।"[3] हिंदी विश्वकोश के अनुसार संवेदना का अर्थ है- "अनुभव करना। सुख-दुःख आदि की प्रतीति करना। क्लेश, आनन्द, शीत, ताप को मन में मालूम करना।

प्रकट करना, जताना"[4]। थिसारस कोश के अनुसार- "संवेदना- अनुभूति, अन्तर्ज्ञान, भाव, रसानुभूति, सादृश्य, आभास, मनोव्यथा, सहभावना, सहानुभूति, दयालुता, साधारणीकरण, सौमनस्य आदि। संवेदना का मुख्य अर्थ है अनुभूत, ज्ञात या विदित होना अर्थात शरीर में किसी प्रकार का वेदन होना। वस्तुतः गरमी-सरदी, सुख-दुःख आदि का अनुभव या ज्ञान होना ही संवेदन या संवेदना है। हिंदी में यह प्रायः सहानुभूति (सह+अनुभूति) पर्याय के रूप में प्रचलित है। ऐसा जान पड़ता है कि मूलत: इसका शुद्ध रूप सम-वेदना रहा होगा, जो अब सामासिक हो कर संवेदना बन गया है। मूलतः उक्त दोनों शब्दों का अर्थ है किसी के वेदन या दुख को देखकर स्वयं भी वैसा अनुभव करना।"[5]

संवेदना दो शब्दों के योग से बना है- सम्यक + वेदना। संवेदना एक भाव है जिसे हम देख, सुन या स्पर्श नहीं कर सकते। यह सुख व दुख दोनों की अनुभूति है। "सुख, संवेदना का लक्षण या अन्य मानसिक घटना है, जिसमें किसी घटना के बाबत प्रेरित या संकल्पित प्रतिवर्तन के कारण घटना के घटित होने को प्रवृद्ध किया जाता है। दुख संवेदना का लक्षण या अन्य मानसिक घटना है जिसमें किसी घटना के बाबत प्रेरित या संकल्पित प्रतिवर्तन के कारण कम या अधिक प्रतिवर्तन घटना के अवसान में होता है।"[6] संस्कृत और हिंदी शब्दकोशों के अर्थों के अतिरिक्त अंग्रजी में संवेदना के करीब पड़ने वाले शब्द हैं- सेंसेशन, फीलिंग, सेंसिटिविटी, सेंसिबिलिटी अथवा सिम्पैथी, फेलो फिलिंग। इसके अतिरिक्त संवेदना को एक्ट ऑव प्रोसेस ऑव एक्सपीयरेंसिंग का पर्याय भी माना जाता है। अंग्रेजी पर्याय के अनुसार संवेदना शब्द के अर्थ के अंतर्गत इंद्रियानुभव, भावानुभव, सहानुभूति, अनुभव प्राप्ति की प्रक्रिया आदि का समाहार हो जाता है। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि संवेदना शब्द भावात्मक लगाव के संदर्भ से जुड़ा एक व्यापक अर्थ छबि का ग्रहण किया हुआ शब्द है। "साहित्य के क्षेत्र में 'संवेदना' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नया है। सामान्य तौर पर वेदन, संवेदन और संवेदना शब्द का अर्थ होता है। ज्ञान अथवा अनुभूति। संवेदन शब्द के मूल में 'वेद' शब्द है, जिसका अर्थ भी ज्ञान ही होता है। उसी से बना 'वेदन' ज्ञान अथवा बोध-प्राप्ति की क्रिया को कहते हैं। विद् से वेद, वेद से वेदन और वेदन से संवेदन शब्द बना है। प्रत्येक शब्द में मूल धातु विद् से जुड़ा हुआ अर्थ सम्मिलित है। संवेदनीय, संवेद्य, संवेदित आदि शब्दों के प्रयोग संवेदन शब्द से निकले हैं। यदि संवेदन का उपर्युक्त अर्थ ही ग्रहण किया जाय तो 'संवेदनीय' का अर्थ होगा, अनुभव करने योग्य या बोध कराने योग्य। 'संवेद्य' अनुभवगम्य का पर्याय होगा और 'संवेदित' अनुभव किया हुआ या बोध कराया हुआ का।"[7] वेद का एक अर्थ 'देखना' भी होता है। अतः संवेदना का अर्थ देखने से, ज्ञान से, स्पर्श से सहानुभूति उत्पन्न होना होना उपयुक्त होगा।

मनोविज्ञान वैज्ञानिक एच. जे. आइजेनक के अनुसार- "संवेदना वह मानसिक प्रक्रम है जो आगे विभाजन योग्य नहीं होता। यह ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करने वाली उत्तेजना द्वारा उत्पादित होता है तथा इसकी तीव्रता उत्तेजना पर निर्भर करती है और इसके गुण ज्ञानेन्द्रियों

की प्रकृति पर निर्भर करते हैं।"[8] संवेदना शब्द का मनोवैज्ञानिक और साहित्य शास्त्रीय अर्थ स्पष्ट करते हुए डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं- "मूलतः संवेदना का अर्थ है ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव अथवा ज्ञान किंतु आजकल सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में होने लगा है। मनोविज्ञान में अब भी इसका प्रयोग मूल अर्थ में ही किया जाता है और इस अर्थ में यह किसी बाह्य उत्तेजना के प्रति शरीर तंत्र की सचेतन प्रक्रिया होती है।..... साहित्य में इसका प्रयोग स्नायविक संवेदनाओं की अपेक्षा मनोगत संवेदनाओं के लिए ही अधिक होता है। इस प्रकार साहित्य संदर्भ में संवेदनशील मन की प्रतिक्रिया की ही शक्ति है, जिसके द्वारा संवेदनशील व्यक्ति दूसरे किसी व्यक्ति के सुख-दुःख को समझकर उससे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है।"[9] इसके स्वरूप को परिभाषित करते हुए अज्ञेय लिखते हैं- "संवेदना वह यंत्र है जिसके सहारे जीव-यष्टि अपने से इतर सब कुछ के साथ संबंध जोड़ता है- वह संबंध एक साथ ही एकता का भी है और भिन्नता का भी, क्योंकि इसके सहारे जहां जीव-यष्टि अपने से इतर जगत को पहचानती है वहां उससे अपने को अलग भी करती है।"[10] संवेदना की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए डॉ. रूपेंद्र प्रसाद लिखते हैं कि- "वस्तुतः संवेदना उस प्रक्रिया को कहना चाहिए जिसके द्वारा हम अनुभव करते है। अनुभव करने में वस्तु, उसका दर्शन और बोध तीनों ही शामिल हैं।"[11] संवेदना स्वयं के अनुभव और अनुभूति तथा दूसरों के अनुभव और अनुभूति के बीच संबंध जोड़ने का कार्य करती है। इसलिए डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण कहते हैं- "संवेदना 'स्व' और 'पर' की संबंध चेतना है।"[12]

कलाकार जीवन और जगत का सूक्ष्मता से दर्शन करता है। उसके संपर्क में आई हुई वस्तु उसके भावबोध को उत्तेजित करती है। कालाकार के मानस में वस्तु का जैसा गुण या भाव ग्रहण होता है वैसी ही उसकी संवेदना निर्मित होती है। मानव जीवन के सत्य की खोज दार्शनिक और साहित्यकार दोनों करते हैं। किंतु दोनों की अन्वेषण प्रक्रिया में पर्याप्त अंतर होता है। दार्शनिक जहां सत्य की स्थापना तर्कों एवं तथ्यों के आधार पर करने का प्रयास करता है, वहीं साहित्यकार संबंधों के धरातल पर सत्य के प्रकटीकरण की चेष्टा करता है। अतः किसी भी कवि-साहित्यकार की कृतियों का मूल्यांकन करने के हेतु उसकी काव्य संवेदना के आधार, उसका विकास और पराकाष्ठा आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होता है।

संवेदना का विकास मानव जाति के विकास से गहनतम् जुड़ा हुआ है। आदिम मानव ने सबसे पहले ज्ञानेंद्रियों का प्रयोग कर इसे महसूस किया होगा। गरम-ठंडा, मीठा-तीखा, स्वादिष्ट-कड़ुआ, सुखद-दुखद आदि भावों का अनुभव सबसे पहले ज्ञानेंद्रियों द्वारा हुआ। जिससे अच्छे और बुरे की पहचान आदिम मानव में बनने लगी। उसने प्रकृति प्रदत्त चीजों को उसके लिए उपयोगी और अनुपयोगी की श्रेणियों में बांटने लगा। धीरे-धीरे उसे मालूम हुआ कि समूह में रहने और सहयोग करने से दुख की जगह सुख की प्राप्ति आसानी से होती है। इस प्रकार उसके सामने असुरक्षा और भयावह स्थितियों से बचने का मार्ग प्रशस्त होने लगा। उसने हिंसा

की जगह अहिंसा, स्वार्थ की जगह परमार्थ, निष्ठुरता की जगह सदाशयता, वैर की जगह प्रीति के महत्व को समझ गया। इस प्रकार उसमें उपयोगी वस्तुओं के प्रति संवेदना विकसित होती गई। वह अपनी संवेदना के कारण पशुओं से अलग हुआ और मानव सभ्यता का विकास करता गया। जब अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा समान संवेदना का अनुभव हुआ तो उसने उसका अपने व्यवहार में प्रयोग कर परिवार और समाज जैसी संस्थाओं का निर्माण करने में सफल हुआ। इस प्रकार वैयक्तिक संवेदना सामूहिक संवेदना बन गई। यही वह कारण है जिससे मानव ने संगठित होना सीखा और दूसरों के हितों को समझने लगा। इस प्रकार पर हित के प्रति सद्भाव का जन्म हुआ और सामान्य उद्देश्यों के लिए मानव संगठित हो कर कार्य करने लगा। इसी प्रक्रिया से राज्य, समाज, सभ्यता, संस्कृति और कलाओं का जन्म हुआ।

भाषा और लिपि का विकास मानव जाति के ज्ञान को विकसित करने और उसे निरंतर आगे बढ़ाने में क्रांतिकारी साबित हुआ। मानव मुख से निसृत ज्ञान की प्रथम रचनाओं में वेदों को गिना जाता है। वेदों की ऋचाओं में प्रकृति के उपयोगी अवधानों के प्रति अपनी संवेदनाएं प्रकट की गई हैं। वैदिक कालीन मंत्रों की चर्चा करते हुए प्रभाकर श्रोत्रिय लिखते हैं- "वैदिक कवि की संवेदना कितनी महीन है, इसका परिचय देने के लिए सिर्फ एक उदाहरण काफी होगा। शव को जमीन में गाड़ते समय पृथ्वी से कहा जाता है कि- इस पर ज्यादा वजन मत डालना। इसे अपने भीतर वैसे ही छिपा लेना जैसे मां बच्चे को आंचल में ढांप लेती है।"[13] उक्त कथन की मार्मिकता, मानवीयता, वेदना, वैश्विक दृष्टि और जीवन और मरण के प्रति जो गहरी संवेदना वैदिक काल के कवि ने दिखाई है, वह मानव के बीच मानवीय संबंधों और जीवों की एकात्मकता का अद्वितीय उदाहरण है। ऐसे ही विचारों और संवेदनाओं से संस्कृति और सभ्यता का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

वैदिक संस्कृत की लोकभाषा लौकिक संस्कृत- 'छंद और व्याकरण बद्ध हो कर कालांतर में देवभाषा या संस्कृति के रूप में पूरे भारत में धर्म और साहित्य की भाषा बनी। जिसमें वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, उपांग, स्मृति, उपवेद, शास्त्र, साहित्य आदि से संबंधित रचनाएं हुईं। इस भाषा के आदि कवि वाल्मीकि को माना जाता है। जिनके द्वारा प्रथम महाकाव्य 'रामायण' की रचना की गई। इस महाकवि ने कामभावातुर क्रौंच(बगुला) पक्षी युगल में से एक का आखेटक द्वारा वध कर दिए जाने से, दूसरे क्रौंच पक्षी की पीड़ा से इतने मर्माहत हुए कि उनके मुख से अनायास ही 'श्लोक' के रूम में उनकी गहरी संवेदना प्रकट हो गई। जिसमें महाकवि ने आखेटक को शाप दिया। इस प्रकार भारतीय काव्य का जन्म विराट करुणा की तीव्र संवेदना से हुआ। इसी संवेदना से वाल्मीकि ने लोक रक्षक राम और धरती जैसी धैर्य शाली सीता के चरित्रों की रचना की। जिसमें लोक और प्राणी मात्र की संवेदना की रक्षा हेतु त्यागमय और उदात्त जीवन मार्ग प्रस्तुत हुआ है। यही स्वार्थ रहित संवेदना ही भारतीय काव्य

का श्रोत बनी। धीरे-धीरे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के साथ-साथ संवेदना के स्वरूप में भी बदलाव आया।

कालांतर में दूसरे महाकाव्य महाभारत की रचना हुई। जिसकी रचना महाकवि वेद व्यास ने किया। इस काल तक आते आते विचारों और भावनाओं का बहुकोणीय विकास हुआ। राजधर्म, लोकधर्म, मोह-माया, मान-प्रतिष्ठा, सामाजिक और आर्थिक विकास ने भावनाओं और विचारों को जटिल और पेचीदा बना दिया। संवेदनाओं के कई रूप दिखाई देने लगे। सच्चाई के साथ भावनाएं कई रूपों में सामने खड़ी थीं। संकट गहरा था, जननीति के मार्ग आपस में टकरा रहे थे। ऐसे ही संकट से मुक्ति का मार्ग दुनिया का श्रेष्ठतम, बौद्धिकता और तार्किकता भरा हुआ यथार्थवादी महाकाव्य, महाभारत ने कृष्ण के माध्यम से लोक संवेदनाओं के पक्ष में राजधर्म की स्थापना की। महाभारत काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अपने लोगों अर्थात एक परिवार, एक समूह, एक धर्म, एक भाषा और एक संस्कृति के मानने वाले लोगों की समस्याओं और संघर्षों का दस्तावेज है।

जहां महाभारत में संवेदनाओं के जटिल रूप देखे जा सकते हैं वहीं कविकुल गुरु कालिदास का जीवन संघर्ष और रचनाओं ने संवेदनाओं के नए आयाम जोड़े हैं। प्रेम-सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना, तपस्या का उदात्त रूप संवेदना की कलात्मक उपलब्धि है। विकास के अगले चरण में जीवन के लक्ष्य की तलाश शुरु हुई। गौतम बुद्ध और महावीर जैन ने जगत और जीवन को देखने की नई दृष्टि जनमानस के सामने प्रस्तुति किए। संस्कृत के स्थान पर पाली और प्राकृत जैसी जन भाषाओं के माध्यम से जनता से जुड़े और उनके दुख-दर्द को गहराई से अनुभव किया। गौतम बुद्ध ने लोक संवेदनाओं को समझकर कर करुणा, दया और मानवीय विश्व दृष्टि से इसका समाधान खोजा। अहिंसा, चरित्र और आपसी सौहार्द से ही मनुष्य के कष्टों को कम किया जा सकता है, जैसे सिद्धांत संसार के सामने प्रस्तुत किए गए।

मध्यकाल में जीवन के समक्ष समस्याएं अलग प्रकार की थीं। संघर्ष सत्य और असत्य, पारिवारिक या जातीय अथवा जीवन के लक्ष्य से हटकर कर था। दो या दो से अधिक संस्कृतियों में टकराहट हो रही थी। तबतक के विकसित मूल्य समस्या के समाधान में अनुपयोगी हो गए थे। आर्थिक लाभ के लिए एक संस्कृति दूसरी को विनाश कर अपने अधीन करने के लिए उतावली थी। सारे वैश्विक मानवीय संवेदनाएं और मूल्य बेकार हो गए। टकराहट धर्म, भाषा, मूल्य और जीवन शैली वाली अलग-अलग सभ्यताओं के बीच थी। जहां दूसरे वर्ग के लिए कोई जगह नहीं थी। विजेता शक्ति से अपनी संस्कृति का प्रसार कर रहा था और पराजित अपनी संस्कृति को सुरक्षित करने का प्रयास। ऐसी परिस्थितियों में पुनः मानवीय मूल्यों की अस्पष्टता की स्थिति पैदा हुई। सही और गलत की समझ संकट में पड़ गई, धर्म और ईश्वर के विरोधी स्वरूप सामने थे। ऐसी परिस्थितियों में जनलोक की चित वृत्तियां अलग-अलग थीं। ऐसे में मानवीय संवेदनाओं का विकास आवश्यक हो गया। इन संवेदनाओं का समन्वयात्मक स्वरूप

भक्तिकाल के कवियों ने नए फलक पर मानवीय संवेदना के रूप में प्रस्तुति किया। कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, मीरा आदि की रचनाएं मानवीय संवेदनाओं से भरी पड़ी हैं। इन कवियों ने लोक-भावना और जन-आकांक्षा को अपनी वाणी से महत्व दिया। तुलसीदास रामचरित मानस में लिखते हैं-

जे हरषहिं पर सम्पति देखी, दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी।

जिनहिं राम तुम प्रानपियारे, तिनके मन शुभ सदन तुम्हारे।।

उक्त पद ने नई परिस्थितियों के कारण जनता में मेल-जोल की आवश्यकता पैदा की। जिससे जनमानस के मन में अनेक आकांक्षाएं जन्म लीं। उसी इच्छा-भावना की सामूहिक संवेदना भक्तिकालीन कवियों की वाणी में व्यक्त हुई है। भक्तिकालीन संतों, भक्तों और कवियों ने परपीड़ा की अनुभूति पर विशेष बल दिया। डॉ. रवींद्रनाथ मिश्र के शब्दों में "वस्तुतः परपीड़ा को समझना, हमदर्द होना और यथाशक्ति निःस्वार्थ भाव से सहयोग के लिए उतावला हो जाना ही संवेदना की सही पहचान है।"[14] भक्तियुग जैसी प्रखर एवं मार्मिक लोक-संवेदना से सिंचित काव्य रचनाएं, रीतिकालीन और अधुनिक युग के कवियों में कम ही देखने को मिलती है।

वास्तव में आधुनिक युग कई अलग-अलग सभ्यताओं और संस्कृतियों के अलग-अलग टकराहट और मेल से निर्मित नवीन संभावनाओं का युग है। जिसने धर्म और ईश्वर की अतार्किक सत्ता को चुनौती दी है। यह तार्किक और वैज्ञानिक विचारों का युग है जिसमें कार्य-करण सिद्धांत पर बल दिया गया है। इस युग ने विश्व के सभी चीजों को एक साथ और समग्र दृष्टि से देखने की क्षमता मानव को दिया। जिस कारण से समस्त मानव, समस्त प्राणी और समस्त प्राकृतिक वस्तुओं को देखने की नई संवेदना पैदा हुई। इस वैश्विक संवेदना की परिणति जनता के भलार्थ- लोकतंत्र, समतामूलक समाज और विश्वबंधुता तक जाती है।

आधुनिक यूरोपीय युग के प्रभाव के कारण भारत में भी आधुनिक विचारों और गतिविधियों की शुरुआत हुई। जिसका प्रभाव आधुनिक भारतीय साहित्य पर देखा जा सकता है। हिंदी साहित्य में आधुनिकता का नेतृत्व भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा किया गया। भारतेंदु युगीन साहित्य लोकोन्मुखता की ओर अग्रसर हुआ। यहीं से साम्राज्यवाद, सामंतवाद, पूंजीवाद और अंधानुकरणवाद के विरोध में प्रगतिशील विचारों का सार्थक एवं सोद्देश्य प्रचार-प्रसार आरंभ हुआ। ये प्रगतिशील संवेदनाएं विविध रूप में भाषा के मानकीकरण, छायावाद में नारी शक्तिकरण से होता हुआ प्रगतिशील, प्रयोगवादी, नई कविता, अकविता से आगे समकालीन कविताओं में भी दिखाई दे रहा है। अतः यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारतीय साहित्य अपने जन्म काल से आजतक विविध परिस्थितियों में उत्पन्न और विकसित संवेदनाओं को अपनी काव्यकला के माध्यम से उठाता रहा है।

साहित्य में संवेदना रचनाकार और सहृदय पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है। यह परिवेश, जागरुकता, शिक्षा, समाज की प्रतिक्रिया, शासन-प्रशासन के दायित्व बोध और व्यक्ति की

मनःस्थिति पर निर्भर करती है। डॉ. रवींद्रनाथ मिश्र का कथन है- "परिवेशगत जीवन को जानने और समझने के लिए संवेदना का होना आवश्यक है। रचनाकार बाह्य जीवन-जगत की अनुभूतियों को अपनी संवेदनाओं से परिपक्व बनाकर ही उसे कलात्मक स्वरूप प्रदान करता है। विश्व की श्रेष्ठ कालजयी कृतियां मानवीय संवेदनाओं से भरी-पड़ी हैं। वस्तुतः संवेदना ही साहित्य का प्राणतत्व है।"[15]

वास्तव में आलोच्य कवि केदारनाथ अग्रवाल के समग्र कृतित्व विशेष कर कविताओं में संवेदना की जनोन्मुखी, लोकवादी परंपराएं मिलती हैं। कवि की संवेदना भी उसके परिवेशगत वातावरण से उपजती है। कवि अपनी संवेदना को कलात्मक रूप देकर समाज और शासन-प्रशासन में लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। विवेच्य कवि की संवेदना तत्कालीन समाज और शासन की जनविरोधी सोच और क्रिया-कलाप के विरूद्ध लोगों में जागरूकता पैदा करना तथा उन्हें अपने अधिकारों तथा जिम्मेदारियों से अभिभूत करना भी है। इसके अतिरिक्त सदियों से जातीय हीनता और गुलामी की दासता की सोच के मनोवैज्ञानिक प्रभावों से भी मुक्त करना है। आगे कवि की व्यक्त संवेदना और तत्कालीन परिस्थितियों से जन्मी आवश्यकताओं के सापेक्ष उनकी रचनाओं का तुलनात्मक विवेचन किया जाएगा।

लोक

लोक शब्द का सद्य प्रयोग जनता के उस समूह के लिए किया जाता है जो विकास की अद्यतन धारा से दूर खड़ी है। वह अद्यतन धारा में शामिल तो होना चाहती है किंतु उसके सम्मुख हिचकिचाहट भी है। पहली बात तो यह कि अद्यतन धारा में शामिल होने के लिए जिन कौशलों की आवश्यकता है, वह उस वर्ग के पास अनगढ़ और कमतर है। दूसरी बात उसकी परंपरा और स्थानीयता से गहरा जुड़ाव, जिस करण से वह नई धारा को जांच परख कर ही शामिल होना चाहता है। इस प्रकार लोक शब्द जनता के उस वर्ग के लिए प्रयोग किया जाता है जो ग्रामीण, पिछड़े, अर्ध-शिक्षित, अशिक्षित, स्थानीयता से आप्लावित, परंपरा से भरी और रोजमर्रा की जिंदगी जीने वाले होते हैं। यह लोक नगर और ग्राम दोनों जगहों पर पाया जाता है। बोली-भाषा, रहन-सहन, खान-पान और सोचने-समझने की संवेदना में स्थानीयता का भाव समेटे रहता है। यह वर्ग हर जगह और हर देश में पाया जाता है। इसमें लिखित की जगह पर वाचिक भाव की प्रबलता होती है। किंतु इनका दूसरे लोक के लोगों से कोई संबंध नहीं होता है। बोली-भाषा, रूप-रंग और जीवन-शैली में यह लोक-वर्ग एक दूसरे से भिन्न और भावनात्मक रूप से पृथक होता है। लोक-वर्ग में राष्ट्रीय भाव तो होता है, किंतु राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय चरित्र का अभाव होता है। सामयिक राजनीति, साहित्य और शासन द्वारा इस वर्ग को 'लोक' नाम से अभिहित किया जाता है। इसे अंग्रेजी के पीपुल के समतुल्य माना जाता है। हिंदी में इसे आम या लोग शब्द से पुकारा जाता है, जो आर्थिक रूप से औसत या गरीब होता है।

'लोक' शब्द का प्रयोग, अर्थ, अवधारणा और परंपरा अत्यंत प्राचीन है। इस शब्द के अर्थ और भाव की संवेदना समय और काल के अनुसार परिमार्जित होती रही है। किंतु इस शब्द का सामयिक प्रयोग अपने मूलार्थ से विचलित नहीं हुआ है। इसके अर्थ की प्रतीति अपने प्राचीनतम स्वरूप को बनाए हुए है। लोक शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'लोकः' शब्द से हुई, जो 'लोक्' धातु में 'घञ' प्रत्यय लगाने से होती है। जिसका अर्थ वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत हिंदी शब्दकोश में इस प्रकार दिया गया है- "'लोक्' : देखना, नजर डालना, प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना।"[16] उक्त शब्दकोश में 'लोक:' शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया गया हैं- "लोकः { लोक्+घञ} 1. दुनिया, संसार, विश्व का एक प्रभाग स्थूल रूप से कहा जाय तो लोक तीन है- स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल और विस्तार में चौदह लोक। 2. भूलोक, पृथ्वी, इह लोक- इस संसार में 3. मानव जाति, मनुष्य 4. प्रजा, राष्ट्र के व्यक्ति 5. समुदाय, समूह, समिति 6. क्षेत्र, इलाका, जिला, प्रांत 7. सामान्य जीवन, सामान्य व्यवहार 8. सामान्य लोग, प्रचलन 9. दृष्टि, दर्शन 10. सात या चौदह की संख्या 11. प्राकृतिक, अतिसामान्य।"[17]

'लोक' का अर्थ नालन्दा विशाल शब्द सागर के अनुसार- "लोक [संज्ञा, पुं.] 1. ऐसा स्थान जिसका बोध प्राणी को हो अथवा जिसकी उसने कल्पना की हो। उपनिषदों में दो लोक माने गए हैं- इह लोक और परलोक 2. संसार, जगत 3. स्थान, निवास 4. प्रदेश, दिशा 5. लोग, जन 6. समाज 7. प्राणी 8. यश, कीर्ति - सब लोग या सर्वसाधारण जनता से संबंध रखने वाला।"[18] समांतरकोश में 'लोक' का अर्थ- "जग, जहान, दुनिया, लोग, विश्व, संसार, इहलोक, दो लोक,"[19] दिया है। अतः 'लोक' का अर्थ- देखना, लोग और स्थान से है, जिसमें अलग सामूहिक पहचान के भाव निहित है।

विद्वान का एक वर्ग लोक शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में मानता हैं कि- "'लोक' शब्द संस्कृत की 'लोक दर्शने' धातु से घञ् पत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ है 'देखना' जिसका लट्लकार में अन्य पुरूष एकवचन का रूप 'लोकते' है। अत: लोक शब्द का अर्थ हुआ 'देखने वाला'। इस प्रकार वह समस्त जनसमुदाय, जो देखने का कार्य करता है, लोक कहलाएगा।"[20] हिंदी मानक कोश में लोक शब्द की यही उत्पत्ति बताई गई है। इसमें लोक के अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं- "जगह या संसार, विश्व का कोई विशिष्ट भाग या स्थान, जिसमें कुछ अलग प्रकार के जीव या प्राणी रहते हैं, जैसे- जीवलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक, मनुष्यलोक। पुराणानुसार किसी विशिष्ट देवता के रहने का वह स्थान जहां मरने पर उसके भक्त आ कर रहते हैं। जैसे विष्णुलोक।[21]

दूसरे मत के अनुसार 'लोक' शब्द के व्युत्पत्ति "रूच / लुच से है, जिसका अर्थ प्रकाशित होना है और प्रकाशित करना भी है, जो सामने प्रकाशित दिख रहा है और जो प्रकाशित कर रहा है।"[22] जिसका अर्थ होता है- आलोक, लोचन और आलोचना आदि।

लोक शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी पाया जाता है, जहां इसका प्रयोग साधारण जनता के लिए किया गया है। कहीं कहीं जनता या समुदाय के लिए 'जन' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। "लोक शब्द का प्रयोग 'दिव्य' और 'पार्थिव' अर्थों में भी किया जाता है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रंथ तथा वृहदारण्यक आदि गंथ्रों में ऐसे उदाहरण देखे जाते हैं।"[23]

श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'[24] भी 'वेद' से इतर 'लोक' की सत्ता स्वीकार की गई है। तात्पर्य यह कि 'वेद' में जो जीव, जीवन और जगत के बारे में बताया गया है, उससे भिन्न भी 'जगत' का अस्तित्व है जिसे 'लोक' से संबोधित किया गया है।

"'सर्वत्र विभाषा गोः' सूत्र 'लोके वेदे चैडन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात्पदान्ते' के वृत्तयर्थ से यह सिद्ध होता है कि लोक और वेद का पृथक-पृथक अस्तित्व है।"[25] उक्त उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि 'वेद' में जीव, जीवन और जगत के संचालन हेतु संबंधित सांस्कृतिक समुदाय की, परंपराओं, प्रथाओं, जीवन दृष्टि, धार्मिक अवधारणा तथा मनन-चिंतन को निबद्ध किया गया है। इसी लिए वेद को 'निगम' भी कहते हैं। 'लोक' वेद से इतर जीवन शैली जीने वाले समूहों के लिए प्रयुक्त हुआ शब्द है। इससे स्पष्ट होता है कि 'लोक' में भिन्न-भिन्न जन-समूह आते हैं जिनका आपस में कोई संबंध नहीं होता है। अतः कहा जा सकता है कि 'लोक' शब्द का प्रयोग साधारण जनता के लिए ही किया गया है। 'लोक' शास्त्र ज्ञान से परे है। मात्र शास्त्रीय ज्ञान से लोक का यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं है। इसीलिए "प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्तरः"[26] का उल्लेख करने वाले महर्षि व्यास का दृष्टिकोण है कि जो व्यक्ति लोक को स्वतः अपनी आंखों से देखता है, वही उसे सम्यक रूप से जान पाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में 'लोक' और 'लोक संग्रह' शब्द का प्रयोग अनेक जगहों पर किया गया है। वहां पर लोक और लोक संग्रह का अर्थ साधारण जनता का आचरण, व्यवहार और आदर्श से संबंधित है।

यद्यपि 'लोक' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं, पर दो ही अर्थ विशेष रूप से व्यवहृत किए गए हैं। इसका पहला अर्थ इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोक से संबंधित है और दूसरा जनसामान्य से। भारतीय साहित्य परंपरा में 'लोक' और 'वेद' का अंतर विदित होता है। इस परंपरा में लोक परिपाटी और वेद परिपाटी जैसे दो पृथक धाराएं पाई जाती हैं। महाभारत में लोकविधि और वेदविधि में विरोधाभास के अनेक प्रसंग मिलते हैं, जैसे- "वेदोक्ता वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः।"[27] लोक और वेद के बारे में विकासात्मक अर्थ प्राप्त होते हैं, जो कार्य वेद में बताई गई विधियों के अनुसार संपन्न किया जाता है, उसे वैदिक कहा गया है। वैदिक रीति से अलग किए गए सभी कार्य जो लोक में संपन्न होता है, उसे लौकिक कहा गया है।

कालांतर में 'लोक' शब्द की अर्थ-व्याप्ति होती रही और 'लोक' शब्द का प्रयोग स्थान विशेष के लोगों के लिए होने लगा, जैसे- इहलोक और परलोक। इहलोक का अर्थ मृत्युलोक

और भौतिक जीवन से जुड़ गया। जबकि परलोक का संबंध दूसरे लोक, देवलोक अथवा स्वर्गलोक से जुड़ गया। धीरे-धीरे 'लौकिक' अर्थात भौतिकवादी संसार से अलग, ईश्वर संबंधी क्रिया-कलापों को 'पारलौकिक' और 'अलौकिक' कहा जाने लगा। इसीलिए वेदों में दो प्रकार के लोकों की चर्चा मिलती है- पार्थिव और दिव्य। 'पार्थिव' पृथ्वी के सभी वैदिक और लौकिक जीवन के भौतिक और सांसारिक पक्ष से संबंधित है, जबकि 'दिव्य' अलौकिक अथवा पारलौकिक अथवा स्वर्गीय जीवन के पक्ष से संबंधित है।

उक्त आधारों पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक आर्य जनों और वेदेतर अनार्य जनजातियां जो वैदिक परंपरा से अपरिचित थीं और उनकी अपनी परंपरा और जीवन शैली थी। उन्हें वैदिक अनुयाइयों ने 'लोक' शब्द से संबोधित किया। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में 'वेद' और 'लोक' को विराट ईश्वर की दो सत्ताओं के रूप में स्वीकार किया गया है। कालांतर में दोनों वर्गों में मेल-जोल होने तथा धार्मिक आस्थाओं और जीवन पद्धतियों के मिश्रण और ज्ञान के विस्तार से 'लोक' शब्द की व्यापकता बढ़ती गई। धीरे-धीर यह शब्द सामान्य जन के लिए धर्म, साहित्य और कला में प्रयोग होने लगा।

ऋग्वेद में 'लोक' का समानार्थी शब्द 'जन' मिलता है जो वैदिक संस्कृत 'जन्यते' या 'जायते' शब्द से बना है। जिसका अर्थ "पैदा होना, उत्पन्न होना, उठना, फूटना, उगना"[28] आदि होता है। इसी से जात, जननी और जाति शब्दों का विकास हुआ है। किंतु वैदिक काल में दोनों शब्दों 'जन' और 'लोक' में सांस्कृतिक अंतर था। जहां 'जन' उन वैदिक जन समूहों के लिए प्रयोग किया गया था जो वैदिक पद्धतियों के अनुयायी थे तथा 'लोक' उन जन समूहों या बस्तियों के लिए प्रयोग किया गया था, जो वेद से भिन्न पद्धतियों का पालन करते थे। कालांतर में 'वेद' और 'लोक' के मेल से जो सामासिक संस्कृति निर्मित हुई, उसमें वैदिक संस्कारों को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ। इस प्रकार वैदिक संस्कारों से संस्कारित व्यक्ति को पूरे समाज में श्रेष्ठ और सभ्य जन के रूप में पहचान बनी। इसके विपरीत जो व्यक्ति या समूह वैदिक संस्कारों का पालन जितनी मात्रा में करता रहा, उसकी उसी मात्रा में सामाजिक स्तर और पहचान बनी। इस प्रकार समाज में शिष्ट और सामान्य जन के रूप में व्यक्तियों और समूहों का विभाजन हुआ। यहीं से 'लोक' शब्द के अर्थ प्रतीति में बदलाव आया और उसका दो अर्थ प्रमुख हुआ- पहला सामान्य जन के लिए और दूसरा परलोक अर्थात इस जगत से परे दूसरे स्थान (लोक) के लिए प्रयुक्त हुआ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'लोक' की व्याप्ति बहुत व्यापक और विविधता से भरी हुई है। जिसमें सभी प्रकार के जीव-जन्तुओं चाहे वे स्वेतज, अंडज और पिंडज में से कोई भी हों या इनसे इतर कोई जगत हो, सभी 'लोक' के अंदर समाहित हैं। सभी का अपना-अपना लोक (दुनिया) होता है। उपनिषदों में लोक शब्द अनेक जगहों पर आया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में उचित कहा गया है कि यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु में

यह प्रभूत या व्याप्त है। किसी के द्वारा प्रयत्न करने पर भी इसे पूरी तरह जानना संभव नहीं है। यथा-

"बहु व्याहित्तो वा यं बहुतो लोकः।

क एतद् अस्य पुनरहितो अयात्।।[29]

संत साहित्य में लोक शब्द का अनेक अर्थों एवं संदर्भों में व्यवहार मिलता है। ओम प्रकाश शर्मा ने 'संत साहित्य में प्रयुक्त लोक शब्द' शीर्षक नामक निबंध में लिखा है- "परंपरा का सबसे प्रचलित अर्थ लोक का है- संसार और इस अर्थ में इस शब्द के प्रयोग की संत साहित्य में अत्यधिक व्याप्ति है।"[30] संत कवि कबीर दास लोक को उत्तम और सच के निकट बताते हैं जबकि शास्त्र को सच से दूर रखते हैं। लोकानुभव और लोक ज्ञान यथार्थ है जबकि पुस्तकीय ज्ञान कच्चा और एकांगी है। यथा-

"कबीर लज्या लोक की, सुमिरै नाँही साच।

जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़े काच।।"[31]

महाकवि तुलसी दास के अनुसार लोक और वेद प्रेम के प्रति समान भाव रखते हैं-

"लोकहुँ बेद सुसाहिब रीति।

विनय सुनत पहिचानत प्रीति।।"[32]

लोक शब्द यद्यपि अत्यंत प्राचीन है तथा इसके अर्थ में राज और काल के साथ विकसन होता रहा है। किंतु इसका प्रयोग आधुनिक युग में अंग्रजी शब्द फोक के अर्थ में किया जाता है। फोक का तात्पर्य डिक्शनरी.कॉम के अनुसार इस प्रकार है-

1. जनसामान्य लोग
2. विशेष वर्ग या समूह
3. लोग या समूह जो अपनी आदिम परंपराओं तथा रीति-रिवाज का पालन करते हैं।
4. एक विशेष समूह का सदस्य होना।

उक्त फोक के अर्थ से इंगित होता है कि 'फोक' का अर्थ ऐसे वर्ग या समूह की ओर संकेत करता है जो अपनी विशिष्ट आदिम पहचान को बनाए हुए हैं तथा मुख्य सांस्कृतिक धारा से भिन्न हैं। फोक के इसी अर्थ को ध्यान में रख कर यूरोपीय विद्वान जॉन आब्रे ने सर्व प्रथम सामान्य जनता के रीति-रिवाज, रहन-सहन, अंधविश्वास का अध्ययन आरंभ किया। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानियां में 'फोक' को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है- 'आदिम समाज में समस्त सदस्य फोक होते हैं और विस्तृत अर्थ में सभ्य राष्ट्र की समस्त जनसंख्या को फोक से अभिहित किया जा सकता है'। "किंतु सामान्य प्रयोग में पाश्चात्य प्रणाली की सभ्यता के लिए ऐसे संयुक्त शब्दों में जैसे लोकवार्ता (फोकलोर), लोकसंगीत (फोक म्युजिक) आदि में उसका अर्थ संकुचित होकर केवल उन्हीं का ज्ञान कराता है, जो नागरी संस्कृति और संविधि शिक्षा के प्रभावों से मुख्यतः रहित हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अर्थात जिन्हें मामूली सा अक्षर

ज्ञान है, ग्रामीण और गंवार।"[33] वास्तव में अंग्रेजी शब्द फोक उस समूह की ओर संकेत करता है जो मुख्य सभ्यता और संस्कृति से दूर अपनी आदिम और अविकसित संस्कृतियों का पालन करते हुए, गरीबी, अशिक्षा और अज्ञानता में जी रहा है। पारंपरिक व्यवसाय, सामुदायिक बोली, सामुदायिक रहन-सहन और वेशभूषा अपनाए हुए पिछड़ा सा जीवन जीते हुए, अपनी परंपरा, आस्था और विश्वास पर गर्व करता है।

फोक के अर्थ की दृष्टि से डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक को इस प्रकार परिभाषित करते हैं- "आधुनिक सभ्यता से दूर अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली, तथाकथित अशिक्षित जनता एवं असंस्कृत जनता को लोक कहते हैं। जिनका आचार-विचार एवं जीवन परंपरागत नियमों से नियंत्रित होता है।"[34] फोक के अर्थानुसार लोक का अर्थ ग्रामीण, गंवार और पिछड़े लोगों के समुदाय की ओर संकेतित होता है। यह वेद के लोक से अलग अर्थ की तरफ संकेत करता है। इसीलिए कई भारतीय विद्वानों ने 'फोक' का समानार्थी 'लोक' शब्द को नहीं माना है। पं. रामनरेश त्रिपाठी ने फोक के लिए ग्राम शब्द का प्रयोग किया है और इसी के आधार पर वे अपनी पुस्तक का नाम ग्राम-साहित्य रखा है। डॉ. गोपीचंद ने लोक के लिए जन शब्द को उपयुक्त ठहराया है। किंतु जन शब्द पाश्चात्य फोक और भारतीय लोक दोनों दृष्टियों से उपयुक्त नहीं लगता है।

फोक को 'लोक' समझकर श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है- "लोक का तात्पर्य सर्व साधारण जनता है तथा दीन-हीन, दलित, शोषित, पतित, पीड़ित लोगों और जंगली जातियां- कोल, संताल, गोंड, नाग, शक, हूण, किरात, पृक्कस, यवन, खस इत्यादि सभी लोक समुदाय मिलकर 'लोक संज्ञा को प्राप्त होता है।"[35] डॉ. लक्ष्मीधर वाजपायी द्वारा लोक की परिभाषा पाश्चात्य शब्द फोक से प्रभावित है तथा लोक की भारतीय दृष्टि से मेल नहीं रखती है। यहां गरीब और ग्रामीण जनजातीय समाज के पिछड़े पन को लोक समझा गया है। जिसे लोक की अवधारणा के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता।

इसके विपरीत डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक शब्द को ग्राम, जन, गंवार और जनजातीय जैसे स्तर और स्थान बोधक अर्थ से पृथक करते हुए यथार्थ-बोधक परिभाषा दी है। उनके अनुसार "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत, रुचि संपन्न, सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।"[36] कर्मठता और अनुभव ज्ञान को महत्व देने वाले 'लोगों के समूह' को लोक की परिधि में लाने वाले विचार युक्त संगत और वैदिक परंपरा से मेल भी खाते हैं।

डॉ. सत्येंद्र ने लोक को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना तथा पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[37]

यदि सत्य कहा जाय तो हमारी सर्वांगीण संस्कृति और सभ्यता की पहचान हमारे लोक जीवन की बहुरंगी क्रिया-कलापों में अंकित है। इन क्रिया-कलापों में देश की जनता की आत्मा खिलती है। जिससे हमारे जीवन, धर्म, कला, विश्वास, रीति-रिवाज एवं हमारे संस्कारों को वाणी मिलती है। इसे गंवारू, पिछड़ा और असंस्कृत लोगों की बात कह कर अनदेखा नहीं किया जा सकता। वास्तव में लोक के विस्तार और मेल से निर्मित जीवन दर्शन को संस्कृति कहा जाता है। इसी संस्कृति का सम्यक पालन करने को संस्कार कहते हैं। इन्ही संस्कारित लोगों को शिष्ट या विशिष्ट कहा जाता है। अतः लोक ही संस्कृति और शिष्ट जीवन का प्राण तत्व है।

लोक शब्द व्यापक और सम है, यह ब्रह्म ही की तरह अनंत, अक्षर और असीम है, जीवन का प्रतीक और जन का पर्याय है। लोक की सीमा ग्राम या साधारण लोगों तक ही नहीं है, बल्कि समस्त चराचर में यह प्रभूत मिश्रित है। यही संस्कृतियों का मूल है। डॉ. वीरेंद्रनाथ द्विवेदी के शब्दों में "लोक जीवन का समाज के स्तर पर समीकरण ही संस्कृति है। भारत में इस संस्कृति की मूलभूमि अध्यात्म अथवा आत्मोन्नति स्वीकार की गई है।"[38]

सामान्यतः लोक से तात्पर्य शास्त्र रूढ़ शिष्ट जन से नहीं, बल्कि आम जनता से है। अंग्रेजी शब्द फोक के अनुसार 'लोक' शब्द से, सभ्यता से दूर रहने वाली किसी जाति का बोध होता है। किंतु भारतीय मनीषा में लोक का अर्थ फोक के अर्थ से अलग और व्यापक है। प्रायः ग्रामीण गरीबों और नगरी गरीबों को लोक समझने की गलती की जाती है, किंतु 'लोक' का संबंध मात्र गरीबी से नहीं है। परंतु गरीब लोग चाहे गांव में रहते हों या शहर में रहते हों, जब गरीबी के कारण उन्हें आदिम या पुरातन स्थिति में जीना पड़ता है अथवा जब ये लोग शास्त्रीय संस्कारों से दूर अपनी पुरातन मान्यताओं के आधार पर जीवन-यापन करते हैं। ऐसी स्थिति में इनका पुरातन सदैव वर्तमान रहता है और ये नियमबद्धता की जाल और धनार्जन की चाल से उन्मुक्त होते हैं। सच्चाई, भोलापन और दृढ़ता इनका गहना होता है तथा दूसरों के भाव में भावुक व दुख से द्रवित हो जाते हैं। ऐसी दशा में, जब ये लोग पाश्चात्य संस्कृति तथा परिष्कार से दूर अपनी पुरातन मान्यताओं के साथ जीने के अभ्यस्त हो जाते हैं, तो ऐसे लोगों को 'लोक' की संज्ञा से संबोधित किया जाता है। डॉ. रवींद्रनाथ मिश्रजी के अनुसार- "लोक से तात्पर्य क्लासिक वर्ग और व्यक्तियों से अलग उस सामूहिक चेतना और संस्कृति से है, जिसे सामूहिक मानस युगों से चली आती परंपराओं के रूप में, संजोता और विकसित करता है और जिसमें उस समाज की आदिम चेतना के अवशेष लगातार सक्रिय रहते हैं।"[39]

लोक जीवन में पूंजीवादी समाज के निर्मित मूल्यों का कोई स्थान नहीं होता, लोक जीवन स्वतः स्फूर्त, संवेदनशील और सहज होता है। यह स्वतः स्फूर्त की सहजता और संवेदना

उस समाज के रीति-रिवाज, गीत-गौनही, कथा-कहानी और सामाजिक मानसिकता में निहित होती है।

लोकधर्मी काव्य : स्वरूप एवं परंपरा

सामान्यतः लोक संवेदना मनुष्य की दुखात्मक एवं सुखात्मक अनुभूतियों को प्रकट करती है। लोकधर्मी संवेदना की परंपरा का आरम्भ विद्वानों द्वारा वैदिक काल से माना जाता है। जहां चिंतकों, ऋषियों, मुनियों ने अपने हृदय में उठने वाले भावों को श्लोकों के माध्यम से व्यक्त किया था। संस्कृत साहित्य में भी इस लोकधर्मी परंपरा का गायन प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इसी लोकधर्मी परंपरा के गायन से आधुनिक भाषा और साहित्य का उद्भव हुआ। यह लोकधर्मी परंपरा मनुष्य के कठिनतम संघर्ष से उत्पन्न वह भाव है जिसे वह अपने सुख से आनंद और दुख से राहत पाने के लिए गाता है। इस लोकधर्मी परंपरा की संवेदना की अभिव्यक्ति सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार से होती है। किंतु सामूहिक रूप से उपजी भावना सच के सबसे निकट होती है। यह भाव-व्यंजना मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जाती रहती है। इस लोकधर्मी संवेदना की अभिव्यक्ति संस्कृत के ऋषियों और मुनियों से शुरू होकर हिंदी में कबीर, तुलसी से होते हुए, प्रगतिशील कवियों केदार, नागार्जुन और त्रिलोचन के द्वारा प्रगाढ़ होते हुए सतत अनुगामी है।

लोकधर्मी शब्द का अर्थ- 'लोक के प्रति धर्म या कर्तव्य' अथवा लोक के प्रति धर्म या कर्तव्य की अनुभूति करना होता है। लोक का अर्थ समझने के लिए संस्कृति के तीन पुरातन शब्दों स्वर्गलोक, मृत्युलोक और नर्कलोक की संकल्पना को समझना होगा। जिससे स्पष्ट होता है कि लोक का व्यापक अर्थ है। वास्तव में देखा जाय तो संसार या जगत मोटे तौर पर दो वर्गों में बंटा होता है। एक जो अभिजात्य वर्ग- जो शासन और सत्ता के सहायक रूप में मानसिकता और बनावटीपन का अनुसरण करता है, जिसे प्रायः जनता शब्द से संबोधित किया जाता है। दूसरे वे लोग हैं जो अनगढ़ हैं, जो समूह धर्मी हैं, जिनमें मानवीय संवेदना है, जिनमें सच्चाई है, जिनमें कच्चापन है। ऐसे सामान्य लोगों को लोक कहा जाता है। लोक शब्द जनता के उस वर्ग की ओर संकेत करता है जो खेतीबारी, मजदूरी, छोटे-मोटे दुकान-डलिया अथवा घरेलू नौकरी, सहायक जैसे कामों में लगे होते हैं। ऐसे लोग स्वयं परिश्रम करते हैं, परिश्रम करते हुए समाज के लिए उपयोगी बने रहते हैं। यह वर्ग रचनात्मक होता है, जिससे नई प्रकार की सेवा-सुविधाएं उत्पन्न होती हैं। ये लोग नए उत्पादनों का विनिर्माण करने और भारी मात्रा में उत्पादों को पैदा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरी तरफ इस प्रकार के लोग सत्ता-सूत्र से दूर होते हैं। ईश्वर के न्याय और कर्मफल में इनका विश्वास हमेशा बरकरार रहता

है। अन्याय का ये संगठित विरोध नहीं करते हैं। गलत करने वाले को ईश्वर दंड देगा ऐसा विश्वास रखते हुए, ये अन्याय को सहन करते रहते हैं। अन्याय के निवारण की न कोशिश करते हैं और न सामर्थ्य रखते हैं। जनता के इस वर्ग को सामान्य लोग कहा जाता है। 'लोक' संज्ञा से इसी वर्ग का बोध होता है। यह एक ऐसी दुनिया होती है, जहां के निवासियों का जीवन स्तर लगभग समान होता है। इन्हीं लोगों के दुःख-सुख और हास, विलास से जुड़ी संवेदना को लोक संवेदना कहते हैं और लोक संवेदना से रचा-भरा काव्य लोकधर्मी काव्य कहलाता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जनता और लोक में फर्क करते हुए कहा है कि "हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रिय शब्द लोक है जो जनता के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग को संकेतित करता है।.... आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मानक कवि जनता में प्रिय कवि तुलसी हैं, जबकि द्विवेदी के मानक कवि लोक में प्रिय कबीर है।"[40] प्रश्न यह नहीं है कि कौन जनता को प्रिय है और कौन लोक को। प्रश्न यह है कि कौन लोकधर्म का निर्वहन किया है? कौन लोकधर्म की संवेदना को गहराई से समझा है? लोकधर्म में जो 'धर्म' शब्द है, उसे प्रायः संप्रदाय, पंथ, रीलिजन, सेक्ट अथवा पूजा-पाठ, इबादत, प्रार्थना आदि संपन्न करने वाले कर्मकांड के विधि-विधान के रूप में समझ लिया जाता है। किंतु यहां 'लोकधर्म' में धर्म शब्द कर्तव्य और जिम्मेदारी के अर्थ बोधक के रूप में ग्रहण किया गया है। वास्तव में 'धर्म' संज्ञा का अर्थ कर्तव्य अथवा प्रकृत होता है। महाभारत के अनुसार- 'धियते लोकोऽनेन, इति धर्मः।' धर्म की सुप्रसिद्ध लोकोक्ति है- 'धारयते लोकम्, इति धर्मः।'

धर्म में व्यापक रूप से कर्तव्य, जीने का सही मार्ग, पक्षपात रहित व्यवहार तथा व्यावहारिक मर्यादाएं आदि गुणों का समावेश रहता है। धर्म की कसौटी के रूप में यह लोकोक्ति बहुत प्रचलित है कि 'जो अपने अनुकूल न हो वैसा व्यवहार दूसरे के साथ नहीं करना चाहिए।' महाभारत में भीष्म पितामह से युधिष्ठिर ने पूछा कि धर्म क्या है? तो उन्होंने इस प्रकार कहा "जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक उन्नति- मोक्ष) सिद्ध होते हों वही धर्म है। धर्म अधोगति में जाने से रोकता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है। इसलिए जिससे धारण और पोषण सिद्ध हो, वही धर्म है।"[41]

"धर्म का अर्थ कर्तव्य है। शिक्षक, छात्र, डॉक्टर, पुलिस आदि सभी के अपने अपने कर्तव्य निर्धारित हैं। यदि यह सभी अपने कर्तव्यों का पालन सही ढंग से करें तो समाज में सदैव व्यवस्था बनी रहेगी।"[42] जी. के. वर्ष्णेय का धर्म के बारे कथन है- "धर्म का अर्थ किसी मजहब से नहीं है, जो पूजा पाठ के अपने विशिष्ट विधि-विधान निर्दिष्ट करता है, बल्कि धर्म का अर्थ है 'औचित्य' अथवा 'कर्तव्य'। जब हम कहते हैं 'क्या धर्म है?' तो इसका अर्थ है 'क्या उचित है अथवा क्या कर्तव्य है?' सहज व सच्चा, अर्थात स्वाभाविक तथा निष्कपट आचरण ही 'धर्म' है।"[43]

उक्त धर्म की परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि धर्म औचित्य पूर्ण कर्तव्य एवं जिम्मेदारी का देश, समाज और परिवार के प्रति मार्ग है, जो इसके सदस्यों के भलाई के लिए बना होता है। प्रत्येक सदस्य से धर्म मार्ग का अनुसरण करने की अपेक्षा की जाती है। इसलिए धर्म वही है, जिसे सभी लोग धारण करते हैं। धरती का धर्म सब का पोषण करना होता है। मादा का धर्म है संतति उत्पन्न करना। वृक्ष का धर्म है फल देना। जिसे प्रकृत कहा जाता है। इस प्रकार सभी अपने अपने धर्मों का पालन करते है। अतः संसार अपने धर्मानुसार संचालित होता है। जब इसी में से कोई अपने धर्म का पालन नहीं करता तब अव्यवस्था पैदा हो जाती है। जब देश में धर्म च्युत लोगों की संख्या बढ़ जाती है, धर्म अशक्त पड़ जाता है तो अन्याय, अनीति और दुष्कर्म बढ़ जाता है। ऐसे में सज्जन लोगों को कष्ट सहने पड़ते हैं। ऐसी दशा में लोकधर्म की स्थापना आवश्यक हो जाती है। लोगों के इसी संवेदनाओं के समुच्चय को लोकधर्मी संवेदना कहते हैं।

लोक की पीड़ा और कष्ट को महसूस कर उसे दूर करने का प्रयास ही लोकधर्म कहलाता है। लोकधर्म सदैव लोगों की संवेदनाओं के हित में महान प्राणियों द्वारा उसे निर्मूल करने हेतु किया गया प्रयास है। डॉ. नंद किशोर नवल का कथन है कि "लोकधर्म का अर्थ वह धर्म है, जिसका संबंध जनसाधारण के विचार और आचरण से हो।"[44] लोकधर्म और शास्त्र दोनों एक दूसरे के पहलू हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर हैं। लोक के दबाव में शास्त्र हमेशा झुका है और शास्त्र में संशोधन कर उसे स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर लोकधर्मी संवेदना शास्त्र से प्रेरणा लेती रहती है। दोनों में द्वंद्वात्मक सापेक्षिक संबंध है। इसलिए प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नामवर सिंह का कथन है कि "लोकधर्म साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा है"[45]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि "संसार जैसा है वैसा मानकर, उसके बीच से एक एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक धर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करने वाला धर्म लोकधर्म नहीं है। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उसके लिए कोई व्यवस्था न कर दे, वह लोकधर्म नहीं व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊंचे से ऊंचे ले जा सकती है। पर सारा समाज इसका अधिकारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोकधर्म होता है।"[46]

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी बकौल नामवर सिंह "सामान्य जन में प्रचलित टोना-टोटका, तंत्र-मंत्र, मिथक आदि विश्वासों को लोकधर्म मानते हैं।"[47] किंतु यह स्पष्ट है कि लोकधर्म रूढ़ि और अंधविश्वास नहीं होता है। ऐसा देखने को मिलता है कि रूढ़ियां और अंधविश्वास सदैव धर्म या शास्त्र का सहारा ले कर चलती हैं और लोकधर्मी संवेदना इसके विरूद्ध होती है।

उक्त विवेचन से प्रायः दो विचार धाराएं देखने को मिल रही हैं। पहली वह जो शास्त्र सम्मत है और शास्त्र की स्थापनाओं को सुदृढ़ करने हेतु रचे गए शास्त्र धर्मी साहित्य को

लोकधर्मी संवेदना का साहित्य मानती है। दूसरी विचारधारा सामान्य मनुष्यों के सुख, दुख, हंसी और खुशी को अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य को लोकधर्मी संवेदना का साहित्य मानती है। यहां स्पष्ट है पहली विचारधारा राजधर्म के साथ खड़ी है और दूसरी लोकधर्म के साथ। प्रश्न यह है कि क्या राजधर्म, लोकधर्म का विरोधी होता है? यदि नहीं तो लोकधर्म ही राजधर्म और राजधर्म ही लोकधर्म हो जाता है। ऐसे बहुत से दृष्टांत भारतीय साहित्य में पाए जाते हैं, जहां राज व्यवस्था लोक हित में संचालित हुई है। किंतु यह आदर्श दशा होती है। मनुष्य की लालची प्रवृत्ति और सर्वशक्तिशाली बनने की आकांक्षा जब राजधर्म के साथ जुड़ जाती है और लोक की संवेदनाओं की उपेक्षा करने लगती है, तो ऐसे देश या समाज में अनाचार, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, चोरी, छीनाजोरी, अत्याचार, शोषण, अंधविश्वास, धर्मांधता आदि दुर्गुण सिर उठाने लगते हैं तथा अपने कुकृत्य को संगत बनाने के लिए राज और शास्त्र का सहारा लेने लगते हैं। राजधर्म और शास्त्र के विधि-विधानों को अपने पक्ष में अनुचित व्याख्या करना शुरू करते हैं, उसका अनुचित लाभ उठाने लगते हैं। ऐसी दशा में शोषित जनता अपनी संवेदनाओं को साहित्य और लोक-कलाओं के माध्यम से व्यक्त करती है। शोषित और पीड़ित लोक सतत संघर्षों से विजय प्राप्त करता है। इस प्रकार लोक की संवेदनाएं राजधर्म बन जाती हैं और उन्हीं लोक संवेदनों के समाहार हेतु विधि-विधान बनाए जाते हैं। शास्त्र में संशोधन कर नए विधि-विधान शास्त्र गत बनाए जाते हैं। इस प्रकार शास्त्रीय साहित्य राज हित और उसकी संतुष्टि के लिए रचा जाता है। जबकि लोक साहित्य सामान्य जन की अनुभूतियों को प्रकट करने के लिए व्यक्त होता है। इस प्रक्रिया में लोक, शिष्ट और शिष्ट, लोक बनता रहता है। किंतु विरोध शिष्ट और लोक के बीच बना रहता है। अतः शास्त्र और लोक व्यवस्था संचलन के दो द्वंद्वात्मक पहलू हैं।

लोकधर्मी संवेदना के स्वरूप के पश्चात भारतीय साहित्य में लोकधर्मी संवेदना के अभिव्यक्ति रूपों और परंपरा की तलाश की जाएगी। लोकजीवन, लोकभाषा, लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य, लोककला तथा लोककाव्य में अंतःसंवाद की लोकधर्मी संवेदना की काव्य-परंपरा लगभग पांच हजार वर्षों की विकास यात्रा के इतिहास की निरंतरता की स्मृति को ताजा करती है। इस लोकधर्मी संवेदना की काव्य-परंपरा में जनचेतना की आदिम अग्नि का ताप है और यह अभिजात काव्य-परंपरा से एक भिन्न दृष्टि लेकर उपजी है। इसमें दरबारी काव्य-परंपरा का कृत्रिम प्रदर्शन नहीं है। इसलिए इसका सांचा और ढांचा भारतीय जनता के सुख-दुख से सहज रूप में उपजा है। इस कविता का अपना काव्य शास्त्र होता है, जिसकी भाषा, व्याकरण तथा अलंकार अनगढ़, गढ़े हुए और निरंतर नवीनता लिए होते हैं।

लोकधर्मी काव्य-परंपरा के आरंभ के बारे में प्रो. राधाबल्लभ त्रिपाठी का कथन है "यह काव्य-परंपरा राजसभा की सँकरी दुनिया से बाहर भारती जनता के विशद संसार से उपजी थी। इसे वे अनाम और अनजाने कवि विकसित करते रहे, जिन्हें दरबारों में आश्रय नहीं मिला।

प्रसिद्धि और सुरक्षा नहीं मिली। राजकीय लेखकों (लिपिकारों) द्वारा उनकी रचनाओं की पांडुलिपियां करवा कर ग्रंथ भंडारों में नहीं रखी गईं। सुरक्षा के अभाव में निश्चित ही उनकी रचनाओं का बड़ा हिस्सा काल कवलित हो गया, पर यह पुरी परंपरा अत्यंत प्राणवर्ती और कालजयी थी, अपने सामर्थ्य से वह जीती रही। इसलिए भी जीती रही कि उसे लोक का बल मिला। इसी बल से यह परंपरा कालिदास, भारवि, माघ, श्री हर्ष के समानांतर रची जाती रही। इस भारतीय जन सामान्य की कविता का थोड़ा-सा अंश सुभाषित संग्रहों में संकलनों मुक्तकों के माध्यम से बच पाया है। पर जितना बचा है वह अभिजात कविता से अलग अपनी पहचान बनाने में सक्षम सिद्ध हुआ है।

इस कविता की अपनी लोक संवेदना है, जिसमें निर्धन जनता की विकलताएं और विवशताएं हैं। हाड़फोड़ दर्द के जीवनानुभव है और निरीह, असहाय खिन्न जन का डूबता-टूटता मन है।"[48] भारतीय परंपरा, लोक को सारे शास्त्रों, विधाओं, सांस्कृतिक उपलब्धियों का मूल आधार और श्रोत मानती आई है। हर शास्त्र का आधार लोक होता है और वह लोक का संस्कार करता है। इस प्रकार लोक और शास्त्र एक दूसरे को उपकृत करते हैं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में लोक को शास्त्र के लिए एक प्रमाण माना है। अगर लोक न रहे तो सभी शिल्पों, कलाओं और कर्मों का नाश हो जाता है। लोक का निर्माण शास्त्र से नहीं किया जा सकता है। लोक अपना प्रमाण स्वयं है। नीति हो या राजनीति, नाटक हो या कविता सभी के लिए लोक ही कसौटी है। इस कसौटी में जो लोकधर्मी संवेदना के जितना करीब होता है, वह उतना अधिक प्रसिद्ध और दीर्घायु होता है। सर्वत्र प्रसिद्ध और अनंत आयुवाला अमरत्व को प्राप्त करता है। अमरत्व लोक से ही गुजरता है।

लोक संवेदना के लोक साहित्य और शास्त्र संवेदना के अभिजात साहित्य में अन्योन्याश्रित संबंध बताते हुए डॉ. शशि शर्मा लिखते हैं कि "लोक साहित्य और अभिजात्य साहित्य में जनक-जनिता का संबंध है, क्योंकि शिष्ट और शास्त्रीय मर्यादाओं में बंधा अभिजात साहित्य लोक साहित्य से ही अपना उत्स भी प्राप्त करता है। किंतु इनके इस परस्पर अटूट संबंध के बावजूद इनमें पार्थक्य स्पष्ट है।"[49]

भारतीय साहित्य की परंपरा दो धाराओं में बहती आई है, पहली धार शास्त्र अनुशासित धारा है जिसका मुख्य विषय शिष्ट जनों का रंजन तथा वर्णाश्रम एवं वैदिक विधानों की स्थापना। दूसरी धारा लोकधर्मी संवेदनाओं की धारा है, जिसमें आमजन की अनुभूतियों, दुख-दारुण और कलाओं का मौखिक और लिखित रूप पाया जाता है। संस्कृत साहित्य की काव्य परंपरा को स्पष्ट करते हुए डॉ. रेखा शर्मा का कथन है कि "संस्कृत साहित्य में काव्य की दो धारांए सतत प्रवाहित रही हैं- प्रथम अभिजात वर्ग की परंपरा तथा दूसरी लोकधर्मी परंपरा। इनमें अभिजात वर्ग की परंपरा से संबंधित साहित्य प्रचुर मात्रा में है तथा उसके विविध पक्षों को समुद्घाटित करते है। किंतु राजर्षि परिवेश और बौद्धिक विलासिता से दूर अभिजन से

सीधा संबंध रखने वाली संस्कृति कविता की दूसरी परंपरा लोकधर्मी परंपरा के नाम से जानी जाती है।"[50]

संस्कृत साहित्य का लोकधर्मी साहित्य बाल-बालिकाओं, युवक-युवतियों तथा वृद्ध स्त्री-पुरुष की मार्मिक दशाओं से संबंधित है। यह साहित्य मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग से सीधा साक्षात्कार कराता है। इस साहित्य के अधिकांश कवियों के नाम आज भी अज्ञात हैं। फिर भी योगेश्वर, शरण, वेशट, दुर्गत, लंगदत्त, धरणीधर आदि ऐसे कवि हैं जिनकी कविता क्लासिक से निम्न कोटि की नहीं ठहरती है। अपनी प्रतिभा के उन्मेष से इन कवियों ने अपना अलंकार शास्त्र खुद ही रचा लिया। इस प्रकार की रचनाओं को सराहने वाला और पहचानने वाला एक वर्ग था। सुभाषित रत्नकोश में अभिनंद ने योगेश्वर की कविता पर कविता रचते हुए कहा है-

"पहले कुछ बड़े कवि हो गए, पर नर्मदा और विंध्य के अंचल के निरीह लोगों, पुलिंदों, मजदूरों और उनकी स्त्रियों के जीवन में बहते अंधड़ को अंधड़ जैसा ही शब्द देना, तो योगेश्वर ही जानता है। लोकधर्मी साहित्य परंपरा से महाकाव्य, नाटक, वेद आदि भी अछूते नहीं रहे। कालिदास, बाण, भवभूति जैसे दृष्टि संपन्न कवि भी इससे नहीं बच सके।"[51]

संस्कृत काव्य मूलतः वैदिक शिष्ट जनों का काव्य है। उसमें लोक जीवन के रंग तो मिलते हैं किंतु लोक चेतना का अभाव दिखाई पड़ता है। फिर भी लोकधर्मी संवेदना की परंपरा का प्रवाह ऋग्वेद में पाया जाता है। वहां लोकगीतों के बीज दिखाई देते हैं। आज लोकगीतों और गाथाओं का जो रूप दिखाई देता है, उसका उत्स वेदों में पाया जाता है। महाभारत, भागवत, मैत्रायणी संहिता, गृहसूत्र आदि पूर्वकालिक ग्रंथों में उपलब्ध उल्लेखों से यह प्रतीत होता है। राजसूय यज्ञ, विवाह के शुभ अवसरों पर जो गाथाएं गाई जाती थीं उनकी परंपरा लोक जीवन से उपजी थी। "कथासरित्सागर लोक कहानियों का संग्रह है। इसमें भारतीय कहानियों के सभी तंतु सूत्र मिल जाते हैं।"[52]

आर्थिक हीनता और दरिद्रता का चित्र प्रस्तुत करते हुए सूक्तिमंजरी में, कोई दरिद्र अपनी दरिद्रता को संबोधित करते हुए कह रहा है- "हे दरिद्र! मुझे तुम्हारी बहुत सोच है, तुम इतने दिनों तक मित्र के समान मेरे शरीर में रहते आए हो। चिंता यही है कि जब मंद भाग्य वाले मेरे प्राण पखेरू उड़ जाएंगे, शरीर नष्ट हो जाएगा, तब तुम कहां जाओगे। श्लोक इस प्रकार है-

दारिद्र! शोचामि भवन्तमेवमस्मचद्दरीरे सुहृदिवुषित्वा।

विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये ममेति चिन्ता क्व गमिष्यति त्वम्।।"[53]

ऐसे ही वर्षा होने से गरीब की क्या दुर्दशा होती थी, उसका मार्मिक चित्र खींचा गया है- "हे राजन! मेरे घर के पीढ़े कछुए की तरह पानी में तैरते हैं, झाड़ू मछली की तरह तैरती हैं। कलछी सांप की चेष्टाओं को किया करती है, जिससे छोटे बच्चे डर जाते हैं। हमारी गृहिणी सूप

के आधे टुकड़े से अपने को वर्षा से बचाने के लिए अपने माथे को ढक लेती है। दीवाल अब गिरती तब गिरती है।"[54] वास्तव में इस प्रकार का चित्रण कवि की कल्पना का विलास नहीं है। इसे आज भी इस देश की गरीब जनता में देखा और सुना जा सकता है।

सदुक्तिकर्णामृत में एक दरिद्र गृहिणी की दशा इस प्रकार व्यक्त हुई है- "भादों का महीना है। मूसलाधार पानी बरस रहा है। बेचारी दरिद्र गृहिणी बड़ी विषम स्थिति में समय काट रही है। सत्तू पानी में लथपथ हो रहा है। बालक चिल्ला रहे हैं, जिन्हें वह शांत कर रही है। घर में पानी भर आया है जिससे वह टूटे-फूटे घड़े के टुकड़े से उलीच रही है। सेज के लिए बिछी घास-फूस को वह बचा रही है। माथे पर टूटे सूप के टुकड़े रख कर वह सब कार्य कर रही है। पुराने टूटे घर में वह नितांत व्याकुल हो कर अपने परिवार की रक्षा के निमित्त क्या-क्या नहीं कर रही है बेचारी।"[55]

लोकधर्मी साहित्य का पर्यवसान सिर्फ हीनता, दीनता तथा लाचारी में ही नहीं होता है। इसमें आनंद के तार भी झंकृत होते हैं। दरबारी कविता की आकंठ शृंगारिकता और विलासिता में डूबी अवास्तविक कविताएं निष्प्राण सी लगने लगती हैं। ऐसे में लोकधर्मी कविताएं जीवन के सच्चे रस उगलती हैं और प्राकृतिक आनन्द देती है। इस प्रकार की संस्कृत की कविताएं, साहित्यिक गुणवत्ता में श्रेष्ठ हैं। संस्कृत साहित्य में यह परंपरा वास्तव में एक समर्थ, गतिमान और दीर्घजीवी परंपरा है। इससे हमें प्राचीन भारतीय समाज के जीवन का बोध होता है और साहित्य के सभी पक्षों की विविधता का अनुमान भी लगता है। भाषा और शैली की दृष्टि से इन कविताओं में बनावटी शृंगार, दिखावटी लीपा पोती तथा साहित्यिक निखार नहीं है।

संस्कृत साहित्य की लोकधर्मी कविताओं की भंगिमा हमें चमत्कृत नहीं करती बल्कि जीवन का गहरे अनुभव से ओतप्रोत करती हैं। वस्तु की गंभीरता से हमें छूने और संप्रेषित करने का प्रयास करती हैं। गरीबों, किसानों और मजदूरों की कथा कहने वाला साहित्य, अपने आप में कहीं दरिद्र नहीं हो सकता। इसमें मात्र गरीबी, अकाल और भूख की वेदना ही नहीं व्यक्त हुई है बल्कि रूप, रस और वस्तु के स्तर पर जीवन की उमंगें तथा छोटी छोटी खुशियां भी बिखरी पड़ी हैं। इसमें निचले तबके के आदमी के जीवन का गहरा रुमानी प्रेम का सौंदर्य बोध भी है। इसमें उसके जीवन के उल्लास और रोमांस के सजीव क्षण भी समाहित हैं। इस प्रकार संस्कृत साहित्य अपनी विशिष्ट वैदिक परंपराओं के निर्वाहन और अभिजात्य तथा शिष्टजन को अपने साहित्य का मुख्य विषय बनाते हुए भी, लोक रंग को अपने में समाहित किए हुए है। अतः लोक जीवन और लोक संवेदना, संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र देखने को मिलती हैं।

हिंदी भाषा में अभिजात साहित्य और लोक साहित्य प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। जिसमें अभिजात्य संवेदना और लोक संवेदना का विशद वर्णन मिलता है। सबसे पहले यह स्पष्ट कर दिया जाय की अभिजात साहित्य और लोक साहित्य में क्या अंतर है? अभिजात साहित्य

व्यक्ति की एक कृति होती है जबकि लोक साहित्य सामूहिक लोक की आनंददायी सर्जना होती है। अभिजात साहित्य के रचयिता लेखकों और कवियों का नाम ज्ञात होता है कि अमुक रचना किसके द्वारा रची गई है, किंतु लोक साहित्य के प्रायः रचयिता का नाम अज्ञात रहता है। लोक साहित्य में व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की वाणी होती है। कोई लोक गीत कब और किसने लिखा इसका अनुमान लगाना मुश्किल होता है। अधिकांश लोक साहित्य मौखिक एवं समय व काल के साथ परिवर्तनशील होता है। "अभिजात साहित्य की भाषा सुसंस्कृत, तत्सम शब्दावली से युक्त, शास्त्रीय नियमों में जकड़ी हुई अव्यावहारिक होती है।"[56] लोक साहित्य की भाषा सरल, सुबोध, सर्वजन ग्राह्य और व्याकरणिक नियमों से स्वतंत्र होती है। परंतु कभी कभी लोक भाषा परिनिष्ठित हो कर अभिजात भाषा का स्थान ग्रहण कर लेती है। किंतु उसका सरल, सहज, सुबोध रूप उसकी लोकभाषा रूप में ही विद्यमान रहता है।

"लोकभाषा द्वारा लोकसाहित्य में लोक का वास्तविक रूप प्रकट होता है। इसका कारण यह है कि इसके रचयिता किसी उद्देश्य विशेष को न लेकर अपने स्वाभाविक रूप से अपने भावों की व्यंजना करते हैं। अतः लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोककहानियों, कहावतों, पहेलियों, सूक्तियों- सभी में लोक का रहन-सहन, खान-पान, आचार-व्यवहार, प्रेम-वात्सल्य, घृणा, करुणा, विश्वास सबका स्वाभाविक आकलन हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोक साहित्य में लोक जीवन का सांगोपांग वर्णन होता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से लोक जीवन के गुण-दोष उसमें रहते हैं। लोक साहित्य अपना आचार लोक के आदर्शों को ही बनाता है, पर उसमें न तो कोरी आदर्शवादिता होती है और न ही कोरी उपदेशात्मकता। अधिकांश लोकोक्तियों में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति लक्षित होती है, पर उसे कोरी उपदेशात्मकता नहीं कहा जा सकता। लोकोक्तियां संचित लोकानुभव के कारण आज भी जीवंत हैं, जिनमें उपदेश का स्थान गौण ही है। अभिजात साहित्य व्यक्ति की सर्जना होने के कारण जन-जीवन का उतना मुखर चित्रण नहीं कर पाती जितना की लोक साहित्य, क्योंकि उसमें कवि या लेखक के वैचारिक दृष्टिकोण का पूर्णतया हस्तक्षेप रहता है।"[57] जिससे अभिजात साहित्य में उपदेशात्मकता की प्रधानता होती है।

लोक साहित्य को दो वर्गों में बांटा जाता है- लोकधर्मी संवेदना का साहित्य और लोक-जीवन संबंधी साहित्य। लोक-जीवन संबंधी साहित्य को लोक साहित्य भी कहा जाता है। इसमें ग्राम-जीवन, पिछड़े लोगों और सामान्य मनुष्यों के जीवन से जुड़ी विषय वस्तु होती है।

विश्व में आधुनिक युग का आगमन मध्य कालीन व्यक्ति प्रधान अभिजातीय और सामंतीय मूल्यों के ह्रास के साथ प्रारंभ होता है। यूरोप में होने वाली राजनीति, सामाजिक और आर्थिक क्रांतियों ने परे विश्व को नए मूल्य दिए, जिसमें, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के धरातल पर मार्क्सवाद तथा समाजवाद की विचारधाराओं से दुनिया समान मानवीय मूल्यों की ओर अग्रसर हुई, इस नए युग का प्रभाव दुनिया के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। भारतीय

साहित्य भी उन चेतनाओं और मूल्यों से बहुत गहराई तक प्रभावित होता रहा है। जिसके परिणाम स्वरूप भारत में लोक-चेतना से प्रभावित साहित्य का सृजन बड़ी मात्रा में शुरू हुआ। इस साहित्य में लोक संवेदनाओं का परिपाक हुआ है। इस वर्ग में आने वाले साहित्य को लोकधर्मी चेतना अथवा लोकधर्मी संवेदना का साहित्य कहा जाता है।

काव्य में लोकधर्मी संवेदना का प्रारंभ विद्वानों द्वारा भक्ति काल से माना जाता है। कबीर, तुलसी, सूरदास, जायसी आदि संतों ने लोक संवेदना को अपने काव्य-वाणी का आधार बनाया। डॉ रवींद्र भ्रमर इस संवेदना के बारे में लिखते हैं- "इन संत भक्तों ने अपने उपदेशों और अपनी भक्ति-ज्ञान-मूलक वाणी को सामान्य जनता के बीच प्रचारित किया। इसके लिए उन्होंने भाषा भी जनता की चुनी। अभिजात वर्गीय भाषा संस्कृत तो कुएं के जल की तरह बंधकर अपना लोक-प्रवाह खो चुकी थी। लोक कंठ में जीवित सामान्य बोलचाल की भाषाएं बहते नीर के समान निर्मल और मधुर थीं। संत भक्तों ने इसी लोक-भाषा को ग्रहण किया।"[58] भक्ति साहित्य लोकोन्मुख है, इसमें लोक की भाषा में लोक-जीवन के उत्थान हेतु धर्मों, रीति-रिवाजों, विश्वासों, लोक-प्रचलित साहित्य रूपों को लोक-भूमि पर स्थापित किया गया। संतों और लोक में इस लोकधर्म की संवेदना को प्रश्रय मिला। इस साहित्य में लोक-चेतना, लोकचित्त और लोकरूप को लोकभाषा में अभिव्यक्ति मिली है। भक्ति साहित्य को इसलिए कुछ विद्वान लोक-साहित्य कहने के पक्ष में है। किंतु भक्ति साहित्य के अंतर्मन में अतःसलिला सरस्वती की भांति लोक साहित्य की लोक संवेदना प्रवाहित होती रहती है।

लोकधर्मी संवेदना के साहित्य में मूल प्रेरणा लोक से तथा भाषागत और भावगत सतर्कता परंपरागत शास्त्रों से ग्रहण की जाती है। इसका ढांचा शास्त्रीय मर्यादाओं पर आधारित होता है। इस साहित्य को लोक साहित्य की चेतना से युक्त साहित्य कह सकते हैं। यह व्यक्ति विशेष द्वारा जनता की भाषा में लिखा गया साहित्य होता है। इसे लोक की मौखिक परंपरा का संरक्षण प्राप्त नहीं होता। वास्तव में लोकधर्मी संवेदना से युक्त साहित्य की रचना आधुनिक काल में भारतेंदुयुग से मानी जानी चाहिए। यह वह समय है जहां से हिंदी साहित्य की सभी विधाओं में आम आदमी की संवेदना कविता, कहानी, कथा और उपन्यासों की विषय वस्तु बनना शुरू हुई। इस प्रकार परंपरागत लोक साहित्य में लोक संवेदना का मिश्रण हुआ और लोक संवेदना के साहित्य रचे जाने लगे।

प्रमुख समीक्षकों पं. रामचंद्र शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह, कवि मुक्तिबोध और मैनेजर पांडे आदि सभी समीक्षकों ने यह बात स्वीकार किया है कि भक्ति कालीन काव्य लोक काव्य है, जिसमें लोक जागरण, लोकधर्म, लोक-चेतना, लोकचित्त, लोक संवेदना की अभिव्यक्ति हुई है। विवाद का विषय यह है कि किसमें लोक संवेदना की सच्ची अभिव्यक्ति हुई है और लोक संवेदना की कौन सी धारा आगे बढ़ी है। किसी ने कबीर को लोक संवेदना का कवि कहा तो किसी ने तुलसी दास को बताया

है। यहां पर भ्रम की स्थिति इस कारण से है कि समीक्षकों ने लोक और संवेदना को अपनी अपनी दृष्टि से देखा है। इस एकांगी दृष्टिकोण पर विचार करते हुए राजीव रंजन गिरि का कथन है- "हिंदी के कई बड़े आलोचकों में भक्तिकाल की व्याख्या के साथ एक और समस्या दिखती है। यह समस्या है, किसी एक कवि के आधार पर बनी दृष्टि के प्रतिमान पर अन्य कवियों को देखने की प्रवृत्ति। दूसरे शब्दों में, तुलसी दास को केंद्र में रखकर विकसित आलोचना-प्रविधि कबीर दास, सूरदास, जायसी, मीराबाई आदि के साथ न्याय नहीं कर सकती। यह उसी तरह सच है, जैसे कबीर दास को केंद्र में रख कर बना काव्य-प्रतिमान तुलसी दास, सूरदास, मीराबाई आदि के साथ न्याय नहीं कर पाएगा।"[59]

भक्ति काल में लोकधर्मी संवेदनाओं से युक्त साहित्य की रचना प्रचुर मात्रा में प्रारंभ हुई। इसका कारण जो भी हो किंतु यह सत्य है भक्ति काल में साहित्य की प्रवृत्ति जनोन्मुख हो गई थी। जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल और पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी 'लोक' शब्द से संबोधित किया है। यद्यपि दोनों के 'लोक' में वैचारिक दृष्टि का अंतर है। जहां आचार्य शुक्ल का लोक शास्त्र सम्मत जन सामान्य है, तो वहीं पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी अनगढ़, अर्ध शिक्षित, निचले तबके के लोगों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन के उद्भव में मुस्लिम आक्रमणकारियों को जिम्मेदार ठहराते हुए लिखते हैं कि "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देव मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थी, ... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[60] तो वहीं पर पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे दक्षिण से आया हुआ मानते हैं तथा मुस्लिम प्रतिक्रिया के रूप में खारिज करते हुए उसे 'जातिगत कठोरता' और 'धार्मिक संकीर्णता की प्रतिक्रिया' मानते है तथा जोर देकर कहते हैं- "अगर इस्लाम नहीं आया होता तो इस साहित्य का बारह आना वैसे ही होता जैसा आज है"।[61]

दोनों आचार्यों के कथनों से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है। वास्तव में भक्ति आंदोलन के पीछे दोनों भाव हैं। जहां तक भक्ति दक्षिण से आने की बात है वह सत्य है, किंतु दक्षिण की निरापद लोक में भक्ति भाव उत्पन्न होने के क्या कारण थे? सबसे पहले स्मृतियों की रचना दक्षिण में हुई और जातिवाद की अमानुषिक कठोरता को विधिवत राजकीय और धार्मिक संरक्षण दक्षिण भारत के अपेक्षाकृत छोटे-छोटे राज्यों में गुप्त साम्राज्य के पतन से ही शुरू हो गया था। धीरे-धीरे वर्ण और जाति व्यवस्था समाज को इस कदर जकड़ लिया की सामाजिक और आर्थिक संचरण ठप्प हो गया। मानवीय संवेदना को शिथिल करने और समाज में राजव्यवस्था और आर्थिक ढांचे को मजबूत बनाए रखने के लिए तीसरी, चौथी शताब्दी में

अस्पृश्यता की भावना जन्म लेना शुरू हुई। जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भक्ति-भाव, आंदोलन का रूप ग्रहण करने लगा। क्योंकि गीता में कहां गया है-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विनदति मानवः।।[62]

(जो सभी प्राणियों का उद्गम है और सर्वव्यापी है, उस भगवान की उपासना (भक्ति) करके मनुष्य अपना (वर्णधर्म) कर्म करते हुए पूर्णता प्राप्त कर सकता है।)

वास्तव में भक्ति आंदोलन ऊंच-नीच तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध ईश्वर के सामने मनुष्य की समानता का आंदोलन था। जो दक्षिण में आलवार और नायनार संतों (पांचवीं से नौवीं शताब्दी) द्वारा अग्रेषित किया गया। अस्पृश्यता और वर्णधर्म की कठोरता दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में कमतर थी। यही कारण की भक्ति आंदोलन दक्षिण में शुरू हुआ।

मुसलमानों के आक्रमण के पहले जितने आक्रमणकारी या विजेता भारत में आए, उनके पास कोई मजबूत धार्मिक और सांस्कृतिक आधार नहीं था। अतः वे कुछ संघर्षों पश्चात भारतीय धर्म और संस्कृति का अंग बन गए तथा उनको भी उनकी शक्ति और क्षमता के अनुसार सामाजिक स्तर प्रदान कर दिया गया। डॉ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार "शक, पहलव, हूण आदि का भारतीय समाज में विलीनीकरण हुआ और उनमें से युद्धोपजीवी राजपूत कहलाए।"[63] इससे स्पष्ट होता है कि तीसरी से चौदहवीं शताब्दी के बीच मध्य और उत्तर भारत किसी न किसी रूप में सांस्कृतिक उथल-पुथल का शिकार होता रह था। जिसके कारण उत्तर भारत में कुछ स्तर पर गतिशीलता बनी रही और वह सामाजिक स्तर पर दक्षिण भारत की तरह घोर जड़ता का शिकार नहीं हुआ।

मुस्लिम राज्यों की प्रतिष्ठा के साथ धर्म से हिंदुओं की आस्था घटी, उनका विश्वास डगमगाया। शास्त्रों में लिखी बातें अकाट्य सत्य हैं यह भावना समाज में कमजोर पड़ने लगी। इसके दो परिणाम हुए। हिंदू वर्णधर्म और जाति व्यवस्था में जो जातियां ऊंचे स्थान और लाभकारी स्थिति में थीं, वे कट्टतर होती गईं तथा जो निम्न और संतापित थीं वे ईश्वर तक पहुंचने के सरल और सहज मार्ग की तलाश में जुट गईं। उनका विश्वास ईश्वर एक है और सभी मनुष्य उसके लिए समान है जैसा दृढ़ विश्वास समाज के निचले तबके में गहराई से बैठ गया। इसलिए भक्ति काल में समाज और धर्म में सुधार हेतु, सुधारवादी आंदोलन दिखाई पड़ते हैं। यह सुधारवादी आंदोलन पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के उस कथन का हिस्सा है जिसमें उन्होंने चार आने भक्ति आंदोलन में इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार किया है।

किंतु भक्ति काल में धर्म के धरातल पर जो मुख्य परिवर्तन आया उसमें जनता, लोक, आमजन प्रमुख हो गए। धर्म, शास्त्रों से हट कर व्यक्तियों का मामला हो गया। शास्त्र शुद्धता के स्थान पर कर्म शुद्धता प्रमुख हो गई। अस्पृश्य, निचले और पिछड़े लोगों का वर्णधर्म में कोई लगाव नहीं रह गया। इसलिए यह लोक एकेश्वरवाद की ओर झुका और अपने ईश्वर को

'निर्गुण' नाम दिया। चूंकि राजधर्म इस्लाम था, वर्णधर्म की स्थापना कराने के लिए राजशक्ति नहीं थी, इस करण से अछूतों, निचली, पिछड़ी जातियों में आत्मविश्वास भर गया और निर्गुण धर्म पूरे उत्तर और मध्य भारत में एक समाज सुधार और धर्म सुधार आंदोलन का रूप धारण कर लिया।

निर्गुण संतो में प्रमुख कबीर दास, गुरु नानक, रैदास, दादू दयाल, नामदेव, तुकाराम, ज्ञानदेव आदि थे। निर्गुण संतों में प्रमुख कबीर दास वस्तुतः एक नए धर्म मानव धर्म की स्थापना करना चाहते थे। जहां मानव मात्र की एकता हो, सभी सम हो, ईश्वर प्राप्ति का अधिकार सबको हो। परंतु इसके मार्ग में तत्कालीन बाह्याडंबर, शास्त्र विहित मान्यताएं, ऊंच-नीच की भावना, छूआ-छूत आदि सबसे बड़ी बाधाएं थी। अतः कबीर ने शास्त्रों और पुराणों की निंदा की तथा समाज में व्याप्त अंधविश्वासों पर कुठाराघात किया। जिसके कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें शास्त्र विरोधी माना है। अतः पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लक्षित किया है कि भक्ति युग का अंतर्विरोध लोक और शास्त्र का द्वंद्व है। इसी लोक और शास्त्र के द्वंद्व को डॉ. रामविलास शर्मा लोक जागरण कहते हैं। शास्त्र समाज को नियम प्रदान करता है, एक व्यवस्था देता है, जिसमें सामाजिक शांति और सुरक्षा का एहसास करते हुए व्यक्ति व्यवस्थित जीवन जी सके। जब शास्त्र व्यक्तियों में घृणा और अपमान पैदा करे, मनुष्य शास्त्र से दमित होने लगे, शास्त्र मनुष्य के लिए नहीं, बल्कि मनुष्य शास्त्र के लिए है, तो ऐसी दशा में समाज और शास्त्र में सुधार आवश्यक हो जाता है।

कबीर दास वर्णधर्मी शास्त्रीय व्यवस्था से पीड़ित लोक के महानायक थे। इसी लोक के बेहतरी के लिए निर्गुण पंथ की स्थापना की और धर्मशास्त्रों के बदले, आंखों देखी पर विश्वास को सत्य बताया। इस संबंध में उनके लोक प्रचलित दोहों को उदाहरण के रूप में नीचे दिया जा रहा है-

1. मैं कहता आंखन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।
2. जाति-पांति पूछै नहीं कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।
3. अरे दोऊन राह न पाई, हिंदुअन की हिंदुआई देखी तुरकन की तुरकाई।

हिंदू पराभव के कारण हिंदू सामज के शिष्टजन में भी घोर असंतोष था, एक ओर मुस्लिम धर्म के कारण शुद्ध और अशुद्ध की समस्या बढ़ रही थी, तो दूसरी ओर पौराणिक धर्म से विश्वास डगमगा रहा था। ऐसे में भक्ति भाव के साथ तुलसी दास ने 'रामचरित मानस' की लोक भाषा में रचना की, जिसमें परब्रह्म श्रीराम के दैवीय चरित्र में लोक तत्त्व मिलाकर उन्हें मानव संघर्ष के आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया तथा हिंदू धर्म की विविध शाखाओं जैसे सगुण-निर्गुण, शैव-वैष्णव, शाक्त आदि में मौलिक एकता स्थापित की। इसलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल श्रीराम को धर्म रक्षार्थ, दुष्टों के दलन के लिए अवतरित हुआ मानते हैं। अतः तुलसी दास पराजित हिंदू जनता के समक्ष श्रीराम का लोक रक्षक और लोक मंगल चरित्र

रखकर धर्म में विश्वास वापस लाए तथा संघर्ष करने की प्रेरणा दी। जिससे जाति-भावना शिथिल पड़ी और भेद-भाव कमजोर होता दिखाई देता है। परिणाम स्वरूप श्रीराम का लोक-रक्षक स्वरूप जन-जन की लोकोक्ति बन गया है-

जब जब होई धरम की हानि, बढ़ैं असुर अधम अभिमानी।

तब तब प्रभु धर विविध शरीरा, हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार- "भक्ति और प्रेम के पुट पाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ समिश्रण कर बाबा जी ने ऐसा रसायन तैयार किया कि जिसके सेवन से धर्म मार्ग में कष्ट और श्रांति न जान पड़े"।[64] इससे स्पष्ट होता है कि तुलसी दास ने शास्त्र को लोक के अनुकूल बदलकर उसे लोक सम्मत बनाया। इससे स्पष्ट होता है कि शास्त्र, लोक का अंग है और लोक ही चिरंतन है।

कबीर और तुलसी के लोक के अतिरिक्त एक और लोक की रचना कवि सूरदास द्वारा सूरसागर में कृष्ण के चरित्र के रूप में की जा रही थी। सूरदास ने कृष्ण के लोक रंजक के साथ साथ लोक रक्षक रूप को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया है। सूरदास के काव्य में ब्रज प्रदेश का लोक जीवन अपनी सुषमा के साथ जीवंत हो उठा है। सूरदास ने जिस समाज का वर्णन किया है वहां वंशी की धुन पर गोपियां लोक लाज की मर्यादा का त्याग करके यमुना किनारे चली आती हैं, रात-रात भर महारास होता है। दूसरी ओर बालक कृष्ण बकासुर व पूतना का वध करते हैं तथा ब्रज के नागरिकों की रक्षा के लिए गोवर्धन धारण कर, इंद्र के अहंकार को चकनाचूर करते हैं। प्रश्न उठता है सूरदास लोक का कौन सा रूप स्थापित करना चाहते है? सूरदास लोक की सहज भक्ति स्थापित करना चाहते है। भक्ति सहज और समानतावादी होती है, इसलिए सूरदास ने अपने काव्य में भगवान और सामान्य जन के बीच के प्रेम संबंधों को समानता के आधार पर विकसित किया है। जिसमें प्रेम सर्वोच्च है, प्रेम से ही भक्ति उत्पन्न होती है। परमानंद श्रीवास्तव का कथन है- "उच्चतर मानव मूल्यों से परिचालित लोक कल्याण के लिए किए गए कर्म ही तो सौंदर्य बनाते हैं। सूर के कृष्ण की कई भूमिकाएं है और यह सराहनीय है कि कवि ने सौंदर्य चित्रण, रूपांकन, प्रेमभाव लीला आदि के साथ समर्थ सामाजिकता का निष्पादन किया है। जिसे लोक धर्म या लोक मंगल कहा गया है। ..... सूर लोक रक्षक और लोक रंजक का द्वैत पाटते चलते हैं।"[65] इस प्रकार सूरदास ने भ्रमरगीत में निर्गुण और पौराणिक भक्ति की जगह सहज भक्ति की स्थापना करते हैं, जिसमें उनका ईश्वर लोक के सामान्य दुख-सुख से समान रूप से दुखी और आनंदित होता है। इस प्रकार सूरदास सगुण से सहज और लोकहितार्थ भक्ति की स्थापना की है।

मुस्लिम राज्य को सुदृढ़ता मुगलों के शासन काल में उस समय मिली जब उसमें बड़ी मात्रा में हिंदू तत्वों का समावेश हुआ। किंतु हिंदू मुस्लिम गठजोड़ से शक्तिशाली और सुरक्षित बनी शासन व्यवस्था लोक के विरूद्ध हो गई। हिंदू और मुगल सामंतवादी शक्तियों ने

यथास्थिति बना कर सामाजिक परिवर्तन को रोक दिया। परिणाम स्वरूप लोक से दूर, सामंतों की विलासिता के प्रशंसक और नारी के नखशिख काल्पनिक सौंदर्य का बखान करने वाले दरबारी कवियों की फौज तैयार हुई।

1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में सामंती शक्तियों के पतन तथा अंग्रेजी शासन के परिणाम स्वरूप भारत में दुनिया के लोकतंत्र, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का आदान-प्रदान होना शुरू हुआ। ऊंचे स्तर पर सुधार बहुत हद तक प्रभावी हुआ किंतु लोक की स्थिति वैसी ही जड़ बनी रही। स्वतंत्रता आंदोलन और मार्क्सवादी विचारधारा धीरे धीरे समाज में निचले तबके तक पहुंचना आरंभ हो गयी, जहां निचले तबकों के मानस में अब भी कबीर दास जीवंत रूप में संघर्ष करते दिखाई देते हैं। लोक-भावना से साहित्य को जोड़ने और साहित्य से लोक को जागरूक करने और उसकी समस्याओं को बड़े क्षितिज पर लाने का कार्य मुं प्रेमचंद, निराला एवं प्रगतिशील कवियों ने किया।

प्रगतिशील कवियों की त्रयी बाबा नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन ने अपनी काव्य रचनाओं में भारतीय लोक को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया। इनकी रचनाओं में लोक-जीवन, लोक-सौंदर्य, लोक-संघर्ष आदि काव्य के अंग बने। इसका प्रभाव साहित्य विधाओं एवं अन्य कलाओं में भी पड़ा और लोक से जुड़े साहित्य की प्रभूत मात्रा में रचनाओं का दौर शुरू हुआ। धीरे धीरे 'लोक' शासन, प्रशासन, कला और साहित्य का अंग बनता जा रहा है। आगे लोक की प्रगति कहां तक होती है? क्या भविष्य में जीवंत, समता मूलक और वैज्ञानिक सोच वाले समाज का निर्माण हो पाएगा या.....यह भविष्य के कोख में छिपा हुआ है।

केदार काव्य में लोकधर्मी संवेदना

केदारनाथ अग्रवाल लोक कवि हैं। वे भी कबीर की भांति बिना लाग लपेट की खरी-खरी बात करते हैं। उनकी रचनाओं में लोक की सहजता और अक्खड़ता मिलती है। कवि उन मनुष्यों के जीवन को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है- जो अशिक्षित है, जो दुनियादारी के दांव-पेंच से अनभिज्ञ सहज और सरल जीवन जीते हैं। ऐसे लोगों की समस्याओं को कभी राज व्यवस्था में स्थान नहीं मिलता है। इनका सभी तरह से शोषण होता रहता है और ये मूक सदैव इसका शिकार होते रहते हैं। उनमें न तो लड़ने की क्षमता है और न ही दृष्टि होती है। कवि सच्चे मायने में इनकी स्थिति को बदलना चाहता है। सामान्य, अनगढ़, अशिक्षित, ग्रामीण भोले-भाले देशवासियों को ही 'लोक' के रूप में संबोधित किया गया है और कवि की संवेदना इन्हीं लोगों के साथ कविता में प्रकट हुई है। किसी भी सजीव के कष्ट से पीड़ित हो कर उसके प्रति सहानुभूति रखना संवेदना कहलाती है। इस प्रकार की भावना जब लोक की दशा देखकर

पैदा हो और उस भावना से पीड़ित हो कर जब कोई व्यक्ति या समूह लोक की दशा में सुधार करने की कोशिश करता है, तो उसे लोकधर्म कहते हैं। इस लोकधर्म के प्रति संवेदनशीलता ही लोकधर्मी संवेदना कहलाती है।

कवि केदारनाथ अग्रवाल का पूरा साहित्य इसी संवेदना से प्रस्फुटित हुआ है। केदार के काव्य में इसी लोक की चिन्ताओं को उनकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा प्रेम और प्रकृति की कविताओं में देखा जा सकता है। उनके काव्य में लोक के सभी रूप प्रकट हुए हैं। इनकी कविताओं में रोजी-रोटी की तलाश में भटकते लोग, कल-कारखानों में काम करने वाले लोग, जिनकी हड्डियों को सभ्य आदमी के समाज ने टेढ़ी कर के मोड़ दिया है। पैत्रिक संपत्ति के रूप में बाप से सौगुनी भूख पाए, पेट खलाए फिरने वाले भूखे किसान के बेटों की विपत्ति का चित्रण है, तो व्यास मुनि को धूप में रिक्शा चलाते, हरिश्चंद्र को न्याय के घर में झूठ की गवाही देते, द्रौपदी, शैव्या और शची को रूप की दुकान चलाने के लिए मजबूर होते देखा है। केदार ने लोक जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण गतिविधियों पर कविताएं लिखी हैं। उनकी कविताओं में लोक की दुर्दशा के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र हैं। इस दुर्दशा के लिए केदार कभी लोगों की सामान्य प्रवृत्तियों को भी जिम्मेदार ठहराते हैं।

जगत में सत्य पर असत्य की जय की चिंता ने केदार की कविता को धार दिया है। कहना न होगा कि केदारनाथ ने जीवन और कवि-कर्म की सार्थकता संसार को संवारने में मानी और आजीवन इसके लिए प्रयास रत रहे। उनकी लोक संवेदना इतनी गहरी है कि वे अपना सर्वस्व निछावर कर लोक के जीवन में जागरूकता और उत्थान लाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। इसकी घोषणा स्वयं करते हैं-

कि जब मरूँ
तो संसार को सँवारते-सँवारते मरूँ
सँवारने का सुख
भोगते-भोगते मरूँ [66]

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में लोकधर्मी संवेदना विस्तृत फलक पर व्यक्त हुई है, जिसका प्रसार लोक जीवन के चित्रण, श्रम का महत्व, सामाजिक गतिशीलता, प्राकृतिक प्रेम और युग बोध की संवेदना से कहीं आगे तक फैला है। किंतु अपनी सीमा के लाघव के कारण उक्त रूपों तक कवि की कविता की संवेदना का अनुशीलन करेंगे-

लोक जीवन

केदारनाथ अग्रवाल बुंदेलखंड अंचल की बांदा धरती के ऐसे कवि है, जिनकी रचनाओं में मिट्टी की महक और उस मिट्टी के निवासियों का जीवन अपनी समूची विशेषताओं के साथ मौजूद है। किसान की खेती उसकी बेटी होती है, बारिश उसके जीवन की आशा होती, हंसिया,

खुरपी, जूआ, नाधा, बैल, गाय, भैंस, भेंड़, छेड़, गोबर, खाद, बीज, बुवाई, सिंचाई, बरहा, मेड़, घास, निराई, गुड़ाई, फसल, कटाई, पेराई, खेत, खलिहान, ओसाई आदि उसके दिनचर्या का अंग होता है। वह उसी में जन्म लेता है और उसी में मर जाता है। उसके घर परिवार के लोग, सुबह से शाम तक एक लय से अपनी खेती को सयान करने में लगे रहते हैं। उसके सामने पानी, बिजली, बीज और खाद की समस्या मुंह बाए खड़ी रहती है। जब अन्न तैयार हो जाता है तो उसका भाव इतना गिर जात है कि उसे बेच कर वह लागत भी नहीं निकाल पता। वह गरीबी की चादर में हमेशा लिपटा रहता है। बच्चों की पढ़ाई के लिए अच्छी पाठशाला नहीं, अच्छे शहरी स्कूल में वह भेज नहीं पता, फीस, किताब-कापी का बोझ उठाने के लिए पैसा नहीं होता। उसकी दारुण दशा से मुक्ति का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। बीमारी आई तो डॉक्टर की फीस देने के पैसे नहीं होते, दवा इतनी महंगी की उसे खरीद नहीं सकता। झाड़-फूंक से रोगों को दूर भगाना और जड़ी-बूटियों से चंगा होना चाहता है। कभी इन घरेलू उपायों से रोग पर विजय पाता और कभी रोगों के साथ मिट्टी में मिल जाता है तथा छोड़ जाता है अपने पीछे असहाय, लाचार परिवार। उसका बेटा थामता, उसका जूआ और तैयार हो जाता है, मिट्टी में मिट्टी करने के लिए अपना जीवन। यह चक्र निरंतर उसके जीवन का चक्र बन घूमता रहता है। फिर भी ईश्वर पर भरोसा डिगता नहीं, आशा लगी रहती, अगली बार अच्छी फसल होगी, उसके परिवार में सुख आएगा। सरकार बदलेगी, बिजली आएगी, उसके मेहनत का दाम मिलेगा। इस बार लेबी पर अच्छे दाम मिलेंगे। नेता जी चुनाव में कहा है- सरकार ऊंचे दामों पर उपज खरीदेगी। काँखते-काँखते सरकार सौ-पचास रुपये ज्यादा मूल्य निर्धारित करती है, पर ठेकेदार उसकी उपज को खरीदता नहीं, पचासों बार चक्कर लगाने पर निर्धारित सरकारी मूल्य से सौ-पचास रुपये कम में बेचने के लिए मजबूर होता है। व्यापारी घर पर आता उससे भी कम दाम पर गेहूँ, धान खरीद ले जाता है। क्योंकि अब इंतजार नहीं कर सकता। देन-दारियां और नई जरूरतें मुंह बाए समाने खड़ी होती हैं। स्वतंत्रता के बाद जो आशा थी किसान के जीवन में खुशहाली आएगी, हरी क्रांति हुई देश अनाज के मामले में आत्मनिर्भर हो गया किंतु किसान की दशा में सुधार नहीं आया, उसके सामने समस्याएं जस की तस हैं, आजादी के लाभ उस तक नहीं पहुंचे। केदार लोक के कवि है, किसानों की इन्हीं समस्याओं को गहराई से महसूस किया है-

जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने :
घर का मलवा टूटी खटिया,
कुछ हाथ भूमि-वह भी परती।
चमरौधे जूते का तल्ला,
छोटी, टूटी बूढ़िया औगी,

बनिया के रुपयों का कर्जा,
जो नहीं चुकाने पर चुकता।
बस यही नहीं, जो भूख मिली
सौगुनी बाप से अधिक मिली।
अब पेट खलाये फिरता है।
चौड़ा मुंह बाये फिरता है।
वह क्या जाने आजादी क्या?
आजाद देश की बातें क्या??[67]

केदार लोक जीवन से बहुत गहराई से संपृक्त हैं, उनके बारे में अशोक त्रिपाठी का कथन है- "केदार धरती के कवि हैं, खेत-खलिहान, कारखाने और कचहरी के कवि हैं। इन सबके दुख-दर्द, संघर्ष के कवि हैं। वे पीड़ित और शोषित मनुष्य के पक्षधर हैं। वे मनुष्य के कवि है। वे मनुष्य बनना और बनाना ही उनके जीवन की तथा कवि-कर्म की सबसे बड़ी साध और साधना थी।"[68] वे गांव के जीवन के लोक रस की व्यंजना इतनी खूबसूरती से करते हैं कि किसान, खेती, खेत में काम करते लोगों की हंसी, खुशी और प्रेम सबका एक साथ परिपाक इस प्रकार होता है कि मानो किसानी जीवन, जो सात्विक भाव का आनंद है होली के रंग से सराबोर होकर बसंती हो जाता है। धरती राधा बन कर हरी घंघरिया पहन कर प्रेम रंग में मस्त होकर नाच रही है और किसान कृष्ण रूपी सांवरिया बन कर अपनी धुन पर नचा रहा है। यहां जो बिंब कवि ने उकेरा है, वैसा लोक जीवन का रसात्मक बिंब अन्य कवियों में मिलना मुश्किल है-

आसमान की ओढ़नी ओढ़े।
धानी पहने फसल घंघरिया।।
राधा बन कर धरती नाची।
नाचा हंसमुख कृषक संवरिया।।[69]

कृषक का हंसमुख और सांवरिया विशेषण, उसके अंतर की सरलता और जीवन की कठिनाइयों को सहजता से लेने के गुणों को व्यक्त करते हैं। किसान का लोक चित्र इतना सजीव और निर्मल है। इसमें लोक जीवन का उल्लास छलक उठा है। क्या शहर की तनाव भरी जिंदगी में ऐसा रस कभी मिलेगा? क्या नागर संस्कृति में ऐसा उल्लास और विश्वास मिलेगा? मशीन बन चुकी शहर की जिंदगी में आर्थिक संपन्नता के बाद भी धोखा, संत्रास और कपट ही भरा है। जबकि गरीबी में जीता हुआ किसान विश्वसनीय और प्रेमी है। वह न केवल अपने खेतों, पशुओं, हवा, पानी, पेड़-पौधों से प्यार करता हुआ उसकी रक्षा करता है बल्कि उतना ही अपने भगवान पर भी भरोसा रखता है। यह है गांव का निर्मल जीवन जिसकी अभिव्यक्ति मिट्टी की सोनी महक से अभिभूत कवि ही कर सकता है। रस परिपाक की दृष्टि से उक्त पंक्तियां महाकवि कालिदास के काव्य रसों से कम रसीली नहीं हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सच्चे कवि हृदय के बारे में कहा है- "सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।"[70] आचार्य जी का कथन कितना सटीक कवि की काव्य की संवेदना को उद्‌घाटित करता है। केदार का हृदय लोक हृदय था, जिसमें लोक के छोटे-छोटे अनछुए अनगिनत पहलू समाए हुए थे। उन्हीं छोटे-छोटे लोक जीवन के रसों का रंग, फाग बन कर केदार के पूरे काव्य को सजीव बनाए हुए है। वे स्वयं कहते हैं-

छोटे छोटे
क्षणिक सुखों को
चूम-चाटकर,
बड़े-बड़े
कड़ियल कष्टों को
सहते-सहते,
अंत समय तक
जो जीते हैं,
यही लोग तो
सच्चे अर्थों में
मानव हैं-
मानवता के संरक्षक हैं।[71]

केदार की कविता किसानों के हालातों को चित्रित करने वाली कविता है। किसानों की जिंदगी उसकी फसल के ऊपर आधारित होती है। गेहूं को गेरुआ नामक रोग लग गया है, चना में भी घोंघी लग गई है। मटर फूली है पर रोग के कारण बंझी हो गई है। इस स्थिति में किसान का भविष्य अंधकार में डूब जाता है, उसे वैसे ही संताप होता है जैसे किसी का लड़का वार्षिक परीक्षा में फेल हो गया हो। कम से कम एक शाल के लिए किसान की कमर टूट जाती है। उससे उबरे का कोई मार्ग नहीं होता है। भगवान का नाम ले कर संतोष करने के अलावा, क्या कर सकता है बेचारा?

गेहूं में गेरुआ लगा,
घोंघी ने खा लिया चना,
बिल्कुल बिगड़ा, खेल बना।
अब आफत से काम पड़ा,
टूटा सुख का भरा घड़ा,
दिल को धक्का लगा बड़ा।
विधि से देखा नहीं गया,

जोखू बाजी हार गया,

लकवा उसको मार गया।[72]

जमीन छिनने का डर उसे अंदर ही अंदर मार डालता है। लोक-जीवन की समस्याओं का केदार ने जो सजीव और संवेद्य वर्णन किया है, वह भोगा हुआ सच लगता है। इसमें मात्र नगर कवियों की बनावटी करुणा नहीं है, किसानी जीवन की पोर-पोर सच्चाई है। यह सच्चाई आज भी गांव के हर कोने में पसरी पड़ी है।

आज हम भले ही 21वीं शताब्दी में जीने की हुंकार भरते हैं, कंप्यूटर, मोबाइल और आधुनिक तकनीकी एवं जनसंचार के उपकरणों पर गर्व करते हैं। हमारे देश के नगरी-क्षेत्रों में ई-गवर्नेंस का दावा किया जाता है। बहुत हद तक हमारे अधिकांश बड़े कार्यालय, बैंक, मंत्रालय, डाकघर, कंपनियां, सेवा संस्थान, स्कूल, कालेज, शिक्षा के बड़े-बड़े संस्थान, विश्वविद्यालय, कृषि विश्वविद्यालय, शोध संस्थान, अभियांत्रिकी और आयुर्विज्ञान तथा शासन, प्रशासन व न्यायपालिका सभी ऑनलाइन हो गए हैं। जनता उससे लाभ भी उठा रही है। किंतु क्या इसका लाभ गांव और दूर दराज के भागों में बसने वाली बहुसंख्यक जनता उठा पा रही है? यदि नहीं तो क्यों नहीं? क्या हममें से किसी की संवेदना उन लोगों की समस्याओं और उसके कारणों को जानने की हुई? कभी नहीं, हम तो अपनी ही वेदना और संत्रास से इतने व्याकुल है कि हमें धूप और छांव की संवेदना ही नहीं मालूम। फिर कैसे होगा बहुसंख्यक भारतीय जन का विकास? यही वह जन है जिसे 'लोक' कह-कह कर इतराते हैं, परंतु उस लोक के दुख और सुख के स्वाद से अनभिज्ञ। केदार इसी लोक की संवेदना से आप्लावित थे, इसी का साहित्य से मंगल करना चाहते थे। जब तक इस लोक का मंगल नहीं होगा तबतक आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा साहित्य की साधना का उद्देश्य लोकमंगल करना, अपूर्ण रहेगा।

क्या हमें पता है? लोक मंगल क्यों नहीं हो पाया। इसके दो कारण बहुत स्पष्ट हैं, पहला राजनीतिज्ञों और विद्वजन की सोच में समाई हुई विसंगतियां है। भ्रष्टाचार, चारित्रिक पतन, ऊंच-नीच, छूआ-छूत, शिष्ट-निकृष्ट की सोच को आज भी लेकर हम घूमते है। यह समाज में बहुत गहराई से अपनी जगह बनाई हुई है। जब इस चश्मे से आम जन को देखा जाता है तो उसकी पीड़ा और दर्द नहीं दिखाई देता है। उसकी मदद की जगह यह दृष्टिकोण बन गया है कि ऐसा ही उसका जीवन हो ताकि शहरी लोग अपने हित में उसका फायदा उठा सकें। दूसरा कारण मौलिक सुविधाओं का अभाव जैसे- सड़क, बिजली, शिक्षा और मौलिक आवश्यकताओं की अपूर्णता जैसे- स्कूल तो है पर फीस नहीं, बस तो है पर किराया नहीं, खाना तो है पर भजाना नहीं। ऐसी दारुण दशा में जीवन यापन करती जनता के सपनों का काव्य, लोक संवेदना से संपृक्त कवियों ने रचा है। जिसमें केदार, नागार्जुन और त्रिलोचन आदि का योगदान पक्का और सच्चा है। उक्त समस्याओं की मूल वजह केदार बताते है-

कागज के बजते हैं ढ़ोल

गांव नगर में पोलम्पोल
अफसर अमला रहे टटोल
पैसा रुपया गोलमगोल।

* * *

कोई नहीं पकड़ता लूट
मिली हुई है भारी छूट
तंग गई धीरज की टूट
भाग्य गए जनता के फूट।[73]

औसत भारतीय बहुत संतुलित विचार का होता है। वह सबको एक ईश्वर की संतान मानता है। वह धर्म, संप्रदाय, पंथ के आधार पर बहुत भेद-भाव नहीं करता है। भारतीय धर्म को व्यक्तिगत मामला मानते हैं। ईश्वरीय एकता में विश्वास रखते हैं। फिर प्रश्न उठता है कि भारत में इतना सुदृढ़ जाति व्यवस्था क्यों है? परंतु यह पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि प्रत्येक औसत हिंदू के पास दूसरी जाति के मित्र और बंधु हैं। केवल वैवाहिक संस्कार जो धार्मिक कारणों से वर्जित था, बड़ी मात्रा में अंतरजातीय नहीं दिखाई पड़ता है। किंतु समरसता और भाईचारा हर जगह देखा जा सकता है। वर्णधर्म क्रम की पिछड़ी जातियां आपस में भाईचारा रखती हैं। शायद यही कारण है कि भारत जैसे देश में भिन्नता होते हुए भी एकता बनी हुई है। लोकधर्मी संवेदना के कवि केदारनाथ अग्रवाल इस भाव-भावना के साहचर्य को अनुभूत किए हैं। इसलिए वे सांप्रदायिकता और कट्टरता के खिलाफ नए लोक गीतों के माध्यम से आवाज उठाई है। जिसमें लोक कला का एक नया रूप सामने आता है तथा कविता में सौहार्द भाव व्यक्त होता है-

हिंदुओ मुस्लिम सुनो!
मैं रक्त की प्यासी नहीं हूं
सिंधु बादल बन के ऊपर
वृष्टि करता जा रहा है
मेरु हिम का प्राण-शीतल
दुग्ध-धारा पिला रहा है
स्नेह-गंगा और यमुना में
अमित लहरा रहा है
स्रोत का बल फोड़ धरती
अम्बु पान करा रहा है
हिंदुओ मुस्लिम सुनो!
मैं रक्त की प्यासी नहीं हूं।[74]

केदारनाथ अग्रवाल जितने सहज हैं, उतने कठिन कवि भी है। उनकी सहजता भारतीय लोक-जीवन के चित्रण में जीवंत हो उठती है। वे वास्तव में भारत के ग्राम-जीवन, कृषि-संस्कृति और वास्तविक भारत से संबंध रखते हैं। गांव और गांव के जीवन से जिनका संबंध पुस्तकों और रजतपटों तक सीमित है, उनके लिए वे कठिन और आक्रामक कवि हैं। क्योंकि वे किसानों के प्रतिनिधि हैं। ठेठ ग्राम्य जीवन से लेकर श्रमिकों की समग्रता उनके काव्य की मुख्य काव्य-वस्तु है। इसका यह मतलब नहीं है कि कवि से जीवन का कोई कोना छूट गया है। सच तो यह है कवि ने जीवन के उन सभी पक्षों पर काव्य रचा है जो हम सबसे अनुस्यूत हैं। क्या सुख, क्या दैन्य, क्या श्रम से पस्त जीवन, क्या टूटी आकांक्षाओं में दम तोड़ते सपने, क्या क्रूर व्यवस्था के पाखंड, क्या दम तोड़ती नैतिकता, प्रजातंत्र का खोखला खेल और इन सबसे अलग प्रकृति के समस्त उपादानों पर निछावर कवि की अनुभूति की वह अप्रतिम मानवीय सशक्ति जो जीवन को नई प्रेरणा से अनुप्राणित कर देती है। वह शक्ति कबीर को 'जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ' से मिलती है, तो वही शक्ति केदार को महीमय होने से मिलती है-

बांस की
बंशी बजाती
गेहुंओं की गीत गाती-
मदमाती
यह मही है
प्यार जो करती सभी को।[75]

केदार की संवेदना गांव और धरती की उपज है, जहां गेहुंओं की लहलहाती फसल के गीत मन को तो मस्त करते ही है, सबके लिए जीने की अथक शक्ति देते हैं।

केदारनाथ अग्रवाल भारतीय लोक जीवन के प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें सीधी, सरल, सच्चे मन की अभिव्यक्ति है। उस एक एक क्षण की अभिव्यक्ति जिसमें जीवन के कठोर संघर्ष की छवियां समाई होती हैं। उनके यहां कशीदाकारी नहीं है बल्कि लोक जीवन का बेबाक दर्शन है। कविता के इतने बड़े विस्तार को जीते हुए भी वे अपनी लोक संवेदना की बुनियाद से कभी विलग नहीं हुए तो इसका एक ही कारण था कि उन्होंने अपने जीवन को लोक से संपृक्त कर लिया था। वे अपने पूरे जीवन भर इस ध्येय पर अटल रहे। उनका ध्येय था- अपने समय, समाज और संस्कृति की चिंता तथा इस चिंता से उपजी उत्कट मानवीय प्रतिबद्धता, जो अपने को गला-तपा कर, खरा बना कर ही संभव है। केदार की कविता जीवन से निसृत और जीवन राग से बद्ध सहज कविता है। कविता उनके जीवन का आशय है, मानो कविता के एक एक शब्द में वे स्वयं गोता लगा रहे हों। कहते हैं जो साधारण चीजें हमारे जीवन में होती है, वही बड़ी असाधारण होती हैं, पर हम उसकी उपस्थिति भूले रहते हैं। उसे महत्वहीन मानते रहते हैं। कवि केदार उन्हीं साधारण चीजों के ऐसे असाधारण गायक हैं, जो जानते हैं, इन चीजों के बिना

हमारे होने का कोई मतलब नहीं होता। इस मायने में उनकी कविता छोटी-छोटी साधारण चीजों से बनी असाधारण अभिव्यक्ति है, जो सहज और छोटी चीजों की अहमियत का पता बताती हैं। इसी लिए कविवर रहीम ने कहा था-

रहीमन देख बड़ेन को, लघु न दीजै डारि।
जहां काम आवै सुई, कहा करै तलवार।।[76]

केदार हमारे जातीय बोध के कवि है, भारत के सामासिक संस्कृति के कवि है, मानवता और इंसानियत के कवि हैं। वे अपनी सादगी में रहस्यपूर्ण है तो सहजता में असाधारण हैं-

गंगा के मटमैले जल में छप-छप डांड़ चलाते,
सरसैया से परमठ होते, उल्टी गति में जाते,
तन का सारे जोर जमाते-धारा को कतराते,
आस-पास के जलभ्रमरों से अपनी नाव बचाते,
धीरे-धीरे मजे-मजे से रुकते और सुस्ताते,
चुल्लू दो चुल्लू पानी पी मुंह को तरल बनाते,
आर-पार सब ओर ताकते आंखों को बहलाते,
पल-पल सूरज की गर्मी में गोरे गात तपाते,
एक बजे से लेकर हमने साढ़े पांच बजाए,
एक नहीं छै-छै छालों से दोनों हाथ दुखाए!
किंतु नहीं किसी तरह से इन छालों से घबराए,
चुम-चुम तो हमने इनको मीठे दाख बनाए![77]

उपर्युक्त कविता 'दुपहरी में नौका विहार' कवि केदार की आरंभिक कविताओं में से एक है। इसमें लोक-जीवन के परिश्रम में निहित परम सुख का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण श्री ज्योतिष जोशी द्वार किया गया है- "यह कविता दोनों स्तरों पर हमें छूती है- एक स्तर है नौका विहार के माध्यम से प्रकृति का चित्रण, दूसरा स्तर है नौका विहार कराते नाविक की श्रमशीलता का सजीव अंकन। दो परस्पर भिन्न भावों को कविता में विन्यस्त करते केदार नाविक के हाड़-तोड़ श्रम को अंकित करते हैं। दोपहर से शाम तक लगातार गंगा की धारा के विपरीत लड़ता हुआ यह नाविक गंगा के मटमैले जल में डांड़ चलाता जा रहा है। शरीर का पूरा बल लगाकर वह नदी जल-धारा में उठने वाली भंवर से न केवल नाव बचा रहा है बल्कि उस पर सवार यात्रियों को भी सुरक्षित रखता है। सूरज की तपती गर्मी को झेलते हुए नाविक डांड़ पकड़े हाथ में उभर आए छालों से घबराए बिना अपने काम में लगा रहता है और हथेलियों को चूम-चूमकर उस जख्म को मीठे दाख में बदल देता है।"[78]

केदार लोक आनंद और लोक शक्ति के कवि भी हैं, नाविक को श्रम करते हुए अपने काम में जो परम तृप्ति मिलती है, ऐसी तृप्ति संसार में अन्य किसी साधन से नहीं मिल

सकती है। यही तो गीता का कर्म योग है। यही वह सुख है जिसमें हमारे देश की 70 प्रतिशत जनसंख्या अपनी गरीबी और अभावों की जिंदगी जीते हुए भी सानंद है, किसी प्रकार का विद्रोह और कुचक्र नहीं करती है। संतोषम् परम् सुखम् के मार्ग पर चलती हुई धनी तो नहीं पर सुखी अवश्य है। उसका सुख मानसिक अधिक है, परंतु भौतिक जीवन में अभाव, अवसाद तथा शोषण से वह परिवेष्टित है। कवि भारत के आम-जनता के भौतिक जीवन में भी उन्नति लाने के लिए सफलतम साहित्यिक प्रयास करता है।

वास्तव में कथा साहित्य में ग्राम्य-जीवन की संवेदना प्रेमचंद में जिस रूप में पाई जाती है, वैसे ही काव्य में यह संवेदना केदार के यहां उपस्थित होती है। इनके लिए गांव का जीवन और किसान का मतलब देहात के छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों से है। इनमें गांव के चर्मकार, पासी, धोबी, लोहार, नाई, हरिजन आदि वंचित शामिल हैं। इन मजदूरों की दशा छोटे किसानों के समतुल्य या उससे बदतर होती है। कवि ने अपनी कविताओं में ग्रामीण समाज और किसानों के जीवन की गरीबी, अभाव, तबाही, कर्ज, भुखमरी, परेशानी, दमन, उत्पीड़न, अंधविश्वास, धार्मिक और आर्थिक शोषण, भ्रष्टाचार का कुप्रभाव आदि का मार्मिक वर्णन किया है। कवि का दर्द ग्रामीण समाज से जुड़ते हुए भी मानवीय समाज का दर्द है। कवि ग्रामीण समाज के वीभत्स यथार्थ स्वरूप का बिंब प्रस्तुत करता है-

गाय, बैल, भेड़ों, बकरी, पशुओं के दल में,
मूर्ख मनुष्यों का समाज, खोया रहता है।
सड़े घूरे की गोबर की बदबू से दबकर
महक जिंदगी के गुलाब की मर जाती है।
रार, क्रोध, तकरार, द्वेष से, दुख से कातर,
आज ग्राम की दुर्बल धरती घबराती है।[79]

केदार किसान की शक्ति और मजबूरी दोनों को अच्छी तरह जानते हैं। किसान ही हैं जो विधाता से सीधे टकराता है। किसान ही वास्तव में देश की रखवाली करने वाले सच्चे प्रहरी हैं, भारत माता के असली पुत्र कहलाने के हकदार हैं। खेत की मेड़ ऊंची करने से लेकर, जनता के लिए अच्छी फसल उगाने, पशुओं की रक्षा करने तथा जवान के रूप में सरहदों की रखवाली करने वाले ये किसान, जो अपने देश के लिए खून-पसीना एक करता रहता है। वे देश में हर जगह और हर व्यक्ति द्वारा ठगे जाते हैं। सेठ-साहूकार की सेवा उन्हें करनी पड़ती है, उनके अन्याय तथा ज़ोर-ज़ुल्म को भी सहना पड़ता है। सरकारी टैक्सों की गाज भी किसान के ऊपर सबसे ज्यादा पड़ती है। महंगाई और असुविधा के बीच किसान निरंतर श्रमशील रहता है। जिसके कारण उसे रात को सोने की दवा नहीं खानी पड़ती है। वह जहां गिरा वहीं पसर कर सो जाता है। उसे खूब अच्छी नींद भी आती है। हमारा देश किसानों का देश है, कहा जाता है कि भारत की आत्मा गांवों में बसती है। यह आत्मा कोई और नहीं बल्कि किसान है, जिसे जमींदार, सेठ-

महाजन और अधिकारियों ने मिल कर लूटते रहे हैं। यह सदियों से सत्तासीनों के आधिपत्य का शिकार रहा है। हमारे देश का किसान हंसता, गाता और मुस्कराता रहता है, चाहे उसके ऊपर कितनी भी बड़ी विपत्ति पड़ी हो। वह जानता है कठोर परिश्रम ही उसके जीवन का आधार है-

वह दिन भर,
मेहनत करते हैं
पत्थर लोहे से लड़ते हैं,
लड़ते लड़ते घिस जाते हैं
घिसते-घिसते मिट जाते हैं,
तब पाते हैं
अपनी रोटी, अपना चिथड़ा,
अपना दरबा।[80]

किसान धरती को माता की तरह पूजता है और धरती मां भी उसकी मेहनत से खुश हो कर उसे कभी निराश नहीं करती हैं। धन, धान्य से उसकी झोली भर देती हैं। हरे-भरे खेत देख कर किसान खुशियों से झूम उठता है। लहलहाती फसलें, बहती हवाएं और रिमझिम बरसा किसान के जीवन में उमंग पैदा करती हैं। हरे-हरे पेड़ों को देखकर किसान गाता है। गांव का पूरा जीवन धरती की महक से गमकता रहता है। मौसम के अनुसार पत्तों, फूलों और फलों से पूरा गांव सराबोर होता है। इस धरती की कोमलता का किसान अपने प्राणों से रक्षण करता है। वह धरती की सुंदरता को बनाए रखने का पूरा यत्न करता है, क्योंकि धरती की सुंदरता में किसानी संस्कृति की सुंदरता निखरती है। किसान को अपनी और धरती के बीच की संवेदना को केवल केदार जैसे श्रेष्ठ लोक संवेदना के कवि ही पढ़ और रंग सकते हैं-

हम जोतें कोमल बन जाए माता धरती।
हम बोयें कोमल अंकुर उपजाए माता धरती।।
हम सींचें श्रम-जल लहराए माता धरती।
अन्न अन्न ही हमें लुटाए माता धरती।।[81]

कवि केदार की संवेदना देहात की संवेदना है, जिसमें गांव का जीवन खिल उठा है। गांव में प्रायः किसान संख्या में सबसे अधिक होते हैं, वही गांव की संस्कृति की धुरी हैं। पूरा गांव-समाज और वहां की अर्थ व्यवस्था किसानों के इर्दगिर्द घूमती रहती है। किसान से ही साहू और मजूर का जीवन चलता है। साहू कर्ज़ देकर और जमींदार जमीन का तगादा लेकर किसान की हड्डी चूसता है। किसानों के खेतों में काम कर मजूर जीता है। प्रजा से लेकर पशु तक सभी किसान की ओर ताकते रहते हैं। वही इस धरती का ऐसा लाल है जो सबके जीवन की रक्षा करता है। वह सदाबहार किसान है जो पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'शिरीष के फूल' रूपी अवधूत जैसा निरद्वंद होकर आतप, शीत, वात के सुखद और प्रचंड प्रहारों को सहन करते हुए भी सबको

सुखी कर्ता रहता है। अपनी कर्मठता और स्वतंत्र विचारों के कारण विपत्ति को सहते हुए भी जीवन के रंगो से ओतप्रोत रहता है। जब लोहार से हल ठीक कराकर और उसमें फाल लगाकर, शौक से पाले गए अपने बैलों को जुए में नाधता है तथा धरती माता के हृदय पर फसलों का अंबार खड़ा कर देता है। सपरिवार जुटकर दवईं, ओसाई कर जब अन्न घर में रख देता है, तो उसका मन-मयूर उल्लास से भर जाता हैं। इस गांव-किसान की संवेदना को कवि इस प्रकार रंग देता है-

चंदनवा चैती गाता है
खुली हवा में।
काट चुका है फसल चना-
गेहूं की भारी।
लॉक लढ़ी में ढोई है,
उसने माँड़ी है।
घरवाली के साथ ओसाया
है समीर में।
दाने के ऊंचे पहाड़ को
खड़ा किया है।
अपनी मेहनत के जादू से
मोह लिया है।
दूर-दूर तक उसके श्रम का
अन्न गया है।
भूख-भूख से पीड़ित जन का
पेट भरा है।[82]

गांव का परिवेश गांव के कृषि जीवन में घुला मिला है। कवि लोक-जीवन की सुखानुभूतियों का चित्रण तो करता ही है, साथ में उनकी पीड़ा, हताशा को भी काव्य का विषय बनाता है। 'मेरा गांव' कविता में चित्रित गांव पूरे हिंदुस्तान के गांव का मापदंड बन जाता है। केदार की कविता में गांव का किसान अपने समूचे परिवेश के साथ विद्यमान है। जब कवि प्रत्यक्ष नहीं होता तो भी आप उसे पूरे गांव के आस-पास झांकता हुआ देख सकते हैं। केदार जिस परिवेश से विद्रोह करते हैं, उसके मूल में किसान का विद्रोह है। कवि जिस प्रकृति का रम्य चित्रण करता है वह उस किसान के चारों तरफ घेरे परिवेश का ही चित्रण है। जिसमें गांव के रस्म-रिवाज, पर्व-त्यौहार, गांव के विविध पहलू अपने सहज भाव के साथ यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार कवि की संवेदना का मूल गांव की संवेदना है। जो अपने सजीव बिंब के रूप में कविताओं में निखरी है-

दूब कुएं के पास पड़ी व्याकुल मुरझाती
गहरा पानी और कुएं का गहरे जाता
साठ और सत्तर हाथों की रज्जु नापता
एक बेर भी हो जाता है कठिन नहाना
लौकी, कुम्हड़ा, कड़ू, करैला की तरकारी
जिन्हें नाज देकर खरीदते ग्राम निवासी
वह भी तिथि त्यौहार कभी बनती है भाजी
चैत यहां संकल्प विकल बैसाख बनाता
जेठ यहां उदंड लूक-लपटें ले आता
लेकिन इस पर भी मेरा यह गांव कमासिन
साल-सरल संतप्त काटता गरमी के दीन।[83]

डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है कि "केदार की चेतना मूलतः किसान की चेतना है।"[84] वे गरीब किसानों और निम्न वर्गीय ग्रामीण जीवन के चितेरे हैं। उनकी गहरी संवेदना किसानों की जीवन-स्थितियों, लोक-जीवन और लोक आचरण से है। कवि लोक-जीवन के केवल सुनहरे पक्षों को ही रसमयी अंदाज में नहीं प्रस्तुत करता बल्कि लोक जीवन के उन आचरणों को भी उसकी रसात्मकता और सजीवता के साथ प्रस्तुत करता है, जिसे शिष्ट समाज में मान्यता प्राप्त नहीं। ऐसे व्यवहारों का लोक आचरण के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं है। किंतु ऐसे व्यवहार और आचरण चिर काल से समाज में चले आ रहे हैं। इस प्रकार के आचरणों में दूसरे से आंख लड़ाना, शारीरिक संबंध बनाना, चोरी करना आदि आता है।

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का केदार की कविता में आए लोक-पात्रों के बारे में कथन है कि "वे निम्नवर्गीय पात्रों की विशिष्ट जीवन स्थितियों को देखकर उनके सुख दुख को चित्रित करते हैं। निम्नलिखित कविता में खेत मजदूर गबडू और उसकी पत्नी के संबंधों की स्थिति गांव में कोई अनहोनी बात नहीं किंतु प्रगतिशील कविता में ऐसे अभावग्रस्त जन की ऐसी यातना का चित्रण कम किया गया है। वहां अभावग्रस्त निम्नवर्गीय चरित्रों विशेषतः नारी-पात्रों की चारित्रिक शिथिलता कम दिखाई जाती है। मानों सभी गरीब लोग सच्चरित्र हों।"[85] किंतु केदारनाथ अग्रवाल किसी पूर्वग्रहित दृष्टि से सीमित नहीं थे। उन्होंने लोक जीवन का चतुष्कोणीय चित्रण किया है। जिस कारण से केदार के काव्य की संवेदना यथार्थ लोक जीवन की संवेदना को सहजता से अभिव्यक्ति दी है। केदार का संवेदना समग्र मानव जाति के उत्थान की संवेदना है, उनके यहां किसी भी तरह का विभेदीकरण परिलक्षित नहीं हुआ है। यही कारण है कि कवि ने लोक के अनाचार को भी उसी रसता और सहजता से बिंबित करने में सफलता प्राप्त की है-

गबडू की बीबी गंधू से आंख लड़ाती
गुड़ खाती नैनों के नोखे बाण चलाती,

रसिया को अपने ओठों की शहद चटाती
गंधू की बांहों में बंधकर प्यास बुझाती।
गबडू खेतों में मजदूरी करने जाता
सिर पर लादे दानों की गठरी घर लाता,
बीवी को बांहों में भरने को अकुलाता
गबडू सज्जनता के मारे शीश झुकाता।[86]

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का मत है कि "गुड़ खाते नैनों के नोखे बान चलाने वाली नारी गांव में तो होती है किंतु ऐसी नारी-पात्र केदार की कविता में ही है। हिंदी कथा साहित्य तक में कम मिलेगा। गबडू की स्थिति का निर्धन पात्र भी दुर्लभ है। केदार ने कविता में कथा-साहित्य जैसी जीवन-विविधता भरने का प्रयास किया है। स्वभावतः ऐसी कविताएं मार्मिक हैं और उनकी भाषा गद्य जैसी है। पात्रों के जीवन जैसी खुली।"[87] कवि केदार की लोक संवेदना इतनी गहरी है कि वह आम आदमियों के अंतस्थ मर्म को रसात्मकता और सहजता से अंकित करती है।

'लोक' केदार की कविता का प्राणतत्व है, उससे वे क्षणभर के लिए भी विरत नहीं होते। लोक जीवन के दुख-सुख, हर्ष-विषाद और उसकी टूटती आकांक्षाओं को अंकित करते, केदार एक एक घटना को अंकित करते हैं। उसमें लोक जीवन की मधुरता तथा किसानी जीवन के संघर्ष का जीवंत अंकन भी पिरोते हैं। ऐसी अनगिनत घटनाओं को शब्द देते हुए वे सामान्य जन की यातना और उसके जीवन की विडंबनाओं को व्यक्त करते हैं। कवि ने ऐसी अनेक जीवंत कविता की रचना की है, जो हैं तो अत्यंत सरल, पर उसमें वेदना की इतनी गहराई है कि आंखें छलछला उठती हैं। गांव हो अथवा शहर प्रत्येक जगह अनाथ बच्चों का शोषण किया जाता है। बाल मजदूरी, यौन शोषण, शारीरिक अंग-भंग, भीख मंगाना आदि प्रकार से बच्चों पर अत्याचार किया जाता है। समाज में भी अप्रकट रूप से इसकी स्वीकृति देखने को मिलती है। ऐसी ही लोक संवेदना को केदारनाथ ने अपनी कविता का विषय बनाया है तथा उसकी कुरूपता को सहजता और मार्मिकता के साथ सभ्य समाज के सामने खड़ा कर दिया है। तेरहवें वर्ष में कदम रखती एक बिन मां बाप की लड़की दूसरों के घरों में झाड़ू-बर्तन का काम करती है। उसकी दीनता को व्यक्त करती हुई यह कविता देखिए-

बारह वर्ष व्यथा में बीते
तेरहवें में पांव धरे हैं।
पीर हृदय में, नीर नयन में,
सांसों में संताप भरे हैं।।
दंभक ताड़ित और प्रताड़ित
शैशव का अभिशाप लिए हैं।

फूलों के नादान अधर से
शूलों के अपमान पिए हैं।।
माता और पिता से वंचित
पर घर बर्तन मांज रही है।
साथ बरस से सांझ-सकारे
आंख दुखों से आंज रही है।।[88]

कितनी यथार्थ और सच्ची अनुभूति कवि ने अत्यंत सरल ढंग से कह दी है। सात सालों से अनाथ लड़की दूसरों के घर पर चौका-बर्तन करने की मजदूरी करती है। वह कैसे हृदय में गहरी पीड़ा, आंखों में आंसू और अपनी सांसों में संताप लेकर जी रही है। यह दीनता की वेदना की पराकाष्ठा है, जिसे एक लड़की निस्सहाय और मजबूर होकर अपने दुखों को अपनी आंखों में अंजन की तरह बसाए हुए जीने के लिए बेबस है। ऐसी बहुत सी कविताएं केदार ने लिखा है जो हमारी चेतना को सोचने के लिए विवश कर देती हैं और हमारी बुद्धि को हतप्रभ कर देती है। अभाव, दैन्य और शोषण पर लिखी केदार की कविताएं, मात्र कविताएं भर नहीं हैं। वे हमारी व्यवस्था के पाखंड पर प्रहार हैं, जो कथित बुद्धिजीवी तथा सुविधाजीवी वर्गों पर क्रूर टिप्पणी भी हैं।

केदार की कविताएं लोक-संवेदना और लोक-जीवन की घोषित कविताएं हैं। अतः कवि ने अपना सर्वस्व लोक को सौंप दिया है। इस लोक में अपने को समा देने के कारण कवि में 'निज' और 'पर' का भेद मिट गया है जो कवि-कर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। केदार की संवेदना मानव की चेतना को सभी प्रकार के भेद-अभेद से मुक्त कराना चाहती थी। यद्यपि केदार किसी पारलौकिक सत्ता में विश्वास नहीं करते थे फिर भी वे 'अवधूत' के रूप में ब्रह्मवत थे। उनकी रचनाओं में वैदिक संवेदना 'यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' लोक संवेदना के रूप में प्रकट हुई है। इसलिए वे स्वयं 'कबीर' जैसा 'अवधूत' थे और दुनिया को 'मनुष्य' बनने का पाठ अपनी रचनाओं से पढ़ाने की कोशिश मरणांत करते रहे। वे स्वयं अपने बारे में 'मैं' कविता में लिखते हैं-

मैं
समय की
धार में धंस कर
खड़ा हूं।
मैं
छपाछप
छापते छल से
लड़ा हूं।

क्योंकि मैं

सत से सधा हूं।[89]

केदार स्वयं अपने कवि कर्म के बारे में 'मार प्यार की थापें' काव्य संग्रह की भूमिका में लिखते हैं- "सत्य यह है कि व्यक्ति की चेतना को लोक-चेतना में प्रविष्ट करना चाहिए और उसे प्रभावित करना चाहिए और उसे नए मानवीय मूल्यों का संस्कार देकर समाजवादी जनतंत्र की छबियों को प्रतिबिंबित करना चाहिए। तभी कृतिकार का 'मैं' दूसरों का 'हम' बन सकता है। तभी कृतिकार का 'मैं' मानवीय मूल्यों के लिए संघर्षशील जनता का साथ दे सकता है। कविता केवल आत्मबोध और आत्मतुष्टि का साधन नहीं होती। यह कृतिकार की आत्मा को भीतर से बाहर लाकर विशाल मानवता का स्वरूप प्रदान करती है। वही वैयक्तिक 'आत्मानंद' की परिधि से निकलकर लोक 'मांगलिक आनंद' की प्रदाता होती है। कवि-कर्म के बारे में मेरी यही धारणा है।"[90]

'लोक' से तादात्म्य और अपने को उसी में विलीन कर देने के कारण ही केदार की कविता 'लोक' की कविता बनती है। कवि की अपनी निजता भी 'लोक' से बाहर नहीं होती और इसलिए कवि केदार ने स्वयं को लोक-लय पर नाचने वाला एक ऐसा सतत जागरूक कहा है, जो काल के व्याल को भी युग-चेतना से नाथता है-

मैं समय को साधता हूं.
जिंदगी से बांधता हूं,
सूर्य की आलोक-आभा
मैं नयन में आंजता हूं,
व्याल जैसे काल को भी
मैं चेतना से नाथता हूं,
काव्य की मउहर बजाते
लोक-लय में नाचता हूं,
द्वंद्व में निर्द्वंद्व होकर
मैं निरंतर जागता हूं।[91]

भारतीय संस्कृति कृषि प्रधान रही है, किसान इस संस्कृति के केंद्र में है। नगरों से दूर गांव का पूरा जीवन-चक्र कृषि पर आधारित है। कृषि का आर्थिक चक्र प्रकृति, मौसम, वर्षा और जमीन की उत्पादकता तथा उसके मालिकाना अधिकार पर निर्भर करता है। सामंती मध्यकालीन अर्थव्यवस्था से किसान-लोक के शोषण की प्रथा आरंभ हुई। उसका जमीन से अधिकार छिन गया, पहले तो वह राजाओं को कर देता था, किंतु अब वह सामंतीय प्रशासनिक व्यवस्था में निर्दयता और प्रचंड शोषण का शिकार हुआ। यह उसकी दशा स्वतंत्रता के पूर्व तक लगभग बनी रही थी। किंतु आजादी के संग्राम में किसानों ने भी स्वतंत्र होने के सपने देखे थे। उन्हीं

सपनों की वास्तविक अभिव्यक्ति केदार के काव्य में पूरी सच्चाई और निष्ठा के साथ हुई है। केदार के "इस 'लोक' में बेतरह गरीबी और उदासी है। सब तरफ शोषण और लूट है। अनाचार का खुला खेल है तो जन का निरंतर संघर्ष है और अपने को गला-तपा कर भी जीत जाने का संकल्प है। यह संघर्ष केवल मुनादी नहीं है, है तो दुखों और अभावों से लड़ते हुए शक्ति अर्जित करने की सामर्थ्य, जिसके आगे बड़ी-बड़ी ताकतें परास्त हो सकती हैं।"[92] अतः केदार के काव्य की संवेदना जनता को सक्षम, योग्य तथा खुशहाल बनाने की है। कवि अपनी कविता से लोक को शक्तिशाली बनने की प्रक्रिया भी समझाता है। दृष्टव्य कविता में कवि की उक्त लोक-संवेदना की ओर संकेत किया गया है-

जो जीवन की धूल चाट कर बड़ा हुआ है,
तूफानों से लड़ा और फिर खड़ा हुआ है,
जिसने सोने को खोदा, लोहा मोड़ा है,
जो रवि के रथ का घोड़ा है,
वह जन मारे नहीं मरेगा,
नहीं मरेगा।।[93]

इस 'लोक' के बड़े दुख हैं, विषाद हैं और ऐसी अनेक स्थितियां हैं, जो इस देश के माथे पर कलंक की तरह हैं। सरकारें आती हैं, बड़े-बड़े सपने दिखाती हैं, पर हालात बनने के बजाय बिगड़ते जाते हैं। आजादी के छः दशकों में भी उनके लिए कुछ हुआ नहीं, जो इस देश की रीड़ हैं, जिनके बलिदानों से यह देश टिका हुआ है और जिनके संघर्षों से इसकी सांसे चलती हैं। कवि केदार की कविता में इस 'लोकजन' का पूरा जीवन उतर आया है। कविता में 'लोक जीवन' के सभी पक्षों को उसके संघर्षों सहित व्यक्त करने वाला स्वतंत्रता के पहले और बाद में भी केदार जैसा कोई कवि नहीं है। कथा साहित्य में प्रेमचंद ने यही काम किया है, पर कविता में जिस तन्मयता और संश्लिष्टता के साथ केदार ने गांव के जीवन को अंकित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस मानक पर मध्यकालीन कवियों कबीर, तुलसी और सूरदास की परंपरा के वे पोषक दिखाई देते हैं और वैसे ही 'लोक जीवन' के विविध पक्षों को, उसकी विडंबनाओं के साथ यथार्थतः उपस्थित किया है।

कवि 'लोक संवेदना' को सकारात्मक रूप दिया है, चाहे संवेदना 'लोक जीवन' के कुरूप स्थितियों को प्रकट करने के लिए की गयी हो या 'लोक जीवन' के विविध रंगों की अभिव्यक्ति के लिए हो, पर हर जगह रंग और रस से सराबोर है। कवि न केवल ग्राम्य जीवन की विडंबनाओं को ही नहीं चित्रित किया है बल्कि उसके समाधान भी सुझाए हैं। कवि को अपने देश, देशवासी और गौरवमयी परंपरा पर अभिमान है। वह अपने देश के वासियों के जीवन को गौरव, सुख, समृद्धि से भरना चाहता है। कवि के लिए देश का हर नागरिक उसका अपना है, फिर वह कैसे

किसी को तड़पता-बिलखता देख सकता है। कवि में देश प्रेम कूटि-कूटि के भरा है, उसका प्रेम देश के हर पक्षों से जुड़ा है। इसलिए कवि कहता है-

मेरा देश गगन चुंबी शिखरों का घर है

* * *

गेहूं, धान, चने का घर है
गन्ना, रूई, तिल्ली, सरसों, अलसी का घर है,

* * *

काव्य, कला, कौशल का घर है।
मेरा देश अमर आशा का
अभिलाषा का कंचन घर है।
मेरा देश, नयन का तारा
जीवन की ज्वाला का घर है।
इसके हित में मेरा हित है,
मेरे हित में इसका हित है,
मैंने इसको, इसने मुझको नित पाला है।[94]

कवि का पेशा वकील का था, न्याय के इस मंदिर में हो रहे अन्याय ने उन्हें गहराई से मर्माहत किया था। आम जनता न्याय पाने के लिए तरस रही थी। न्याय अन्याय के साथ बिक जाता है। गांव के गरीब लोगों को न्याय एक आशा भर मात्र थी, ऊपर से वकीलों की पेशी, फाइल, रिपोर्ट और मुकदमा जिताने के नाम पर भोले-भाले गरीब, अशिक्षित और मजबूर लोगों का शोषण अपने चरम पर होता है। न्याय के मंदिर में केवल पेशी होती और तारीख मिलती है। सुनवाई कब होगी, न्याय कब होगा, यह कुछ निश्चित नहीं है। बेचारा मुवक्किल सालों साल कचहरी की परिक्रमा करता रहता है। इस मुकदमे में एक बार फंसने के बाद उसमें से निकलने का कोई रास्ता नहीं होता है। घर, खेत, फसल, जानवर सब के सब मुकदमे के चक्कर में स्वाहा हो जाते हैं। कानून की मोटी-मोटी पुस्तकों को पढ़ने वाले विद्वान, विधि और विधान के धाराओं में इस प्रकार जकड़ते हैं कि असामी की हालत 'जल बिन मीन' जैसी हो जाती है। पूरी शक्ति और भक्ति करने के बावजूद न्याय का देवता उसके पक्ष को समझता ही नहीं। न्याय तो धन की ओर खिसका नजर आता है, अपने धन को बर्बाद करने के बाद भी, वह न्याय को अपनी ओर नहीं मोड़ पाता। न्याय के देवता की भूख को तृप्ति करने वाला चढ़ावा 'लोकजन' के बूते की बात नहीं होती और अंत में बिना हारे आम आदमी हार जाता है। कवि लोक-जीवन की इस विडंबना की अभिव्यक्ति बड़े ही संजीदगी से की है। यहां प्रस्तुत है 'लोक-जीवन' की न्यायिक संवेदना की एक झलक जो 'सुनो खबरिया' नामक कविता से ली गई है।

यह वह खबर है जो 'लोक-जीवन' तक ही सीमित रह जाती है, समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में इसे कभी स्थान नहीं मिलता है-

पंचो ! सुनो खबरिया :
रज्जू लड़ा मुकदमा
प्यारी के मनमोहन गहने
अंग-अंग से उतर-उतर के
बिना बजे, बे बोले, चुपके
गिरो-गहन में जाकर पहुंचे डूबे सेठ-दुकनियां।[95]

यह उन व्यक्तियों की समस्याएं हैं जिन्हें सभ्य समाज शायद आदमी नहीं मानता, वह केवल और केवल उनका अपने हित में इस्तेमाल करता है। किंतु केदार मानव की समानता और एकता जैसे सिद्धांतों में विश्वास करते हैं। इसलिए दर्द की गहराई को समझ सके और मर्म को अपने काव्य का विषय बना सके।

उत्तर भारत के कृषि प्रधान क्षेत्रों में बाल-विवाह एक सामाजिक कुप्रथा है। स्त्रियों को घर में रखने की वस्तु समझा जाता है। बाल-विवाह के कारण प्रायः अनमेल विवाह हो जाते है। पति और पत्नी दोनों के जीवन दूभर हो जाते हैं, किंतु सामाजिक और पारिवारिक मर्यादाओं के कारण इस प्रकार के विवाह को पूरे जीवन भर निभाने पड़ते हैं। स्त्रियों को बच्चे पैदा हो जाते हैं और वे उसकी देख-रेख में अपना पूरा जीवन न्यौछावर कर देती हैं। ऐसे में पुरुषों को तो अपनी इच्छानुसार परकीया संबंध बन जाते हैं और चोरी-छुपे वे ऐसे संबंधों को निभाते रहते हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति आती है कि पुरुष दूसरी पत्नी या रखैल लाता है, समाज जिसे अस्वीकृत रूप से मान्यता देता है। बेचारी औरत को सौतन की डाह का सामना करना पड़ता है। पूरा स्त्रियों का जीवन एक कोठरी की कैद में नर्क हो जाता है। ऐसे में होशियार औरतें भी पर-पुरुष से संबंध बना लेती हैं। प्रायः यह ऊंच और नीच जातियों में भिन्न स्तर पर पाया जाता है। ऊंच जातियों के पुरुषों के संबंध कथित निम्न जातियों के स्त्रियों से होते हैं तथा वे अपनी स्त्रियों को मर्यादा के नाम पर घरों में बंद रखते हैं। किंतु व्यवहार में यह होता है कि वे स्त्रियां निम्न जाति के पुरुषों से संबंध आसानी से बना लेती हैं। कभी-कभी इन संबंधों की पोल खुल जाती है और मार-पीट की नौबत आ जाती है। परिणाम यह होता है कि निम्न जातीय स्त्रियों और पुरुषों को झुकना पड़ता है।

जागरूकता तथा लोकतांत्रिक अधिकारों की वजह से कथित निम्न जाति के लोग भी संगठित और शक्तिशाली हो गए हैं। अब वे अपने असामाजिक संबंधों को वैधानिक बनाने की सफल कोशिश करते हैं, इसकी सफलता परस्त्री की इच्छा पर निर्भर करती है। कभी-कभी यह बहू और बेटियों के साथ भी घटती है। 'लोक' में प्रचलित इन अनुचित संबंधों को प्रेम के पक्ष में मान्यता कवि केदारनाथ अग्रवाल दिलवाना चाहते हैं। केदारनाथ अग्रवाल की इस मान्यता

और पक्षधरता में 'लोक' की मान्यता और पक्षधरता का समर्थन निहित है। ऐसा ही एक नाजायज संबंध थाने से होता हुआ अदालत पहुंचा है। जिसमें उसका वास्तविक विधिक पति अपनी अप्रेय पत्नी को उसके प्रेय प्रेमी से अपनी लोक-मर्यादा को बचाने के लिए छीनना चाहता है। ध्यान रहे कि छीनने के बाद वह अप्रेय विधिक पत्नी को ऐसी नरकीय स्थिति में डाल देगा जहां जीना तो क्या मरना भी दूभर हो जाएगा। ऐसी ही तटस्थ लोक संवेदना को 'मुक्त युवती' नामक कविता में चित्रित किया है-

जब अदालत पर चढ़ी
युवती चली बाहर निकलकर,
दुष्ट भ्रष्टाचारी पति के मित्र दौड़े
अपहरण के हेतु बल के बोंग लेकर।
किंतु युवती का युवक-प्रेमी गठिला नौजवान,
आठ साथी साथ लेकर,
लाठियां बरसा चला बौछार जैसी,
हो गया संग्राम खासा।
धूर्त पति को चोट आयी।
और उसके मित्र भू पर गिरे घायल।
खून खच्चर से गई मर लोक निंदा।
ब्याह टूटा,
ब्याह का व्यभिचार टूटा,
दुष्ट भ्रष्टाचार का सिर हाथ टूटा।
प्रेमिका ने प्रेम का वर वक्ष जीता।
आततायी पति गया आहत हृदय घर।[96]

कवि केदार स्त्री मन की स्निग्धता के कुशल पारखी थे, वे किसी भी वर्ग की स्त्रियों के मन को पढ़ लेते हैं, उनके भावों को बड़ी सरलता से प्रकट कर देते हैं। गांव के जीवन में फौज में जाने का एक क्रेज होता है। जब कोई गांव का नौजवान फौज में भर्ती होता है तो उसका आस-पास के समाज में महत्व बढ़ जाता है। परिवार की आर्थिक उन्नति तो होती ही है, पर वह नौजवान एक बहादुर नायक के रूप में समाज में देखा जाने लगता है। गांव की सबसे सुंदर युवतियां उसे पाने के सपने संजोने लगती हैं। जिस युवती को वह अपना दिल देता है, वह युवती अपना सौभाग्य समझती है तथा युवतियों में उसका स्तर ऊंचा हो जाता है। फौजी के पास ज्यादा समय घर पर बिताने के लिए नहीं होता है। घर वाले पहले से सब कुछ तैयार रखते हैं और जैसे ही रंगरूट घर आता है, चट मंगनी, पट ब्याह हो जाता है। चूंकि वह नौकरी करता रहता है, इसलिए अपनी नई-नवेली दुल्हन के लिए कुछ विशेष उपहार लाया रहता है।

तुलनात्मक रूप से दुल्हन अन्य सखी-सहेलियों से अपने को सौभाग्यवती पाती है। इसलिए वह अपने साजन के लिए पूरे तन, मन, धन से समर्पित होती है। उसके अपने सजना पर स्वयं से ज्यादा विश्वास होता है।

कवि 'लोक-जीवन' के इस विश्वास और भरोसे की संवेदना को बहुत संजीदगी से महसूस करता है। ब्याह उपरांत दस-पंद्रह दिन में फौजी की छुट्टियां समाप्त हो जाती हैं और न चाहते हुए उसे फौज में वापस जाना होता है। नई-नवेली दुल्हन उसकी प्रतीक्षा उसके द्वारा बताई गई अलग-अलग प्रकार की नई कहानियों के सहारे काटने लगती है। 'राधा की आशा' नामक कविता में 'राधा' ऐसी ही नई-नवेली दुल्हन है, जो अपने पति की प्रतीक्षा बेसब्री से कर रही है-

गोकुल सेना में भरती हो
लड़ने को रंगून गया था
लेकिन अपनी प्रिया राधा को
अपने आने की आशा में
बेनिगरानी छोड़ गया था।
राधा आशा में बैठी थी:
गोकुल तो घर आएगा ही
बाहों में बंध जाएगा ही
राधा में रम जाएगा ही
राधा का हो जाएगा ही।
लेकिन गोकुल गया न आया
बैरी ने गोकुल को मारा
खंदक ने उसको खा डाला
बेचारी राधा जीती थी
झूठी आशा में बैठी थी।[97]

'लोक-चेतना' के सच्चे कवि केदार ने 'राधा' का उदात्त और निर्मल चरित्र खींचा है, उसे आज भी गांव की हर राधा में जीता हुआ पाया जाता है। इतनी गहरी जीवन की संवेदना अन्यत्र दुर्लभ है।

डॉ. रवींद्रनाथ मिश्र का कथन है कि "केदार की कविता में प्रकृति और लोक परिवेश की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका को अलग करके नहीं देखा जा सकता। कालिदास, तुलसीदास, निराला, नागार्जुन की परंपरा में केदार के घन लोकजन के कल्याण से जुड़े हैं। केदार की लोक-दृष्टि मानववादी है। लोक-जीवन का कोई ऐसा कोना नहीं है जो कि उनकी आंखों से ओझल हो गया हो। वे आजीवन उनके बीच रहकर उनके कल्याण के लिए लड़े। उत्तर प्रदेश के अधिकांश शहरों की संस्कृति लोक-जीवन जैसी ही है।"[98] केदार 'लोक-जीवन' का इतना गहराई से चित्र

खींचा है कि उनकी आंखों से छोटी-छोटी संवेदनाएं भी कहीं ओझल नहीं हो पाई हैं। 'लोक-जीवन' में नारी जाति का गहने के प्रति आकर्षण भी कवि की नजरों से ओझल नहीं हुआ है। प्रेमचंद की 'गबन' की जालपा का आभूषण प्रेम किसी से छिपा नहीं है। यहां कवि ने 'लाकेट लूंगी' कविता के बहाने नारी की गहने के प्रति हठधर्मिता की व्यंजना अत्यंत सजीव की है-

लाकेट लूंगी
मेरा गला बड़ा है सूना
आज न मानूंगी-झगड़ूंगी
लाकेट लूंगी।
मैं तुमको पहचान गई हूं
वादे करके तोड़ चुके हो
तुम पूरे झुठे निकले हो।
जब देखा तब टरकाते हो
आज तुम्हें तो देना होगा
मेरी जिद को रखना होगा।
यही उचित है झट दे डालो
वरना बड़ा बखेड़ा होगा
लाकेट लूंगी।
सदा तुम्हारी बनी रहूंगी
सुख में दुख में साथ रहूंगी
मुझसे तुमसे प्रेम रहेगा।[99]

उक्त कविता में पत्नी अपने पति को लाकेट लाने की हठ करती है तथा न लाने पर रूठ जाने की धमकी भी देती है और लाने पर सुख-दुख में साथ निभाने का वादा करती है। इस प्रकार त्रिलोचन की चंपा लाख दुख सहने पर भी अपने बालम को कलकत्ता नहीं भेजना चाहती और उसके विनष्ट होने की कामना करती है। धनिया गरीबी की मार झेलते हुए भी होरी के प्रति नेह कम नहीं करती। किंतु आज के युग में इस प्रकार के सच्चे और आत्मीय प्रेम को पाना संभव कम ही दिखाई दे रहा है, क्योंकि तलाक के सैकड़ों केस रोज न्यायालयों में दर्ज हो रहे है। कठोर जीवन की अनुभूतियों और यथार्थ आवश्यकताओं के ज्ञान पर बने सहयोगी संबंध धीरे-धीरे आत्मीय कब बन जाते हैं, पता नहीं चलता। इसके विपरीत स्वार्थ लाभ और दिखावे के आधार पर बने रिश्ते कठोर ताप की गर्मी पाते ही पिघलने लगते हैं।

केदार के यहां लोक के हर रंग बिखरे हैं। कवि की जन्मभूमि बांदा है, बुंदेलखंड की सांस्कृतिक पहचान की छत्रछाया में पड़ता है। केदार की कविताएं राष्ट्रीय बोध के साथ स्थानीय मिट्टी की सुगंध से ओतप्रोत हैं। उनकी कविता में स्थानीय जीवन-शैली का लोक रंग बहता

है, उनकी कविता का संवेद्य विषय कोई पूर्वाग्रह नहीं है। उन्होंने जैसा देखा, उसे वैसा लिख दिया है। इसलिए केदार की कविताएं अच्छाई और बुराई को समान दृष्टि से चित्रित करती हैं। लोक के प्रति केदार का लगाव, जुड़ाव केवल कथ्य तक ही सीमित नहीं है, अपितु लोक बोली, शिल्प और शैली को भी वे अपनी कविताओं में सफलतापूर्वक आजमाते हैं। 'बंबई का रक्त स्नान' ओजस्वी आल्हा छंद में लिखकर वे जहां 1946 के नाविक विद्रोह की पृष्ठभूमि में जनांदोलनों से अपना जुड़ाव दर्शाते हैं, वहीं लोक में आत्मविश्वास जगाने वाले लोक छंद का प्रयोग करके लोक के प्रति अपनी गहरी संपृक्ति सूचित करते हैं। आल्हा जोश जगाने वाला काव्य रूप है और केदार बुंदेलखंड के आदमी की पहचान कराते हुए लिखते हैं-

हट्टे-कट्टे हाड़ों वाले,
चौड़ी, चकली काठी वाले
थोड़ी खेती-बाड़ी रक्खे
केवल खाते-पीते जीते।
कथा चुना लौंग सुपारी
तंबाकू खा पीक उगलते,
चलते-फिरते बैढ़े-ठाढ़े
गंदे यश से धरती रंगते।
गुड़गुड़ गुड़गुड हुक्का पकड़े
खूब धड़ाके धुआं उड़ाते
फूहड़ बातों की चर्चा के
फौवारे फैलाते जाते !
दीपक की छोटी बाती की
मंदी उजियारी के नीचे
घंटों आलहा सुनते-सुनते
सो जाते हैं मुरदे जैसे !![100]

केदारनाथ अग्रवाल बुंदेलखंड के थे यह उनकी कविता के बारे में उतना ही जरूरी तथ्य है जितना कि नागार्जुन मिथिला के और त्रिलोचन अवध के थे। ये तीनों कवि अपनी मिट्टी की विशेषताओं को अपनी संवेदना के माध्यम से काव्य का विषय बनाया है। इन संवेदनाओं में हिंदी प्रदेश के जीवन की झांकी दिखाई पड़ती है। भारत के ग्रामीण जीवन में प्रत्येक व्यक्ति की विशेषताओं में उस जनपद की विशेषता जुड़ी होती है जिस जनपद का व्यक्ति होता है। व्यक्ति के जनपद से उसके शारीरिक बल, साहस, हौसले, नैतिकता और चरित्र की पहचान करने की लोक में परंपरा है। उसके जाति से भी उसके गुण और दुर्गुण की पहचान करने की परंपरा आज भी लोक में प्रचलित है। केदार ने इसी लोक-संवेदना के सहारे अपने जनपद की

जातीय पहचान को बड़ी निस्पृहता के साथ व्यंजित किया है। जिसमें शारीरिक क्षमताओं को तो आदर प्राप्त है किंतु आदतों को कवि बदलना चाहता है। संवेदना की सटीक व्यंजना कवि ने इतने उच्च स्तर पर की है- जैसे आंखों के सामने पूरा बुंदेलखंड तैरने लगता है।

केदार की काव्य संवेदना लोक-जीवन के सभी रंगों को छूती है, प्रायः उन्हें वर्गीय चेतना का कवि के रूप में जाना जाता है, किंतु केदार की चेतना वर्ग, क्षेत्र, वर्ण, संप्रदाय से ऊपर उठी हुई है। वे प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्यता के तराजू में तौलते हैं। उनकी दृष्टि समता मूलक है, वे चाहते हैं कि परिश्रम का फल उसे प्राप्त हो जो उसे कर्ता है। वास्तव में कवि अपनी कविताओं के माध्यम से कर्म के फल की स्थापना करना चाहता है। वहीं पर लोक में प्रचलित स्वार्थ मूलक चेतना पर कटाक्ष भी किया है। केदार ने नारी की विविध रुपों और मजबूरियों को अपनी संवेदना में उतारा है। सामंती समाज की दृष्टि में उसकी स्वयं की नारियों की स्थिति भी केदार के वैज्ञानिक संवेदनात्मक चक्षुओं से छूटा नहीं है। कथित शिष्ट समाज अपने घर की औरतों से किस प्रकार के मूल्यों की अपेक्षा करता और कैसे रीति, रिवाजों और परंपराओं के नाम पर स्त्रियों का दमन और शोषण करता है, उसे बच्चे पैदा करने की मशीन समझता है। इस प्रकार के सामंती सोच को 'पति की टेक' कविता में कवि ने चित्रित किया है-

सुन ले मेरी ब्याही औरत !
ऊपर से नीचे तक पूरा
अंगुल-अंगुल इस देही का
मेरा ही बस मेरा ही है।
घर के भीतर बेड़ी-बेड़ी
केवल दर्पण में मुख देखे,
लम्बे से घूंघट को खींचे
केवल चूड़ी की धुन सुन ले।
खाना ले ले, कपड़ा ले ले;
आने जाने दे यह सांसे;
पूरी कर दे पापी इच्छा;
दर्जन बच्चे पैदा कर तू।[101]

कवि केदार ने 1933 ई. में यह कविता उस समय लिखी थी, जब रत्नाकर और पद्माकर के काव्य में नारी के नख-शिख का प्रसंग जोरों पर था। उस समय कुछ कविताएं स्त्री-पुरुष संबंध पर यथार्थवादी और रोमानी ढंग से भी लिखी जा रहीं थीं। किंतु केदार की संवेदाना नारी के बंदी और शोषित पीड़ा को व्यापक मानवीय दृष्टिकोण से देख सकी और पुरुष प्रधान सामंती सोच को आईना भी दिखाया। अतः केदार की संवेदना लोक-समाज से इतनी गहराई में मिल-

जुल गई है कि सामान्य व्यक्तियों के समझ से परे है। इस लोक संवेदना को कवि अपने आगे की कविताओं में विकसित किया है।

केदार की कविताओं में जनता में व्याप्त उन आक्रोशों को भी अभिव्यक्ति मिली है, जिसमें वोट लेने के लिए हवाई सपने तो दिखाए जाते हैं, किंतु धरातल पर कोई ठोस काम नहीं होता है। 'लोक-जीवन' की दशा में स्वतंत्रता के पश्चात भी कोई दृष्टिगोचर विकासात्मक बदलाव दिखाई नहीं दे रहा था। नेता जी के तो दिन लौट रहे थे किंतु जनता की हाल बेहाल थी। केदार ने जनता के स्वप्न भंग को बहुत पहले ही पहचान लिया था। केदार जी को यह भी समझ में आ गया था कि इस राजनीतिक स्वतंत्रता से जनता के सपने सजने वाले नहीं हैं। 'लोक-जन' के सपने तभी सच होगे जब लोग-समाज जागरूक होगा और उसके लिए संघर्ष करेगा। केदार का काव्य इसी लोक-समाज को जागरूक करने का हथियार है। केदार नेताओं की कथनी और करनी के अंतर को समझते हुए भी निराश नहीं होते हैं, बल्कि लोकतंत्र में 'लोक-जन' की अपनी लोक-शक्ति और वोट-शक्ति की ताकत की पहचान कराते हैं। केदार इस बात को अच्छी तरह समझ गए थे कि जब जनता जाग जाएगी और हित-अहित समझने लगेगी, उसी समय नेता गिरी खत्म हो जाएगी और लोक हितकारी व्यक्ति ही राजनीति की कुर्सी पर शोभा पाएगा। अतः कवि ने सीधे कहता है-

हम तौ उनका वोट न दैबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
रोटी, कपरा, लत्ता खातिर,
जो हमका तरसाइन हैं।।
अरजी का फरजी कई दीन्हिन,
गरजी जान भगाइन है।
आजादी के टोपीधारी,
हमका भीख मँगाइन हैं।।
हम तौ उनका वोट न दैबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
पांच बरिस के भीतर हमका,
नर-कंकाल बनाइन हैं।।
भाषत है "केदार" सुनौ जी,
जालिम भीख न पाइन हैं।
जालिम के बकसन मां कोऊ,
एकौ वोट न डाइन हैं।।[102]

यदि उक्त कविता की गहराई को समझ पाएं तो स्पष्ट हो जाएगा कि 10 नवंबर 1951 में केदार को जो राजनीति की समझ और भावी दृष्टि थी, वह अन्य समकालीन कवियों के पास संभवतः नहीं थी। यही कारण है कि केदारनाथ अग्रवाल और उनकी काव्य संवेदना समय के साथ और महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। केदार में कबीर की तरह वह 'लोक' संवेदना की शक्ति थी, जिसके बल पर 'भाषत है "केदार" सुनौ जी' की ठेठ और चोटीली भाषा में 'लोकधर्मी संवेदना' की बात डंके की चोट कही जा सकी। संप्रति राजनीतिक पहलुओं पर दृष्टि डालने पर दिखाई पड़ता है कि 'नोटा' का महत्व बढ़ रहा है और विकासात्मक नीति अपनाने की मजबूरी भी। कोई कुछ भी करे, किंतु कुर्सी लोक-संवेदना के पक्षधर के ही पास जाएगी।

केदार का रचना संसार विविधता से भरा हुआ है, जहां महाप्राण निराला ने कविता को छंद मुक्त करके, मानव मुक्ति की आशा प्रबल किया, वहीं लोक कवि केदार ने काव्य को कथ्य के अनुसार परिवर्तनीय रूप देकर कविता में प्रगतिशीलता के गुणभर दिए। प्रकृति और प्रेम के अतिरिक्त कवि को सबसे अधिक मानवीय सौंदर्य आकर्षित करता है। मानव के प्रति केदार का आकर्षण उनके अंतर मन की सहज संवेदनीय अनुभूतियां हैं जो गद्य, पद्य और गीत के रूप में सहज प्रकट होकर, बरसाती बादल की तरह तप्त हृदय को मीठे जल से सिंचित कर देती हैं। सौंदर्य बोध के बारे में कवि केदार का विचार है-

"कोई-कोई सौंदर्य इतना आत्मभेदी होता है कि उसे देखते ही आदमी का सारा मान, गुमान और उसकी चेतना बुद्धि समाप्त हो जाती है। भले ऐसा कुछ देर के लिए ही हो। सौंदर्य वस्तुतः मंत्रमुग्ध करता है। इस मंत्रमुग्धता में आनंद भी निहित होता है।"[103] जब व्यक्ति आनंद या दुख की चरमावस्था में होता है तो उसके मुख से अनायास ही बोल फूटते हैं, यही अंतरमन के बोल 'गीत' कहलाते हैं। कवि भी अपनी काव्य रचनाओं के साथ-साथ गीत लिखे हैं जैसे- 'बसंती हवा', 'घन-जन', 'मांझी! न बजाओ बंशी', 'धीरे उठाओ मेरी पालकी', 'हथौड़े का गीत', 'जुताई का गाना'. 'करोड़ों का गाना', 'प्रभात गान', 'यह तो मुरदों की धरती है', 'निरौनी के गीत', 'जो शिलाएं तोड़ते हैं', 'वोट न मांगै पैहौ', 'हम तौ उनका वोट न देबै आदि। कवि के गीत हमारे सामने कुछ उद्देश्यों को रखते है और हमें उसका समाधान खोजने के लिए छोड़ देते हैं। ऐसा ही एक गीत 'गाओ साथी' है जो जनता में जागरण पैदा करने के लिए लिखा गया है, प्रस्तुत है उसकी बानगी-

गाओ साथी! उन गीतों को
जो गाते हैं नंगे निर्धन,
पेट खलाए, रीड़ झुकाए, जो गाते हैं टूटे निर्धन,
बोझा ढोते, राहे टोते, जो गाते हैं रोते निर्धन,
और डिगाते हैं शोषक का दिन-दिन दूना
जो सिंहासन!

गाओ साथी! उन गीतों को
जो गाते हैं जोशीले घन,
अंबुधि से उठ, अंबर को भर, जो गाते हैं गर्वीले घन,
तांडव करते, अग्नि उगलते, जो गाते हैं युग का गर्जन,
और जगाते है जन-जन में दिन-दिन दूना
जो नव जीवन![104]

केदार ने अपने काव्य में उन व्यक्तियों और साहित्यकारों का चित्रण किया है जिनसे वे चेतना के स्तर पर प्रभावित थे- कालिदास, कबीर, सूर, तुलसी, टैगोर और गांधी के प्रति उन्होंने अपनी संवेदना प्रकट की है। वे विश्व के उन महान व्यक्तित्वों को भी याद किये हैं जिनसे वे प्रभावित थे- मॉर्क्स, लेनिन, पाब्लो नेरुदा, नाजिम हिकमत, मायाकोवस्की, वाल्ट ह्विटमैन, एलेक्सी सुरकोव, एजरा पाउंड, पुश्किन, मूसा, शैली, कीट्स आदि। केदार के मानस को समझने के लिए उपर्युक्त वर्णित सभी व्यक्तित्वों की मानवीय चेतना को आत्मसात करना होगा। केदार का रचना संसार इन्हीं मानवीय चेतना के मूल्यों की स्थापना है। यही कारण है कि केदार को किसी एक आईने में फिट नहीं किया जा सकता, उनकी संवेदना सभी आईने में दिखाई पड़ती है। केदार स्वयं एकांगी नहीं बल्कि समग्र हैं। उनकी संवेदना और रचना समस्त मानव के उत्थान की लोकधर्मी संवेदना है जिसके मूल में स्वतंत्रता, समानता और बंधुता का सिद्धांत कार्यरत है। वे समग्र मानव जाति की आर्थिक, वैज्ञानिक और कलात्मक उन्नति के पक्षधर हैं और आजीवन इन मूल्यों और लक्ष्यों को अपनी रचनात्मक क्रिया द्वारा प्राप्त करने और कराने की कोशिश करते रहे हैं।

केदार अपने समकालीन साहित्यकारों और कवियों से भी प्रभावित होते और करते रहे हैं। केदार 'प्रेमचंद' और 'निराला' से अधिकतम प्रभावित हुए हैं, जिन्हें वे तत्कालीन समय में आदर्श के रूप में देखते थे। 'निराला' को केदार 'लोकायन' के कवि के रूप में देखे है और उनके लोकवादी विचारों को अपने आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। कवि केदार ने सबसे अधिक कविताएं 'निराला' के ऊपर लिखा है और उन्हे हिंदी 'सुभट' तथा 'युगांतकारी' कवि घोषित करते हैं-

यही एक वह है हिंदी का सुभट निराला
जो अजेय लड़ रहा अपरिमित अन्यायों से
कोटि-कोटि सह रहा वार है पिड़ाओं के
और काव्य रच रहा रक्त की रेखाओं से
बार-बार पल-पल पुकार ललकार काल को
निराहार जर्जर शरीर दे रहा चुनौती
तरुण-अरुण तरुणों की टोली लिए साथ में

सूर्यकांत गा रहा युगांतरकारी गीता।[105]

कवि केदार प्रेमचंद का बहुत सम्मान करते हैं और कविता में उसी धारा का प्रतिनिधित्व करते है जिसका कथा सम्राट ने कथा साहित्य में किया है। डॉ. रामविलास शर्मा का कथन कि "केदार की चेतना मूलतः किसान की चेतना है। प्रेमचंद की तरह उनका जन्म भी किसान परिवार में नहीं हुआ किंतु अपनी सहज सहृदयता के कारण दोनों ही किसान जीवन में घुल-मिल गए। बचपन के संस्कार दोनों में गहरे हैं। प्रेमचंद भारतीय जनता की क्रांतिकारी हलचल देखने को जीवित न रहे थे; केदार ने यह हलचल देखी ही नहीं थी, वह उसके साथ आगे बढ़े थे। केदार की कविता, कथाकार प्रेमचंद की विरासत का, अन्य विधा में, क्रांतिकारी विकास है।"[106] कवि केदार और प्रेमचंद एक दूसरे के पोषक हैं, इसलिए केदार उनके जन्म दिन पर साहित्यकारों को शीष झुकाने का आग्रह करते हैं-

आज हर्ष की बीन बजाओ
प्रेमचंद का दिवस मनाओ;
अश्रु नहीं, शत् पुष्प चढ़ाओ,
अमर यशस्वी कथाकार की
कृतियों पर सर्वस्व लुटाओ,
प्रेमचंद के आगे अपने शीष झुकाओ।[107]

केदारनाथ अग्रवाल 'लोक-संवेदना' के कवि हैं, इसलिए उनका अपने युग के लोगों से मित्रवत और वैचारिक दोस्ताना संबंध था। वे अपने प्रिय मित्रों में महाकवि 'सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' आलोचक 'रामविलास शर्मा' और जनवादी कवि 'नागार्जुन' से रागात्मक संबंध रखते थे, इसके अतिरिक्त अन्य लेखकों तथा कवियों जैसे- 'हरिशंकर परसाई', 'शमशेर बहादुर सिंह', 'त्रिलोचन' तथा 'नरोत्तम नागर से भी गहरे संबंध थे। केदार एक सच्चे हृदय के लोकधर्मी कवि थे, उनके यहां बनावट और दिखावट नहीं थी। उनकी संवेदना गहरी अनुभूति पर आधारित थी। तभी अपने कवि मित्र 'नागार्जुन' के बांधा आने पर उनकी आकुलता इतनी गहराई से प्रकट हुई है, इस आकुलता में दरअसल मिथिला की प्यारी धरती में व्यापे छंदों और वहां के गढ़-पोकर के पानी, दुखमोहन और मोहन मांझी से मिलकर नैन जुड़ाने की व्याकुलता भी शामिल है-

और तुम्हारे लिए पसारे बांह खड़ा हूं
आओ साथी गले लगा लूं
तुम्हारी मिथिला की प्यारी धरती को
तुममें व्यापे विद्यापति को
और वहां की जनवाणी के छंद चूम लूं
और वहां के गढ़-पोखर का पानी छूकर नैन जुड़ा लूं
और वहां के दुखमोहन, मोहन माझी को मित्र बना लूं

और वहां के हर चावल को हाथों में ले हृदय लगा लूं..।[108]

उक्त पंक्तियों में गौर करेंगे तो इनमें छंद न होते हुए भी बड़ी बारीक गीतात्मक लय है। यह बात सिर्फ इनकी इसी कविता पर लागू नहीं होती बल्कि केदार जी के अधिकांश रचनाओं पर खरी उतरती हैं। शायद इसीलिए केदार ऐसे कवि हैं, जिनकी कविता में कोई शब्द निकाला या डाला नहीं जा सकता है। उनकी कविता प्रायः पूरी की पूरी पूर्ण होती हैं।

केदार और उनके दार्शनिक मित्र डॉ. रामविलास शर्मा में निरंतर संवाद बना रहा। केदार और डॉ. शर्मा के 'मित्र संवाद' में संकलित पत्रों के पढ़ने से पता चलता है कि वे न केवल अपने दुख-सुख एक दूसरे से बांटते थे बल्कि साहित्यिक नोक-झोंक भी करते थे। परंतु वे एक दूसरे के बिना अधूरे भी थे, केदार अपनी रचनाएं डॉ शर्मा के पास भेजते थे और उनकी आलोचनाओं को हृदय से स्वीकार करते हुए, अपनी असहमति भी जताया करते थे। केदार डॉ. शर्मा को काव्य लिखने के लिए उत्साहित भी करते थे। दोनों की मित्रता लगभग पच्चीस वर्ष की उम्र में हुई थी और आजीवन प्रगाढ़ होती चली गई। आलोचक और कवि की यह मित्रता अपने आप में एक मिशाल है। दुनिया की तो नहीं कह सकता, लेकिन रामविलास और केदार की दोस्ती की मिशाल हिंदी के इतिहास में नहीं दिखाई पड़ती है।

केदार की कविताओं के बारे में कुछ आलोचकों का मत है कि उनकी कविताएं चित्रण मात्र है, जिसमें गहराई और सूक्ष्मता का अभाव है। कुछ आलोचक उनकी कविताओं सपाटबायानी का आरोप लगाते हैं और फर्स्ट ड्राफ्ट की कहते हैं। ऐसे आरोपों के प्रत्युत्तर में डॉ. रामविलास शर्मा के इस कथन को उद्धृत करना चाहूंगा। रामविलास जी ने केदार की कविताओं के बारे में लिखा है-

"उनकी कविताएं देखने में बहुत आसान लगती हैं, आकार में भी बहुत छोटी होती है, इसलिए उनकी सरलता भुलावे में डाल देती है। कई बार पढ़ने, ठहर कर विचार करने, कवि की मनोदशा में डूबने से उनकी गहराई का अंदाजा होता है। उनकी भाषा देखकर लगता है कि कोई किसान कविता लिख रहा है।"[109]

कवि केदार अपने काव्य संग्रह 'आत्मगंध' की भूमिका में स्वयं के अंतःदर्शन और रचना प्रक्रिया पर बहुत बेबाक विवरण दिया है-

"मेरी अपनी धारणा यह है कि ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो समता, न्यायप्रियता और समान अवसर देने की क्षमता रखती हो...न कोई किसी का शोषण करेगा। न कोई किसी का क्रीतदास होगा। लोग जीएंगे और दूसरों को जीने देंगे। ऐसी ही सामाजिक व्यवस्था के स्थापित होने पर...वैयक्तिक निजता का अवसान होगा। तब मानवीय आत्मवत्ता, एक की न होकर महान मानवीय मूल्यों की संस्थापक होगी और सांस्कृतिक चेतना का सार्थक विकास सम्भव होगा। न वह क्षेत्रीय होगी। न वह पारंपरिक होगी। न वह प्रान्तीय होगी। वह ऐसी वस्तुवत्ता से उपजी होगी जो मानवीयता को गौरव और गरिमा प्रदान करेगी। न धर्म अधर्म की ओर ले जा सकेगा,

न रूढ़ियां होंगी, न रक्तरंजित कर सकेंगी। न सैन्यवाद होगा, न संहार कर सकेगा। न न्यायालय अन्याय के घर हो सकेंगे। न व्यावसायिकता पूंजीवाद को अपनाए हुए जन-जीवन की उपेक्षा कर सकेगी। मैं इसीलिए, अन्य कवियों से भिन्न प्रकार की रचनाओं का सृजन करता चला आया हूं।"[110]

"यह भिन्न प्रकार के कवि का सीधा सपाट जीवन है जहाँ छिपाव या दुराव नहीं है। इस सीधे-सपाट का भावलोक जब चेतन-सम्पदा से जुड़ता है, तो अन्तर का मोद-मृदंग बजने लगता है, ध्वनियों की धारा का प्रवाह हृदय को स्पर्श करता है। यह सब इसलिए होता है कि कवि केदार व्यक्ति के जीने के शिल्प को बराबर सोचते रहते हैं, कृतिकार की निस्संगता का मतलब वस्तुनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ होना नहीं होता वह तो फलित होता है लोकनिष्ठ होने में; कम कवियों के यहां ऐसा हो पाता है जैसा केदार सोचते हैं।"[111] इसी निस्पृह विचार-वैभव और 'लोकधर्मी संवेदना' के अजश्र श्रोत के बल पर कवि अपना मंतव्य व्यक्त कर देता है-

कोई कुछ कहे,
विपरीत चाहे हवा बहे,
यथार्थ से लड़ना-
सत्य को आँख से-
विवेक से पकड़ना,
यही तो है
व्यक्ति-व्यक्ति का
समाज में जीना,
न कि अकेले बैठकर
शराब का पीना।[112]

युग और लोकजन के लिए लिखने वाले कवियों में केदारनाथ अग्रवाल का नाम अग्र-गण्य है। केदार और अन्य कवियों में अंतर यह है कि अन्य कवि युग के लिए लिख रहे हैं और उनका साहित्य उन बुद्धिजीवियों के लिए है जो जनता के साथ हैं। किंतु "इस बात को हमें मानना ही पड़ेगा अभी तक जनता और कवि का माध्यम एक नहीं हुआ है। कवि जनता की भाषा नहीं बोलता और जनता आर्थिक और बौद्धिक दोनों क्षेत्रों में इतनी शोषित रही है कि उसके लिए ऊपर उठना इतना आसान नहीं है। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी केदारनाथ अग्रवाल ने जन काव्य लिखने की कोशिश की है। उनकी वाणी में जनता की वाणी की शक्ति और प्रयोगात्मकता है, उसका प्रभाव और तीखापन है।"[113] कवि केदार की अनेक कविताएं लोकधर्मी संवेदना के गीत हैं जिन्हें जनता सहज अपना बना ली है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि कवि केदार सरलता, सहजता और लोक-जीवन के गायक हैं।

लोक संस्कार

केदार की कविता का आदर्श सामान्य जन के सुख-दुख को वाणी देना है। इसलिए उनकी कविता में सामान्य जन जीवन की विषमताओं के साथ, लोक जीवन में प्रचलित विभिन्न प्रथाओं, संस्कारों, तीज-त्यौहारों एवं लोक विश्वासों को भी अभिव्यक्ति मिली है। लोक जीवन के इन विविध पक्षों को कवि की कविताओं में आवश्यकता अनुसार कहीं-कहीं प्रयोग हुआ है।

भारतीय लोक जीवन में संस्कारों और प्रथाओं का बहुत महत्व होता है। यहां जन्म से मृत्यु तक सोलह संस्कारों का विधान किया गया है। जिसके द्वारा मनुष्य का संस्कार किया जाता है। वस्तुतः संस्कार मनुष्य को जड़ता की ओर ले जाने वाले विकारों से मुक्ति दिलाते हैं। इस प्रकार से संस्कारों में व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास, जीवन का उदात्तीकरण तथा समाज कल्याण की ओर अग्रसर करने का भाव निहित होता है। किंतु आजकल इनका वह निहित अभिप्राय पूरी तरह से विच्छिन्न हो गया है और ये संस्कार परंपरा के अंधानुकरण बन कर रह गए हैं। परंपरा से प्रचलित सोलह संस्कारों में से जन्म, विवाह और मृत्यु के ये तीन संस्कार ही मुख्य रूप से लोक जीवन में पाए जाते हैं, कहीं-कहीं छिटपुट अन्य संस्कारों को भी देखा जाता है।

जन्म मानव जीवन की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है, किंतु भारत में जन्म संबंधी संस्कारों का संबंध मुख्यतः पुत्र जन्म से होता है। हिंदू परिवार में इस अवसर पर प्रायः सोहर आदि मंगल गायनों का आयोजन किया जाता है। पुत्री का जन्म अभिशाप माना जाता है। किंतु इस प्रकार के ज्यादातर जन्मोत्सव ऊंचे घराने में मनाया जाता है। लोक-जीवन में यह संस्कार सोहर आदि के गायन तक ही सीमित होता है। किंतु लोकधर्मी कवि केदार मजदूर के यहां पुत्र जन्म की खुशी को मजूर के भाव-बोध से देखते हैं और उसके घर की प्रसन्नता का चित्रण कुछ इस प्रकार करते हैं-

एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ।
हाथी सा बलवान,
जहाजी हाथों वाला और हुआ।
सूरज-सा इंसान,
तरेरी आंखों वाला और हुआ।।
एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ।
माता रही विचार :
अंधेरा हरने वाला और हुआ।
दादा रहे निहार :
सबेरा करने वाला और हुआ।[114]

केदार की दृष्टि लोकधर्मी है, इसलिए मजूर के पुत्र जन्म का जश्न एक और कमाने वाला और हाथ बंटाने वाला के रूप में होता है। माता-पिता इस लिए खुश हैं कि अब उनके बुढ़ापे का सहरा उसका बेटा बनेगा।

विवाह संस्कार भारतीय समाज का दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है, यह लोक में भी उसी रूप में प्रचलित है जैसा कि अभिजात्य समाज में स्वीकृत है। हिंदू समाज में वैवाहिक संबंध को अटूट, पूर्वजन्म से निर्धारित और जन्म जन्मांतर के संबंध के रूप में निभाया जाता है। विवाह की रीति पूर्ण करने के लिए किसी शुभ लग्न में नात-रिश्तेदार कन्या पक्ष के घर जाते हैं, जिसे बारात कहते हैं, बारात आने पर उनका हार्दिक स्वागत और विशेष भोज दिया जाता है। उसी दिन रात्रि बेला की शुभ घड़ी में पंडित जी द्वारा वैदिक मंत्रोच्चार के मध्य वर और कन्या को अग्नि को साक्षी मान कर उसके चारों ओर सात फेरे दिलवाए जाते हैं। इसी समय बुजुर्गों और समाज के श्रेष्ठ सदस्यों के बीच वर और कन्या को उनके कर्तव्यों से भी अवगत कराया जाता है। अगले दिन कन्या विदा होकर अपने ससुराल आ जाती है। जहां वर-वधू का स्वागत कर कंगन खोलने, कुल देवता का पूजन करने आदि रीतियों को संपन्न किया जाता है। कहीं-कहीं कन्या की विदाई विवाह के तुरंत बाद न करके दो या तीन साल बाद की जाती है, अधिकतर यह प्रथा अशिक्षित और ग्रामीण परिवारों में प्रचलित रही है, इसे गौना कहते हैं। प्रगतिशील कविता में इस विवाह प्रथा के रीति-रिवाजों की झांकी प्रकृति के माध्यम से प्रकट हुई है। केदार की 'हे मेरी तुम' में विवाह के अवसर पर वर को मौर पहनाने तथा नागार्जुन की 'जान भर रहे हैं जंगल में' वर-वधू पर अक्षत छीटने का उल्लेख हुआ है। केदार अपनी पत्नी के उदास मुख की ओर देखते हुए, उस मुख को याद करते हैं जिसे वे मौर बांध कर विवाह करते समय देखा था-

हे मेरी तुम!
सुख का मुख तो
यही तुम्हारा मुख है
जिसको मैंने,
इस दुनिया के दुख-दर्पण में,
अपने सिर पर मौर बांधकर देखा
और देखकर मुग्ध हुआ;
यह क्यों आज उदास है?[115]

विवाह ऐसा संस्कार है जहां पति-पत्नी आजीवन भर के लिए एक दूसरे के लिए हो जाते हैं। इस संस्कार को तोड़ने की अनुमति किसी को नहीं है। यदि कोई इसे सही तरीके से निभाता नहीं हैं तो उसे लोक निंदा का अपयश उठाना पड़ता है। पति का कर्तव्य होता है कि वह अपनी

दुल्हनिया को हर प्रकार से सुखी और खुशी रखे तथा पत्नी भी अपने पति की हर अपेक्षाओं पर खरी उतरने की कोशिश करती है।

विवाह के समय जितना उमंग, आनंद होता है वही खुशी केदार को 'नागार्जुन के बांदा आने पर' होती है। इसलिए कवि केदार के लिए हवा गौना होकर आने वाली नई दुल्हनिया की चुनरिया बन जाती है, धरती फूलों-रूपी नववधू और गगन का राजा सूरज दूल्हा प्रतीत होता है। इसलिए भाव-विभोर होकर वे कह उठते हैं-

तब यह बांदा काव्य कला की पूरी बना था,
और साल भर साल यहां मधुमास रहा था,
बम्बेश्वर के पत्थर भी बन गये हृदय थे,
चूनरिया बन गई हवा थी, गौने वाली,
यह धरती हो गयी बधू थी फूलों वाली,
और गगन का राजा सूरज दुल्हा बनकर,
चूम रहा था प्रिय दुल्हन को।[116]

केदार ने अपने काव्य में लोक जीवन के सुंदर चित्र खींचे हैं। 'छूटता है गेह' में लोक जीवन की पारिवारिक संबंधों की अद्भुत छटा देखने को मिलती है। पाठक के आंखों के सामने ससुराल से मैके जाती युवती का चित्र खिंच जाता है। ससुराल आने के पश्चात वहां के राग-रंग में रंगी दुल्हन किस तरह अपने बंधु-बांधवों, रिश्तेदारों, से मिलने हेतु विकल हो उठती है। उनकी स्मृति युवती के लिए देश बन जाती है। दूसरी ओर उसका मायके जाना उसके पति के लिए कितना कष्टदायक होता है, मानो प्रेम, स्नेह रूपी गंगा की धारा मेरु से दूर हो गई हो। इस लोक-संवेदना का केदार ने हृदय ग्राही चित्र प्रस्तुत करते हैं-

छूटता है गेह गोरी जा रही है
वेदना अब आंसूओं से गा रही है
कंठ से उमड़ी हृदय पर छा रही है
मायके की याद मन भरमा रही है
छूटता है मेरु गंगा जा रही है
पत्थरों का भी हृदय पिघला रही है
पादपों को भेंटती अकुला रही है
गीत मिलनातुर विकल अब गा रही है।[117]

यह विदाई की गीत जो रोते हुए हर लड़की अपने मायके से ससुराल के लिए विदा होते समय रो-रोकर गाती है। घर, परिवार, भाई, बहन, पशु, पक्षी, खेत, खरिहान सब उसे अपनी तरफ खींचते हैं किंतु वह हृदय पर पत्थर रखते हुए रोते-विलखते अपने साजन के घर जाने के लिए बाध्य होती है। क्योंकि इस वैवाहिक संस्कार से ही यह जगत गतिमान होता है, उसे इस

परंपरा का पालन करना होता है। किंतु युवती को जीवन भर मायके का गेह सताता रहता है। वह तो दो घरों को सजाती है- बचपन में पिता का घर और जवानी से मरण तक पति और परिवार के साथ अपना घर सजाती-बनाती है।

पर्व, व्रत, उत्सव भारतीय लोक संस्कृति की परिचायक है। लोक उत्सवों में किसी देश के इतिहास, परंपरा एवं संस्कृति का सहज-सुलभ दर्शन किया जा सकता है। लोकोत्सव में उस देश, समाज और काल की झांकी मिलती है। आज दुनिया के प्रत्येक देश अपनी संस्कृति से अन्य देशों को आकर्षित करने की कोशिश करते हैं, दूसरी ओर लोकोत्सव वैश्विक ग्राम बनती एक रस जिंदगी से कुछ अलग और अनोखा जीवन का स्वाद चखाती है। ये पर्व, उत्सव और त्यौहार भारतीय समाज के मेरुदंड हैं। जहां जनपदीय और जातीय संस्कृति को जीवंत, समृद्ध और गतिशील बनाने में इन उत्सवों का योगदान होता है तो वहीं ये उत्सव लोक जीवन के विभिन्न और विशिष्ट विश्वासों के परिणाम भी हैं। भारत में इस प्रकार के अनेक व्रत और उत्सव मनाए जाते हैं। रामनवमी, कृष्णाष्टमी, शिवरात्रि आदि अनेक व्रत भारत में मनाए जाते हैं तो वहीं रामलीला, कृष्णलीला, पोंगल, होली, ईद, क्रिसमस, दीपावली, गणेशोत्सव और दुर्गोत्सव आदि त्यौहार भी बड़ी धूम-धाम से मनाए जाते हैं। इस प्रकार पर्व समाज में एकसूत्रता और व्रत शारीरिक पवित्रता और भावनात्मक परिष्कार कर मानव जीवन को हर्षोल्लास से भरे रखते हैं।

लोकजीवन में प्रचलित रीति-रिवाज, लोकमानस के दुखों से भरे जीवन में सुख की आशा का संचार करते हैं। अश्विन प्रतिपदा को जौ उगाए जाते हैं तथा पूर्ण धार्मिक निष्ठा और श्रद्धा के साथ नौ दिन तक मां दुर्गा की पूजा की जाती है। यह त्यौहार मुख्यतः बंगाल में मनाया जाता है, जहां दुर्गापूजा के धूमधाम की छटा देखने योग्य होती है। नौ दिन की पूजा के पश्चात दशमी को दुर्गा की भव्य प्रतिमाओं को धूमधाम से पूजा-अर्चना के बाद समुद्र, नदी या जलाशय में विसर्जित कर दिया जाता है। हमारे समाज में त्यौहारों की मूल-भावना को न अपना कर, उसकी रूढ़ियों का पालन किया जाता है। समाज की इस वृत्ति को लक्षित करते हुए कवि केदार ने अपनी कविता 'कल, दुर्गा की' में पूंजीवादी समाज की विसंगतियों को उभारा है, जो धार्मिक उत्सवों में भी पैसा बनाने के चक्कर में रहता है-

कल,
दुर्गा की
भुवन-मोहिनी
दिव्य मूर्तियां
जल-समाधि से
चली गयीं संसार से
शक्ति-शौर्य-साहस-संगोपन

हुआ समर्पित काल को।
नगर पुनः
अब नगर हो गया
पहले जैसा
अपनी चाल चला फिर पैसा
दांव-पेंच अधिकाई
चक्कर-मक्कर की बन आयी।[118]

इसी दिन सुबह के समय दशहरा-पूजन जिसमें क्षत्रियों द्वारा अस्त्र-शस्त्र की पूजा भी की जाती है, बहने अपने भाई का तिलक करती है और ब्राह्मण लोग यजमान को गौर हरित मृदु मसृण यवांकुर देते हैं। सभी जगह सभी घरों में विभिन्न प्रकार के पकवान बनाए जाते हैं तथा नए वस्त्राभूषण भी पहने जाते हैं। इस प्रकार विजयादशमी महिषासुर आदि दुर्दात दैत्यों का संहार करने वाली दुर्गा भगवती तथा रावण का वध करने वाले श्रीराम की विजय का प्रतीक है।

शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने अपनी 'विजयादशमी'[119] कविता में अपने देश की युगीनानुरूप रामलीला की रूढ़ियों पर गर्व करने के बजाय विजयादशमी की मूल भावना को ग्रहण करने पर बल दिया है। उनके अनुसार 'रामलीला' की रामायण की अपेक्षा वास्तविक जीवन में लड़े जा रहे युद्ध को अधिक कष्टप्रद बताया और वर्तमान जनता की आर्थिक जर्जरता को उजागर किया है। यही प्रश्न कवि केदार ने 'कल दुर्गा की' कविता में भी उठाया है। अतः यह कहना समीचीन होगा कि लोकधर्मी कवि केदार तथा अन्य प्रगतिशील कवियों ने लोक-जीवन को रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों की जकड़न से मुक्त कराने का गंभीर प्रयास किया है।

वस्तुतः हमारी संस्कृति, हमारे देश, हमारे पर्व की वास्तविक दीवाली तब होगी, जब सुख समता के फूल खिलेंगे अर्थात सामान्य जन, शोषित लोकजन भी इस खुशी में आनंदपूर्वक भाग जब ले सकेंगे। कवि केदारनाथ अग्रवाल 'जलते टिमकते हैं' कविता में लछमिनिया के स्वागत के लिए आधी रात के अंधेरे में अनया माटी के दीये का जलाना इसी बात का संकेत है। यह शुभ से अशुभ को परास्त करने का सूचक भी है-

जलते
टिमकते हैं
अंधेर की अंधी रात में
अनया माटी के दीये,
आग के अंखुए उगाए,
साल भर बाद
लौट आई 'लछिमिनिया' के

स्वागत में
'शुभ' से 'अशुभ' को
परास्त करते हैं।[120]

कवि केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति के ऐसे चितेरे हैं जो मानव की अनुभूतियों को निसर्ग में स्थापित करते हुए काव्य की रचना की है जिसमें मानव जगत और प्रकृति जगत का मंजुल मेल हुआ है। उन्होंने लोक जीवन में प्रचलित होली का रंग केवल मनुष्यों पर ही नहीं चढ़ता देखा बल्कि मनुष्यों के साथ ही साथ प्रकृति भी लोक जीवन और होली का हिस्सा बन जाती है। इस तरह प्रकृति वसंत ऋतु का भरपूर आनन्द लेती है, जिसे अपनी गहरी लोक-बोध संवेदना के कारण कवि बखूबी पहचान लेता है-

फूलों ने
होली
फूलों से खेली
लाल गुलाबी
पीत-परागी
रंगों की रंगरेली पेली
काम्य कपोली
कुंज-किलोली
अंगों की अठखेली खेली।[121]

प्रकृति के माध्यम से कवि ने होली का जो गत्यात्मक बिंब बुना है, वह लोक प्रचलित संवेदनाओं का पूर्ण बिंब है। जैसे- 'रंगरेली' मदात्मक ठंडई का प्रतीत है, 'काम्य कपोली' प्रणय-गपशप का प्रतीक है, 'कुंज-किलोली' रसात्मक-रिश्तों के अंतर्गत आने वाले परिवार के सदस्यों, पड़ोसियों और मित्रों से होली का प्रतीक है और 'अंगों की अठखेली' उस मोद का प्रतीक है जो विपरीत लिंगी एक दूसरे के स्पर्श से प्राप्त करते हैं। अतः प्रकृति-चित्रण के माध्यम से लोक जीवन की इतनी स्पष्ट गाथा का चित्र अन्यत्र नहीं मिलता है।

नाग पंचमी भारतीय संस्कृति का अति प्राचीन लोकोत्सव है, जो श्रावण शुक्ल पंचमी को मनाया जाता है। सांस्कृतिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि आदिम मानव ने अपनी सुरक्षा के लिए उन सभी जड़-चेतन की उपासना की, जिससे उसे अपने अनिष्ट की आशंका थी। वास्तव में नाग पंचमी पर किया जाने वाला नागपूजन, सर्पदंश से बचने का अनुष्ठान है। इसमें घर की स्त्री घर के चारों ओर लकीर खींचती है और द्वार के समीप नाग और नागिन के चित्र बनाए जाते हैं, अंकुरित धान, अंकुरित चना, गुण और दूध पूरी पवित्रता के साथ घर के सभी सदस्य पहले कुएं फिर अन्न छः स्थानों पर रखते हैं। इस अनुष्ठान के पश्चात मैदान में अखाड़ा लड़ा जात है, बच्चे अन्य प्रकार के खेल-खेलते है। इस संबंध में लोक विश्वास है

कि नाग देवता रखे गए दूध को पीते हैं और जिसका दूध पीते हैं उसे सर्पदंश कभी नहीं होता और जो पूजा करते हैं, उन्हें वर्ष भर सर्पदंश का डर नहीं होता है। इस लोक-जीवन की संवेदना को कवि अपनी पत्नी के साथ साझा करते हुए कहता हैं-

हे मेरी तुम!
अब की जैसी
नाग पंचमी कभी न आयी।
नाग-राज को दूध पिलाओ
जीवन की जय-जीत मनाओ।[122]

भारतीय समाज में ग्रह, तिथि, काल, आदि विचारों का बहुत गहरा प्रभाव है, यह इतना प्रबल की व्यक्तियों और समाज को अकर्मण्यता की ओर ढकेल देता है। प्रगतिशील कवियों ने इसे अंधविश्वास मानते हैं, नागार्जुन और त्रिलोचन की कविताओं में भी यह अंधविश्वास प्रकट हुआ है किंतु केदारनाथ अग्रवाल लोक प्रचलित इन अंधविश्वासों का जमकर विरोध करते हैं। उनके अनुसार ग्रह-नक्षत्र, भविष्यवाणी, हस्तरेखा, शकुन-अपशकुन आदि केवल मन के वहम हैं, इनके आधार पर जीवन को बिताना मूर्खता और प्रतिगामी है। कवि मानता है जीवन स्वयं एक वरदान है, फिर जीवन के लाभार्थ काम के लिए शुभ-अशुभ का विचार करके बैठा रहना सही नहीं है, इसलिए कवि जोर देकर कहता है-

काटो काटो काटो करबी
साइत और कुसाइत क्या है
जीवन से बढ़ साइत क्या है[123]

भारतीय समाज में वैदिक काल से ही मंत्र-तंत्र-टोना-टोटका का बहुत महत्व है, प्रायः समाज के ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, जज-डॉक्टर सभी इनका पालन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस कारण समाज समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान के स्थान पर अंध-विश्वासों के रास्ते उसका समाधान खोजता है, परिणाम यह होता है कि स्थिति बदलती नहीं है। लोकतंत्र से यह विश्वास था कि जनता में वैज्ञानिकता का प्रचार बढ़ेगा और उनके जीवन स्तर में सुधार होगा। किंतु हमारे राजनीतिज्ञ जन-विरोध और जन-मांग को दबाने के लिए विविध मंत्रों का सहारा लेते हैं और वास्तविक कारणों को जानकर समस्याओं का समाधान करने के स्थान पर कुचालें चलते हैं, जनता को बांटते हैं, हवाई स्वप्न दिखाते हैं, कवि इस प्रकार के राजनीतिज्ञों के कार्यों को 'मंत्रों-तंत्रों' जैसा मानता है, जिसका प्रभाव भी मंत्रों-तंत्रों जैसा ही पड़ा है। इस प्रकार जनता की दशा में कोई गत्यात्मक सुधार नहीं होता है। जनता का विरोध और मांग दोनों धरी की धरी रह जाती हैं और पूरा आंदोलन और संघर्ष खंडित होकर निष्फल हो जाता है। शोषण व्यवस्था का यह रूप इतना अमानवीय है कि इसे चाह कर भी

बदल नहीं सकते। कवि का 'प्रलय का पौरुष' भी इन मंत्रों-कुचक्रों को पराजित करने में हारता हुआ दिखाई पड़ता है-

ज्वार पर
चढ़ा जन-उभार
प्रलय का
पौरुष फुफकारता है,
मंत्र मारते
मदारियों से
हारता है।[124]

डॉ शशि शर्मा का कहना है कि "स्वार्थ पोषी प्रवृत्ति के निहितार्थ जनक्रांति को दबाने के लिए हर कुत्सित चाल ही आधुनिक राजनीति का एक मात्र धर्म है।"[125] इस प्रकार कवि केदार ने जन-जीवन में गरीबी के चक्र का पर्दाफाश किया है। जहां सुधारने वाला खुद सुधर जाने के लिए बेबस है।

भारतीय समाज में शुभ-अशुभ की मान्यता जोरदार है, विधवा का मुख देखना कार्य में विघ्न का संकेत माना जाता है उसे रांड़ कहते हैं। संतानहीन स्त्री को बांझ कहा जाता है, उसे अशुभ माना जात है। छींक मारना, अपशकुन माना जाता है, बाईं आंख के फड़कने को अपशकुन माना जाता है। इसी तरह से कुछ लोक विश्वास शकुन के भी हैं जैसे- कौवे का बोलना, अतिथि के आने का शकुन है, दाईं आंख का फड़कना, खुशी या धन-दौलत मिलने का शकुन है। इस प्रकार के लोक विश्वास केदार की कविता 'मुंह बोला' में काग के बोलने पर अतिथि के आने संबंधी लोक विश्वास प्रकट हुआ है, जहां इस प्रकार के लोक विश्वासों को कवि ने निरर्थक बताया है-

बंद रहा भीतर का ताला,
बाहर आया नहीं उजाल
कांव-कांव
सगुनाया,
पाहुंन पास न आया।[126]

इस प्रकार केदार और अन्य प्रगतिशील कवियों ने जन समाज और लोक-समाज में व्याप्त अंधविश्वासों का विरोध किया है ताकि ऐसे विश्वासों से आम जनता को मुक्ति प्राप्त हो सके और वह जीवन की दशा सुधारने में स्वयं प्रयास करे।

केदार के काव्य में प्रयुक्त लोक विश्वासों पर व्यंग्य न केवल अंधविश्वासों और आडंबरों पर चोट हैं बल्कि आम जनता को सशक्त करते हुए नई ऊर्जा भी देता हैं। लोक जीवन में देवी काली माई को विभिन्न प्रकोपों का कारण माना जाता है। इसी प्रकार जन रक्षक देवी शीतला

माता के अप्रसन्न होने से चेचक रोग का प्रकोप फैल जाता है। जहां इस रोग से निदान पाने के लिए शिक्षित समाज रोगी को चिकित्सालय ले जाकर रोगी का चिकित्सक से उपचार कराकर अरोग्य हो जाता है। किंतु इसके उलट ग्राम और पिछड़े समाजों में चेचक को देवी मान कर, पुजारियों के पास जाया जाता है और देवी शीतला की अप्रसन्नता दूर करने के लिए तमाम तरह के अनुष्ठान किए जाते हैं, जिसमें प्रायः बकरे की और कभी कभी बच्चों की बलि दी जाती है, इस प्रक्रिया में अधिकांशतः रोगी की भी बलि चढ़ जाती है। 'महाकाल बरजोर' नामक लंबी कविता में केदारनाथ ने चेचक की देवी के प्रकोप का उल्लेख किया है-

देवी माता के प्रकोप का भाजन
पूरे शरीर में निकाल दिए तूने
एक-से-एक बड़े फफोले
मरने-मरने लग गया था मैं।[127]

केदार के काव्य में जो लोक-संस्कार आया है, वह लोक-जीवन को सुधारने और उसमें वैज्ञानिक और आधुनिक मूल्यों को भारने के लिए आया है। क्योंकि अंधविश्वासों और लोक-विश्वासों को धार्मिक चादर ओढ़ा कर धंधा करने वालों की पौबारह हुई है किंतु इन अज्ञानों के चक्कर में भोली-भाली जनता फंसी हुई है तथा इसके आड़ में प्रायः अपराधों को समाज में मान्यता प्रदान कर दी जाती है।

केदार की कविताएं समाज को अधोगति की ओर ले जाने वाली रूढ़ियों, अंधविश्वासों, प्रपंचों का बड़ा विरोध करती हैं। दिन-रात अन्याय और अत्याचार करने वाले लोग स्वर्ग की लालसा में गुड़ के लोभी चिटों के समान देव दर्शन करने चल पड़े हैं। केदार इन यात्रियों को 'बौड़म' कहते हैं, इनके ऊपर पापों का बड़ा बोझ है, जिसे वे जानते है और 'चित्रकूट' की परिक्रमा कर अपने पापों को धोने की तमन्ना लिए हुए चले जा रहे हैं। इसलिए कवि ने इन्हें 'बौड़म' शब्द से चिह्नित किया है, इस प्रकार प्रगतिशील कवि केदार ने अंधविश्वासों और अतार्किक लोक-विश्वासों के प्रति अपनी असहमति व्यक्त की है।

केदार जन-जागरण करना चाहते हैं, उनकी कविताएं इन्हीं उद्देश्यों को समेटे हुए हैं। कवि को लोक-जीवन से सरोकार है, वह उसमें सुधार और विकास लाना चाहता है। इसके लिए लोक-जीवन में व्याप्त अंधविश्वास, लोकविश्वास, धार्मिक अंधता, सामाजिक जकड़न, आडंबर आदि से उसे मुक्त कराना होगा। भारतीय मानस में बहुत गहरे बैठी हुई ईश्वरीय भावना के सही रूप से जबतक वह परिचित नहीं होगा, तब तक प्रत्येक समस्या का समाधान वह भाग्य और ईश्वर में खोजने की कोशिश करता रहेगा। इस प्रकार कर्मण्यता और लोक-चेतना उसमें नहीं आएगी, बिना कर्मठता और सामूहिक-चेतना के लोक-जीवन में उन्नति लाना संभव नहीं है। आम आदमी की सोच और उसके बंधनों को 'बरदान' और 'मर्म को भीतर छिपाये' कविता में कवि ने अभिव्यक्त किया है। इस अभिव्यक्ति का चित्रण देखें-

मर्म को भीतर छिपाये,
जान को जोखिम से बचाए.....
अंतहीन यात्रा का
अंत खोजते
पास आती मौत को
मनौतियों से रोकते।[128]

केदार के काव्य में यत्र-तत्र और अन्यत्र पाए जाने वाले लोक-संस्कार, लोकविश्वास, लोक संवेदनाएं, उनके द्वारा लोक-जीवन की अभिव्यक्ति करते समय आए हैं, जो लोक जीवन को उन्नत और कर्मठ बनाने के लिए आया है। लोकमानस की अभिव्यक्ति के इन महत्त्वपूर्ण साधनों में भारतीय लोकजीवन झांकता प्रतीत होता है। केदार की कविता में लोकविश्वास के माध्यम से वर्तमान समाज की राजनीतिक, सामाजिक विसंगति को बेनकाब कर लोक एवं जीवन की असंगत रूढ़ियों, मान्यताओं, विश्वासों और परंपराओं का खंडन किया गया है। कवि केदारनाथ अग्रवाल ने अपने काव्य के माध्यम से पुरानी मान्यताओं और मूल्यों के पतझड़ में जनवादी, लोकवादी नए मूल्यों एवं विचारों के बसंत का प्रसार करना चाहते हैं।

ग्रामीण जीवन

केदारनाथ अग्रवाल हिंदी कविता के प्रगतिशील धारा के प्रमुख हस्ताक्षर इसलिए हैं कि उनकी रचनाओं में ग्रामीण जन-जीवन की धड़कने बोलती है। उनकी कविताएं अकेलापन और व्यक्तिवाद की विरोधी हैं, सही अर्थों में वे ग्रामीण सामाजिक जीवन के चितेरे हैं। उनकी कविताओं में गांव-समाज का यथार्थ चित्रण मिलता है। हिंदी के प्रगतिशील कवियों में गांव-समाज के जीवन के यथार्थ को प्रकट करने वाले कवियों में केदारनाथ अग्रवाल अग्रणी हैं। इनकी कविताओं में युग की यथार्थ ग्रामीण जीवन की संवेदना का चित्रण हुआ है। डॉ. रामविलास शर्मा के कथनानुसार "केदार का गांव सारे देश की प्रगति-दुर्गति का मानदंड बन जाता है।"[129] भारतीय ग्रामीण जीवन की आत्मा उसके खेतों में है, जहां से वह जीवन पोषण पाता है इसी आत्मा की झलक स्पष्ट रूप से केदारनाथ अग्रवाल की काव्य पंक्तियों में दिखाई देती है-

कौन फूल है ऐसा मनहर,
नहीं खिलेगा
जो मेरी धरती के उर पर ?
ऊसर भी अब होगा उर्वर,
उपजेगा–
गेहूं, जौ, चावल, चना, टमाटर,
सोना के सुख का संवत्सर।[130]

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य रूपों में समसामयिक यथार्थ का व्यापक चित्रण हुआ है। कवि ग्राम जीवन की वास्तविक स्थितियों के प्रति सचेत है। वह अपने अन्य पूर्व कवियों की तरह गांव को जीवन-आदर्श के मापदंड के रूप में स्थापित नहीं करता है। वहां का किसान सुख-चैन की नींद नहीं सो रहा है बल्कि वह जहर की घूंट पी कर जी रहा है। प्रायः भाववादी कवियों ने ग्रामीण जीवन की वास्तविक स्थितियों का चित्रण नहीं कर पाए हैं। सामाजिक व्यवस्था पर सत्ताधारी वर्ग का ध्यान कभी नहीं गया। गांव जीवन के यथार्थ चित्रण की परंपरा किसानी जीवन के सम्राट चितेरा मुं. प्रेमचंद के उपन्यासों से प्रारंभ होता है, जिसकी अगली कड़ी, काव्य रूप में केदारनाथ अग्रवाल लेकर प्रस्तुत हुए है। जिनके लिए ग्राम्य जीवन और किसान का मतलब रमणीय प्रकृति और कुसुमित सौंदर्य का काल्पनिक जीवन नहीं बल्कि छोटे-छोटे किसान और मजदूरों के जीवन की वास्तविक स्थितियों से है। जिसमें गांव के चर्मकार, धोबी, पासी, लुहार, नाई, कुम्भार, कोहार आदि वंचित शामिल हैं। जिनकी जिंदगी की दुख भरी कहानी छोटे किसानों और मजदूरों से भिन्न नहीं है। इन सभी ग्रामीणों की जिंदगी अभाव, तबाही, कर्ज, भुखमरी, दमन, उत्पीड़न आदि से भरी होती है। कवि ने इनकी जिंदगी को अपने काव्य का विषय और कथ्य बनाया है। केदार 'गांव' नामक कविता में गांव का दृश्य प्रस्तुत करते हैं-

उसी पुरातन चक्की का,
कर्कश मोटा स्वर,
अंधकार के आर्त्तनाद-सा,
सुन पड़ता है।
गाय, बैल, भेड़ो, बकरी,
पशुओं के दल में,
मूर्ख मनुष्यों का समाज
खोया रहता है।।[131]

प्रगतिशील कवि विशेषकर केदारनाथ अग्रवाल लोकधर्मी संवेदना के कवि हैं, वे समाज में नए युग की स्थापना करना चाहते है, पुरानी, सड़ी-गली व्यवस्थाओं को बदलकर लोकवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते है। जिसमें सभी मनुष्यों का बराबरी का भागीदारी सुनिश्चित हो। केदार ग्रामीण जनता को सामाजिक और आर्थिक रूप से उन्नत तथा श्रम की स्वतंत्रता तथा काम के महत्व की स्थापन कर सामान्य जनता को भी सुखी और सभ्य जीवन जीने का अधिकार दिलाना चाहते है। इसलिए वे नया मुक्त मानव से युगांतर कराने की चाह रखते हैं। केदार का नया मुक्त मानव जन हितैषी होगा, इसलिए केदार मानव और काम की स्वतंत्रता की स्थापना के स्वप्न को नए मुक्त मानव में साकार होते हुए देखते है-

न रोके रुकेगा,
न मारे मरेगा,

नया मुक्त मानव
दिशांतर करेगा।
जहां धूल-धरती सिसकती पड़ी है,
जहां आंसुओं की बरसती झड़ी है,.....
पियेगा गरल और हंसता जियेगा,
करोड़ो हृदय में कमल-सा खिलेगा,
नये कर्म के गीत गाता मिलेगा,
न काटे कटेगा,
न मारे मरेगा!
नया मुक्त मानव युगांतर करेगा।[132]

केदारनाथ अग्रवाल मूलतः किसान और श्रम के कवि हैं, उनकी कविताएं गांव व किसान का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती हैं। इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "दूर खड़े होकर किसान को देखने वाले कवि और होंगे; केदार बहुत नजदीक से उसकी श्रम प्रक्रिया देखते और उसका वर्णन करते हैं।"[133] किसान बहुत परिश्रम करता है, तब कहीं जाकर इस धरती से अन्न उपजते हैं किंतु किसान को उसके परिश्रम का फल कभी नहीं मिलता और व्यवस्था की लूट उसे लूट लेती है। किंतु केदार उसमें शक्ति का जागरण करना चाहते हैं, इसलिए उसकी वास्तविक शक्ति को दिखाना भी चाहते हैं-

हमारे हाथ में हल है,
हमारे हाथ में बल है,
कि हम बंजर को तोड़ेंगे–
बिना तोड़े न छोड़ेंगे।.....
हम अपना बीज बोएंगे,
हम अपना प्राण होमेंगे,
कि आजादी उगाना है–
गुलामी को मिटाना है।[134]

भारत का ग्रामीण जीवन वास्तव में सुख, समृद्धि और ऐश्वर्य का कोई स्वप्न लोक नहीं है। जैसा कि रोमांटिक और भाववादी दृष्टि से देखने वाले बहुत से कवि मानते रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों की भी ऐसी आदर्शवादी मान्यता थी कि गांवों में समस्या हीन सादा जीवन मिलता है, अतः गांव जितना सुंदर जीवन कहीं नहीं हो सकता-

अहा ! ग्राम जीवन भी की क्या,
क्यों न इसे सबका जी चाहे ?
थोड़े में निर्वाह यहां है,

ऐसी सुविधा और कहां है।[135]

परंतु भारत के ग्रामीण जीवन की स्थिति आज भी लगान फिल्म में दिखाई गई किसानों की जीवन दशा से बेहतर नहीं है, बस अंतर है यह है कि लगान माफ हो गई है, किंतु उत्पाद के दाम तुलनात्मक रूप से लागत की अपेक्षा बहुत कम मिलते हैं। जिससे किसान अपने कमाऊं बेटों के सहारे खेती करता है या तो कर्ज लेकर आत्महत्या कर लेता है। किंतु स्वतंत्र भारत में भी लागत और उपज के दाम में भारी अंतर है जिससे खेती अलाभकारी या कहें अप्रच्छन बेरोजगारी का काम हो गयी है। कोई भी नौजवान आज खेती नहीं करना चाहता है। कवि गांव के वास्तविक रूप को अपने कविता के माध्यम से चित्रित किया है-

सड़े घूर की, गोबर की बदबू से दबकर
महक जिंदगी के गुलाब की मर जाती है
रार, क्रोध, तकरार, द्वेष से, दुख से कातर,
आज ग्राम की दुर्बल धरती घबराती है।[136]

डॉ खगेंद्र ठाकुर केदारनाथ अग्रवाल की संवेदना के बारे में लिखते है कि "वे जीवन की समग्रता के कवि है।"[137] केदार की कविता में ग्राम समाज पूरी अपनी समग्रता से उभरता है, उसमें किसान, फसलें, दिन-रात, हवा-पानी, सुबह-शाम सब कुछ समाहित है, प्रकृति भी अपने सौंदर्य के साथ निखरी है। केदार की सबसे बड़ी विशेषता यह लगती है कि वे 'गरबीली गरीबी' के कवि हैं, उनकी कविता का किसान ताकतवर और आशावान दिखाई देता है। शोषक कैसे मिलकर गरीब किसानों का शोषण करते हैं, चोरी के अपराध में कैसे किसान को फंसा देते हैं, फिर भी किसान अपनी सच्चाई के भरोसे डिप्टी साहब के सामने निडरता से सीना ताने खड़ा है। इस प्रकार लोक-जीवन में निडरता और विश्वास भरने वाली कविताएं, केदार की काव्य रचनाओं से पहले भारतीय साहित्यिक परंपरा में दिखाई नहीं देती थीं-

प्यारी धरती का शक्ति-पुत्र,
चट्टानी छाती वाला,
है खड़ा खंभ-सा आंधी में
डिप्टी साहब के आगे।[138]

केदार ने यह स्थापना अपनी कविताओं के माध्यम से किया कि यह धरती उसकी है जो इसको जोतता और बोता है। इसलिए किसान को ही केदार धरती का मालिक मानते है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में खेत मजूर से लेकर फैक्टरी मजूर तक, श्रमिकों के अनेक रूप दिखाई देते हैं। अनेक अवस्थाओं में जिनमें गरीबी के नग्न चित्रों से लेकर, उनके कठिन जीवन संघर्ष, विद्रोह, परिवर्तन की आकांक्षा आदि शामिल है को कवि अपनी कविताओं में चित्रित किया है। जिस कारण से उनके काव्य में एकरसता और दुहराव का पूर्ण अभाव है और पूरी कविता तरो ताजा लगती है। इनके यहां किसान की तरह ही श्रमिक का जीवन भी अपनी

संपूर्णता में उपस्थित हुआ। केदार श्रमिक के मेहनत को और उसके कार्य के प्रति लगन को महत्व देते हुए उसका ठोस मूल्यांकन भी उपस्थित करते हैं-

आदमी का बेटा
गरमी की धूप में भांजता है फड़ुआ,
हड्डी को, देह को तोड़ता है,
खूब गहराई से धरती को खोदता है।
कांखता है, हांफता है, मिट्टी को ढोता है,
गंदी आबादी के नाले को पाटता है।[139]

गांव में नीम का बहुत महत्त्व है, उसके गुण कड़वे होते हैं, किंतु वह ग्रामीणों और वहां के वातावरण को आरोग्य बनाए रखती है। गांव में नीम की पत्तियां औषधि के रूप में प्रयोग की जाती है, उसकी टहनी दातुन (टूथब्रस) के रूप में उपयोग में आती है और उसके बीज से तेल निकाला जाता है जो जीवाणुं नाशक होता है, जिसे पशुओं एवं मनुष्यों के घावों पर लगाया जाता है। नीम नीरोग वृक्ष के रूप में गांव की अत्यंत कीमती और प्राचीन संपदा है। हमारे ग्रामीण-जीवन के सुख-दुख की यह पहली गवाह है। सारे पेड़-फूल हों और नीम न हो तो वह ग्रामीण संवेदना का प्रतिनिधि वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि नीम ग्राम्य-जीवन की प्रकृति से गहराई से जुड़ी है। पेड़ के रूप में नीम का चुनाव केदार की गहरी लोकदृष्टि का प्रमाण है। अतः कवि नीम की गुणवत्ता स्थापित करते हुए लिखता है-

नीम के फूल
दूध की फुटकियों से झरे
मुलायम-मुलायम
कठोर भूमि पर बिखरे
जैसे कोई
प्यार से शरीर स्पर्श करे।[140]

प्रगतिशील कवि और गांव-जीवन की खुशबू के कुशल चितेरे कवि त्रिलोचन ने भी नीम को अपनी कविता का विषय बनाया है-

नीम के फूलों की
हरी-भरी सुगंध पिए
रात मौन रहती है।[141]

केदार की कविताओं में "पश्चिमी अस्तित्ववादी ढंग का, अमूर्त और व्यक्तिवादी अजनबीपन दिखाई नहीं देता, तो इसका कारण कवि का देश और जन से सच्चे रूप में जुड़ा होना है। क्योंकि वे स्वयं देश और लोक के बीच अपने को अजनबी महसूस नहीं करते थे और लोगों के बीच जीते थे। अतः उनकी कविताएं भाववादी अजनबीपन के एहसास से दूर रही

है।"[142] केदार का मानना है कि "अजनबी होना आदमी न होने की निशानी है। आदमी न होने का मतलब है अपने आदमियों को न समझना–अपने युग के यथार्थ को न समझना–और विसंगतियों में रहकर आदमी होने से इंकार करना।"[143]

गांव छोड़ने के बाद भी केदार अपने को गांव से जोड़े रखते थे। गांव के प्रति उनका आकर्षण और वहां लौट कर न जा पाने की विवशता उन्हें हमेशा सालती, कचोटती रहती थी। किंतु गांव से आए हुए हर व्यक्ति का जी-जान से मदद करते थे। गांव और वहां का जीवन अपनी अच्छाई और बुराई के साथ उनके नस-नस में बसा था। वे गांव को अपनी कविताओं में तो बसाए ही है, पर उसे अपनी कविताओं से याद भी करते हैं-

गांव अब भी मुझे बुलाता है
रेडियो की तरह बज उठता हूं मैं
उसकी पुकार पर
लेकिन जा नहीं पाता
पेट में कैद हूं।[144]

केदारनाथ अग्रवाल लोकधर्मी संवेदना के कवि है, वे जनता के कवि है, वे आम जनता के उत्थान के लिए, उसमें चेतना भरते रहे, उसमें आत्मविश्वास भरते रहे, उसको मनोवैज्ञानिक रूप से शक्तिशाली बनाते रहे, केदार की कविताएं गांव, समाज और जीवन तथा प्रकृति से संबंधित कविताएं हैं, जिसमें लोक जीवन की मिट्टी की सुगंध रची बसी है। वे धरती के जय के गायक हैं। जब तक किसान, श्रमिक और आम आदमी इस धरती पर रहेगा तबतक केदार की कविताएं लोक-जीवन का आदर्श बनकर उनमें शक्ति का संचार करती रहेंगी। लोक-जगत उनसे प्रेरणा लेता रहेगा चाहे जीवन का संघर्ष कितना ही दुर्गम और भयानक क्यों न हो, उसे पार करने के लिए केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में उद्दाम जिजीविषा और लोकधर्मी संवेदना का संघर्षबोध है। कवि की लोकधर्मी संघर्ष चेतना में निराला की उत्तरकालीन चेतना का खिला हुआ रूप दिखाई देता है। ऐसा संघर्षचेता ही अपने को विषपायी नीलकंठ बना सका है और घोषणा कर सका है कि–

चम्मचों से नहीं
आकंठ डूबकर पिया जाता है
दुख को दुख की नदी में
और तब जिया जाता है
आदमी की तरह आदमी के साथ
आदमी के लिए।[145]

*****

संदर्भ श्रोत

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृति हिंदी कोश, पृ. 1004
2. सं. नवलजी, नालंदा विशाल शब्द सागर, पृ. 1385
3. सं रामचंद्र वर्मा, प्रमाणिक हिंदी कोश
4. सं. नगेंद्रनाथ वसु, हिंदी विश्व कोश
5. अरविंद कुमार, समान्तर कोश-हिंदी थिसारस
6. डॉ. रवींद्रनाथ मित्र, अंतिम दशक की हिंदी कविता, पृ. 12
7. डॉ. राजेंद्र प्रसाद, अज्ञेय: कवि और काव्य, पृ. 94
8. डॉ. विमल अग्रवाल, मनोविज्ञान, पृ. 173
9. सं. डॉ. नगेंद्र, मानवीकीय परिभाषिक कोश, साहित्य खंड, पृ. 232
10. अज्ञेय, हिंदी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य, पृ. 7
11. डॉ. राजेंद्र प्रसाद, अज्ञेय: कवि और काव्य, पृ. 95
12. डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण, मुक्तिबोध की काव्य सृष्टि, पृ. 38
13. प्रभाकर श्रोत्रिय, कालयात्री है कविता
14. डॉ. रवींद्रनाथ मित्र, अंतिम दशक की हिंदी कविता, पृ. 15
15. वही, पृ. 18
16. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृति हिंदी कोश, पृ. 848
17. वहीं, पृ. 848
18. श्री नवलजी, नालंदा विशाल शब्द सागर, पृ. 1220
19. अरविंद कुमार, समांतर कोश-थिसारस
20. डॉ. शशि शर्मा, प्रगतिशील कविता में लोकतत्व, पृ. 33
21. सं. रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी साहित्य कोश, पृ. 596
22. विद्या निवास मित्र, लोक और लोक का स्वर, पृ. 11
23. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-15, श्लोक 18
24. डॉ वीरेंद्रनाथ द्विवेदी, आधुनिक हिंदी कविता में लोकतत्त्व, पृ. 10
25. महर्षि वेदव्यास, उद्योग पर्व, श्लोक-43, 33, महाभारत
26. वही, पृ. 10
27. लोकोक्ति, महाभारत
28. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृति हिंदी कोश, 386
29. ब्राह्मण, जैमिनीय उपनिषद, पृ. 3/28
30. हिंदी अनुशीलन, त्रैमासिकी, अंक-2, वर्ष-14, अप्रैल-जून 1961
31. सं. श्याम सुंदरदास, कबीर ग्रंथावली, साखी-22/15
32. तुलसीदास, बालकांड, रामचरित मानस, पृ. 34

33. डॉ. सत्येंद्र, लोकसाहित्य विज्ञान, पृ. 3
34. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 7
35. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृ.112
36. पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ. 196
37. डॉ. सत्येंद्र, लोकसाहित्य विज्ञान, पृ. 3
38. डॉ. वीरेंद्रनाथ द्विवेदी, आधुनिक हिंदी कविता में लोकतत्त्व, पृ. 14
39. आलोचना त्रैमासिक, अंक-42, जुलाई-सितंबर, 2011
40. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 31
41. दैनिक जागरण समाचार पत्र, अध्यात्म, धर्म क्या है, मंगलवार, 4 जून 2012
42. डॉ. विमल अग्रवाल, फिलॉसफी, पृ. 19
43. डॉ. जी.के. वार्ष्णेय, भागवद्गीता के अनुमोल मोती, पृ. 97
44. डॉ. नंदकिशोर नवल, हिंदी आलोचना का विकास, पृ. 126
45. डॉ. नामवर सिंह, दूसरी परंपरा की खोज, पृ. 80
46. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 15
47. डॉ. नामवर सिंह, दूसरी परंपरा की खोज, पृ. 79
48. प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत कविता में लोक जीवन, पुरावाक से
49. डॉ. शशि शर्मा, प्रगतिशील कविता में लोकतत्त्व, पृ. 44
50. डॉ. रेखा शर्मा, संस्कृत साहित्य में लोकधर्मी तत्व, पृ. 31
51. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत की लोकधर्मी परंपरा, 15
52. डॉ. रेखा शर्मा, संस्कृत साहित्य में लोकधर्मी तत्व पृ. 59
53. सं. पं. बलदेव उपाध्याय, सूक्ति मञ्जरी, पृ. 68
54. वही, पृ. 71
55. सं. श्रीधरदास त्रिपाठी, सदुक्तिकर्णामृत, पृ. 309
56. डॉ. शशि शर्मा, प्रगतिशील साहित्य में लोकतत्त्व, पृ. 45
57. वही, पृ.46
58. डॉ. रवींद्र भ्रमर, हिंदी भक्ति साहित्य में लोकतत्त्व, पृ. 17
59. राजीव रंजन गिरी, सामंती जमाने में भक्ति आंदोलन : अवसान और अर्थवत्ता, हिंदीसमय.काम
60. सं. रामविलास शर्मा, लोक जागरण और हिंदी साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 124
61. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 16
62. श्रीमद्भागवद्गीता, ऋषि व्यास, अठराहवां अध्याय, श्लोक-46
63. डॉ. गोपीनाथ शर्मा, राजपूतों की उत्पत्ति, www.ignca.nic.in
64. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 22

65. डॉ. परमानंद श्रीवास्तव, सूरदास मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन, पृ. 43
66. केदारनाथ अग्रवाल, मार प्यार की थापें, पृ. 32
67. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते है; पृ. 28
68. डॉ. अशोक त्रिपाठी, कहें केदार खरी खरी की भूमिका, पृ. 9
69. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 31
70. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि-1, पृ. 277
71. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ. 29
72. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 23
73. वही, पृ. 115
74. वही, पृ. 34
75. केदारनाथ अग्रवाल, खुली आंखें खुले डैने, पृ. 34
76. रहीम दास, रहीम के दोहे भाग-1, कविता कोश, अंतरजाल, दोहा सं. 12
77. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ. 67
78. ज्योतिष जोशी, वसुधा पत्रिका, जुलाई-सितंबर, 2012 अंक-4, वर्ष-8
79. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 63
80. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 184
81. केदारनाथ अग्रवाल, वसंत में प्रसन्न हुई पृथ्वी, पृ. 50
82. वही, पृ. 33
83. केदारनाथ अग्रवाल, कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह, पृ. 243
84. प्रगतिशील काव्यधारा और केदाननाथ अग्रवाल, सं. डॉ रामविलास शर्मा, पृ. 45
85. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, पेड़ का हाथ, पृ. 64
86. केदारनाथ अग्रवाल, वसंत में प्रसन्न हुई पृथ्वी, पृ. 89
87. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, पेड़ का हाथ, पृ. 64
88. ज्योतिष जोशी, वसुधा पत्रिका, जुलाई-सितंबर, 2012 अंक-4, वर्ष-8, पृ. 94
89. केदारनाथ अग्रवाल, मार प्यार की थापें, पृ.111
90. वही, पृ. 5
91. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 87
92. ज्योतिष जोशी, वसुधा पत्रिका, जुलाई-सितंबर, 2012 अंक-4, वर्ष-8, पृ. 95
93. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 131
94. वही, पृ. 152
95. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 43
96. केदारनाथ अग्रवाल, वसंत में प्रसन्न हुई पृथ्वी, पृ. 58

97. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 38
98. डॉ. रवींद्रनाथ मिश्र, केदार काव्य की लोकधर्मिता, आलोचना त्रैमासिक, जुलाई-सितंबर 2011, पृ. 66
99. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 59
100. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 73
101. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ. 42
102. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 78
103. आलोचना त्रैमासिक, जुलाई-सितंबर, 2011, पृ. 82
104. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 133
105. केदारनाथ अग्रवाल, वसंत में प्रसन्न हुई धरती, पृ. 105
106. सं. डॉ रामविलास शर्मा, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवल, पृ. 45
107. केदारनाथ अग्रवाल, वसंत में प्रसन्न हुई धरती, पृ. 97
108. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 89
109. आलोचना त्रैमासिक, शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी, जुलाई-सितंबर, 2011, पृ. 115
110. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 7, 8
111. आलोचना त्रैमासिक, शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी, जुलाई-सितंबर, 2011, पृ. 116
112. केदारनाथ अग्रवाल, पंख और पतवार, पृ. 167
113. डॉ. चंद्रबलि सिंह, लोकदृष्टि और हिंदी साहित्य, पृ. 72, 73
114. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 113
115. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 80
116. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 87
117. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, पृ. 85
118. केदारनाथ अग्रवाल, खुली आंखें, खुले डैने, पृ. 97
119. शिवमंगल सिंह 'सुमन', मिट्टी की बारात, पृ. 159
120. केदारनाथ अग्रवाल, बोले बोल अबोल, पृ. 57
121. केदारनाथ अग्रवाल, खुलीं आंखें खुले डैने, पृ. 54
122. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 26
123. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 75
124. केदारनाथ अग्रवाल, पंख और पतवार, पृ. 86
125. डॉ, शशि शर्मा, प्रगतिशील कविता में लोकतत्व, पृ. 171
126. केदारनाथ अग्रवाल, अनहारी हरियाली, पृ. 30
127. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 113, 114
128. केदारनाथ अग्रवाल, अपूर्वा, पृ. 33
129. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 46

130. केदारननाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 119
131. वही, पृ. 63
132. वही, पृ. 148
133. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 47
134. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 66
135. मैथिलीशरण गुप्त, काव्यांचल.कॉम
136. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 63
137. वसुधा पत्रिका, पृ. 70, जनवरी-जून, 1987
138. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 126
139. वही, पृ. 28
140. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 109
141. त्रिलोचन, अरघान, पृ. 35
142. डॉ. मधुछंदा, श्रम का सौंदर्यशास्त्र और केदारनाथ अग्रवाल का काव्य, पृ. 131
143. केदारनाथ अग्रवाल, आग का आइन, पृ. 7
144. वही, पृ. 18, 19
145. वही, पृ. 25

*****

तृतीय अध्याय

केदार के काव्य में अभिव्यक्त प्रकृति की लोकधर्मी संवेदना

प्रकृति की अवधारणा, स्वरूप एवं परंपरा

संसार की उत्पत्ति के मूल में दो मुख्य तत्व हैं- प्रथम प्रकृति और दूसरा जीव। इन्हीं दोनों के मेल से जगत का निर्माण संभव हुआ है। विज्ञान का मानना है कि प्रकृति के कारण ही जीव की उत्पत्ति हुई है। जिससे स्पष्ट होता है कि संसार के उद्भव का मूल तत्व प्रकृति ही है। इस मूल तत्व से जीव, जीवन और नाना प्रकार की वनस्पतियों का जन्म हुआ है। जीव, जीवन और वनस्पतियों के मिलन से यह मनोहर रम्य संसार का अस्तित्व बनता है। इस संसार में प्रकृति और जीव के आनुपातिक आपसी मेल से नाना प्रकार के जीवों, वनस्पतियों और उनके 'लोक' का सृजन एवं विस्तार होता है। प्रकृति और जीव के मेल के खेल में प्रकृति मादा रूप में अपने स्वभाव का चिरंतन निर्वाह करती रही है और जीव 'बीज' के रूप में नए सृजन को जन्म देता रहता है। प्रकृति का स्वभाव स्वतंत्र है, वह स्वयं सृजन करने में सक्षम है और निरंतर सृजन करती रहती है। किंतु जीव के मेल से वह एक ऐसे सचेतन लोक का सृजन करती रही है, जिसमें भाव, भावना और चेतना होती है। इसी भाव, भावना और चेतना से 'लोक' में जीवन संचालन की विविध पद्धतियों का कालांतर में विकास हुआ। यह पद्धति या नियम या स्वभाव संसार की सभी वस्तुओं में उनकी 'प्रकृति' और 'जीव' के गुणधर्म की मात्रा के आनुपातिक होता है। जिसमें 'प्रकृति' गुणों की मात्रा अधिक होती है, वह स्थिर और दीर्घकालिक जीवन यापन करता है जबकि 'जीव' गुणधर्म की अधिकता से युक्त निर्मिति में भाव, भावना और चेतना की अधिक मात्रा पाई जाती है तथा उसका जीवन सापेक्षिक अल्पकालिक होता है। 'प्रकृति' और 'जीव' के जटिल सम्मिश्रण से शक्ति और चेतना उद्भूत हुए हैं। सूर्य, चंद्र, तारें, हवा, पानी, नदी, नाले, समुद्र, पहाड़, वनस्पतियां, जीव-जंतु सभी इस शक्ति और चेतना के जटिल सम्मिश्रण के परिणाम हैं। मानव जाति में इस 'चेतना' का गुणधर्म सापेक्षिक अधिक पाया जाता है। इसी चेतना के परिणाम स्वरूप मानव ने सहयोगी, परिवार, समुदाय, क्षेत्र, भाषा, धर्म, संस्थान, संगठन, देश और राष्ट्र बनाए हैं। इस चेतना के परिणाम स्वरूप दुनिया के प्रत्येक क्षेत्र के लोगों ने, अपने अलग-अलग ज्ञान अनुशासनों का विकास किया है, अलग-अलग कलाओं, खान-पान, रहन-सहन और रीति-रिवाज भी विकसित हुए हैं। 'चेतना' के द्वारा इस प्रकार की संरचना का विकास केवल मानवों में ही संभव हुआ है, जबकि अन्य जीव-जंतुओं में यह 'चेतना' प्रकृत अवस्था तक सीमित है।

मानव के विकासशील इतिहास में द्वंद्वों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रत्येक वस्तु का दो पहलू होता है- अच्छा और खराब। अच्छे पहलू के साथ अधिकांश मानव जाति का समर्थन प्राप्त होता है तथा खराब पहलू को सभी लोग नकारात्मक मानते हैं। इन्हीं आधारों पर समाज के नियम बनते रहे है, शासन और प्रशासन के नियम और तरीके विकसित होते रहे हैं।

एक अलग और सीमित भूभाग में विकसित इन्हीं परंपराओं को संस्कृति कहते हैं। यही संस्कृतियां जब आपस में आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक संबंधों के जटिल सम्मिश्रण से व्यापक पैमाने पर जीवन की दिनचर्या में प्रयोग होने लगती हैं तो सभ्यता बन जाती हैं। इन्हीं संस्कृतियों और सभ्यता के उन्नयन के कारण विविध प्रकार के कलात्मक बोधों का विकास हुआ है जैसे- कविता, कहानी, गीत, संगीत, चित्र कला, नृत्य कला, अभिनय आदि जो साहित्य के क्षेत्र में मनुष्य जाति के भाव-बोधों की अभिव्यक्तियां हैं। जिसके लिखित रूप को साहित्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त धर्म, प्रशासन, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, ज्योतिष, नीति, कुटिनीति, प्रबंध, व्यापार, वाणिज्य, गणित, तथा व्यवहार के क्षेत्र में भी मानव जाति के अनुभवों का विकास हुआ और इसके लिखित रूप भी संरक्षित किए गए। संप्रति यह मानवीय बोध श्रव्य और दृश्य माध्यमों की सामग्री बन सतत पूरे संसार में प्रसारित हो रहा हैं जिससे विश्वबोध की नई सभ्यता का विकसन हो रहा है।

किंतु इस विकास प्रक्रिया में संस्कृतियों और युगबोधों की आपसी टकराहट भी होती है, धर्मो और क्षेत्रों का खूनी संघर्ष भी होता है। जातीय और क्षेत्रीय समूहों में आंतरिक स्तर पर तथा देशों के बीच राष्ट्रीय स्तर पर यह संघर्ष निरंतर चलता जा रहा है। जैसे-जैसे पूरा विश्व एक समूह में परिवर्तित होता जाएगा वैसे-वैसे इस संघर्ष का विकास मानव के विकास से जुड़ जाएगा। मानव के समुचित विकास के लिए अमीर-गरीब, सभ्य-असभ्य तथा पूंजीपति और मजदूर वर्गों में बंटे मनुष्यों में यह संघर्ष मानवता के विकास तक चलता रहेगा। किंतु इस संघर्ष में अमानवीय, अवैज्ञानिक तथा अनुपयोगी तत्वों का निरंतर ह्रास होता रहा है और होता रहेगा। किंतु मानवीय और उपयोगी तत्व सदैव नए भाव-बोध के धरातल पर नव-नवीन सृजन करते रहे हैं और रहेंगे तथा सभ्यता सदैव प्रगतिशील बनी रहेगी। इस विकास में मनुष्य की प्रकृत, प्रकृति की प्रकृत के समान हो जाएगी तथा प्रगति का अवसर निरंतर बना रहेगा। जिस प्रकार पेड़-पौधों में फूल और फल आता जाता रहता है, उसी प्रकार मानव के जीवन की निरंतरता चलती रहेगी। यही कारण है कि मनुष्य अपने भाव-बोधों की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का आदिकाल से सहारा लेता रहा है और उसके हृदय के अंतस्तल भावों की सघन अनुभूति और अभिव्यक्ति प्रकृति के साहचर्य में ही संभव है। प्रकृति के साहचर्य और बोध से ही सत और सच्चे ढंग से भाव-बोध व्यक्त हो पाते हैं। इसलिए प्रकृति चित्रण के सहारे की गई भाव-बोध की अभिव्यक्ति सच्ची और लोक-जीवन से सरोकार सही अर्थों में रखने वाली होती है। चूंकि लोक-जीवन प्रकृति से निकटतम संबंध रखता है अतः प्रकृति के सहारे ही लोक-जीवन की अनुभूतियों और संवेदनाओं का सच्चा चित्रण संभव है। प्रगतिशील कवियों, विशेष कर केदारनाथ अग्रवाल में प्रकृति का चित्रण लोक-जीवन की संवेदना के रंग से भरा है।

कवि केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में प्रकृति चित्रण पर विचार करने से पहले प्रकृति की परिभाषा और काव्य में प्रकृति के माध्यम से भाव-बोधों की परंपरा से परिचित होना

समीचीन लगता है। वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत हिंदी शब्दकोश के अनुसार- "'प्रकृति' शब्द संस्कृत के 'प्र+कृ+क्तिन' शब्दों के योग से बना है। जिसमें 'प्र' उपसर्ग है जिसका अर्थ प्रमुख, अधि, विशेष आदि के अर्थ की ओर संकेत करता है। 'कृ' धातु है जिसका अर्थ 'करना' से होता है। 'क्तिन' कृत प्रत्यय है जो 'कृ' धातु में लगने से 'कृतिः' शब्द उत्पन्न होता है। प्रकृति का अर्थ होता है- किसी वस्तु की नैसर्गिक स्थिति, माया, जड़जगत का स्वाभाविक रूप, मूल या भौतिक स्वरूप"।[1]

नालन्दा विशाल शब्द सागर के अनुसार- "'प्रकृति' का अर्थ- [सं. स्त्री.] वस्तु अथवा व्यक्ति का मूलगुण, स्वभाव, मिज़ाज, वह मूलशक्ति जिसने अनेक रूपात्मक जगत का विकास किया है तथा जिसका रूप दृश्यों में दृष्टिगोचर होता है। जगत् का उपादान कारण। कुदरत। नेचर"।[2]

अंग्रेजी में 'प्रकृति' को 'नेचर' [Nature] कहते हैं, जिसका अर्थ "समग्र दुनिया, विशेष रूप से मानवजाति के आसपास और मानवगतिविधियों से स्वतंत्र रूप में विद्यमान रूपात्मक अस्तित्व से है। [The material world, especially as surrounding humankind and existing independently of human activities.] प्रकृति का विलोम विकृति अर्थात मूल रूप का अनगढ़ स्वरूप है। प्रायः प्रकृति का अर्थ पदार्थ के भौतिक स्वरूप का बोध कराता है"।[3] उक्त 'प्रकृति' के अर्थ बोध के अतिरिक्त, दार्शनिक, धार्मिक चिन्तकों एवं अन्य लोग इसको अलग-अलग अर्थबोध के रूप में ग्रहण करते हैं। वस्तुतः संसार में जितने धर्म हैं उतने ही इसके अलग-अलग अर्थ की सत्ताएं हैं।

'प्रकृति' की परिभाषा करते हुए कवि सच्चिदानंद हीरानंद अज्ञेय 'रूपाम्बरा' की भूमिका में लिखते हैं- "साधारण बोलचाल में प्रकृति मानव का प्रतिपक्ष है, अर्थात मानवेतर ही प्रकृति है- वह संपूर्ण परिवेश जिसमें मानव रहता है, जीता है, भोगता है और संस्कार ग्रहण करता है। और भी स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रकृति मानवेतर का वह अंश हो जाती है जो कि इंद्रियगोचर है- जिसे हम देख, सुन और छू सकते हैं, जिसका गंध पा सकते है और जिसका आस्वादन कर सकते हैं। साहित्य की दृष्टि कहीं भी इस स्थूल परिभाषा का खंडन नहीं करती : किंतु साथ ही कभी अपने को इसी तक सीमित भी नहीं रखती। अथवा यों कहें कि अपनी स्वस्थ अवस्था में साहित्य का प्रकृति-बोध मानवेतर, इंद्रियगोचर, बाह्य परिवेश तक जाकर ही नहीं रूक जाता; क्योंकि साहित्यिक आंदोलनों की अधोगति में विकृति की ऐसी अवस्थाएं आती रही हैं जब उसने बाह्य सौंदर्य के तत्त्वों के परिगणन को ही दृष्टि की इति मान लिया है। यह साहित्य की अंतःशक्ति का ही प्रमाण है कि ऐसी रुग्ण अवस्था से वह फिर अपने को मुक्त कर ले सका है, और न केवल आभ्यंतर की ओर उन्मुख हुआ है बल्कि नई और व्यापकतर संवेदना पा कर उस आभ्यंतर के साथ नया राग-संबंध जोड़ सका है।"[4]

उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि मानव और प्रकृति दो अलग-अलग सत्ताएं होने के बावजूद मानव और प्रकृति में गहरा संबंध है और मानव अपने सुख, दुख, जीवन-यापन, प्रेम, सौंदर्य के लिए प्रकृति पर किसी न किसी रूप में आश्रित है। वैदिक मंत्रों के सृजकों को यदि कवि मान लिया जाय और वेद को आद्य-काव्य माना जाए तो कहा जा सकता है कि प्रकृति के आश्रय से मानव ने अपने भावों की अभिव्यक्ति करना वैदिक काल या उससे पहले से शुरू किया था और यह परंपरा तद्वत सभी काव्य-रचनाओं में पाई जाती। वैदिक कवि प्रकृति का अनुकूलन चाहता था, वह प्रकृति की सत्ता का सम्मान करता और मानता था कि उसकी अनुकूलता सुख और समृद्धि का आधार है। प्राकृतिक शक्तियों को वह देवता मानता था तथा उनकी अनुकूलता के लिए वह प्रार्थना करता था। वैदिक संस्कृत से यह परंपरा आगे बढ़ते हुए लौकिक संस्कृत की काव्य रचनाओं में फूलती-फलती दिखाई देती है।

लौकिक संस्कृति में ही काव्य का वास्तविक विकास हुआ था। संस्कृत काव्य की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले महान कवि हैं- वेदव्यास, वाल्मीकि, भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष, वाणभट्ट तथा कालिदास आदि महाकवियों ने प्रकृति की जो झांकी उपस्थित की है, वह अनुपम, अतुलनीय एवं लौकिक है। आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण को विद्वानों द्वारा प्रथम काव्य माना गया है। काव्य में प्रकृति-वर्णन की प्रवृत्ति आदि रामायण के काल से ही चली आ रही है। रामायण के अनेक स्थलों में वाल्मीकि ने विभिन्न ऋतुओं के मनोहारी दृश्यों व सौंदर्य को कथा के विकास की स्थितियों और पात्रों के मनोभावों के साथ जोड़कर अत्यंत प्रभावी चित्रण किया है। वास्तव में संस्कृत साहित्य की काव्य परंपरा ने प्रकृति का जो वर्णन किया है वह अनुपम, मनमोहक और तृप्तिदायक है। महाभारत में अनेक स्थलों पर प्राकृतिक सौंदर्य की अनुपम छटा देखने को मिलती है। इसी महाकाव्य के आरण्यक पर्व में प्रकृति का वर्णन इस प्रकार है-

"कल-कल के स्वर से निनादित कर बहती नदियां, नदियों में बहता शीतल स्वच्छ जल, जल में तैरते अलौकिक आननंद में डूबे हंस, नदी के पावन तट पर अठखेलियां करते सारस, क्रौंच, कोकिला, मयूर, मस्ती में डोलते मदमस्त गैंड़े, वराह, हाथी, हवा से होड़ लेते मृग, आकाश को छूती पर्वत श्रेणियां, सघन वन, वृक्षों की डालियों पर धमाचौकड़ी मचाते शाखामृग, छिचियाते रंग-विरंगे पंक्षी, जलाशयों में पूरे निखार के साथ खिले कमल दल, कमल के अप्रतिम सौंदर्य पर मंडराते आसक्त भौरों का समूह, तितलियों का फुदकना आदि"[5] संस्कृत काव्य परंपरा में प्रकृति के समावेश का एक नमूना है। श्रीहर्ष की कृति 'नैषधीयचरितम' में प्रकृति के सलोने रूप का वर्णन किया गया है-

महाकवि कालिदास अपने काव्यादर्श के लिए कुछ सीमा तक वाल्मीकि और वेदव्यास के ऋणी रहे हैं। अतः उनकी कृतियों में भी प्रकृति-सौंदर्य के विभिन्न स्वरूपों, उपादानों, छवियों तथा मानव और प्रकृति के आंतरिक संबंधों की भावमयी कल्पनाओं को स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है। कालिदास की प्रथम रचना 'ऋतुसंहार' है जिसमें ग्रीष्म, वर्षा, शरत, हेमंत, शिशिर

ऋतुओं का क्रमशः वर्णन करते हुए अंत वसंत ऋतु से किया गया है। जिसमें सभी ऋतुओं का वर्णन प्रकृति सुषमा और उसमें होने वाले परिवर्तनों के साथ किया गया है, किंतु वसंत का वर्णन प्रकृति के सर्वव्यापी सौंदर्य, माधुर्य और वैभव के साथ संपन्न हुआ है। विषय वस्तु की दृष्टि से विद्वान इसे प्रकृति काव्य कहते हैं। कालिदास की अन्य रचनाओं 'मेघदूत', 'कुमारसंभव' तथा 'रघुवंश' में प्रकृति का उपयोग व्यापक स्तर पर किया गया है।

संस्कृत काव्य में काव्य का आधार 'रस', 'छंद' और अलंकार को माना जाता है। इनके माध्यम से काव्य में 'रस' पैदा किया जाता है तथा 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' कहा जाता है। इसी 'रस' की उत्पत्ति के हेतु प्रकृति का वर्णन- आलंबन, उद्दीपन, उपमान, पृष्ठिभूमि, प्रतीक, अलंकरण, उपदेश, दूती, बिंब-प्रतिबिंब, मानवीकरण, रहस्य तथा मानव भावनाओं का आरोप आदि को धनीभूत अथवा व्यंजित करने के लिए किया गया है।

हिंदी की मध्ययुगीन कविता 'प्रकृति' से अछूती नहीं रही है। उसने कहीं न कहीं मध्ययुगीन कवियों को प्रभावित किया है। प्राकृतिक संरक्षण को प्रदान किया है। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, जायसी तथा बिहारी, घनानंद, देव, सेनापति, रसखान, रहीम आदि कवियों ने 'प्रकृति' के सहयोग बिना जीवन को निराधार माना है। भक्त कवियों और रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति को आलंबन, मानवीकरण, उद्दीपन, प्रतीकात्मक रूप में, बिंब-प्रतिबिंब रूप में, रहस्यमयी तथा दूतिका इत्यादि के रूप में वर्णित किया है। मध्ययुगीन काव्यधारा के भक्त कवि कबीर ने प्राकृतिक बिंबों को अध्यात्मिक बिंब में परिवर्तित करके प्रकृति का सान्निध्य मानव जीवन के साथ स्थापित कर देते हैं। कबीर कहते हैं-

काहें रे नलनी तूं कुभिलानी।
तेरी ही नाल सरोवर पानी।।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास।
ना तलि तपत, न ऊपर आगि, तोर हेतु कहु कासिन लागि।।
कहीं कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मुए हमारे जान।।[6]

यहां 'नलिनी' और 'पानी' दोनों प्रकृति हैं, 'नलिनी' कमल का पौधा और 'पानी' अर्थात जल एक प्राकृतिक जल श्रोत हैं। यहां पर कबीर ने 'नलिनी' को 'जीवात्मा' का प्रतीक माना है जबकि 'पानी' को 'परमात्मा' का प्रतीक माना है। यदि यह मान लिया जाय की वनस्पतियों के बिना मानव जीवन अपूर्ण है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि पानी के संरक्षण किए बिना मानव जीवन का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। कबीर को इतने से ही संतोष नहीं हुआ, वे बारिश को ज्ञान की बरसात कहते है। कबीर के यहां प्रकृति सौंदर्य अथवा उद्दीपन भाव पैदा करने के लिए नहीं प्रयुक्त हुई है बल्कि वह ईश्वर से लोक-जीवन और लोक-संवेदना का स्वतंत्र संबंध स्थापित करती है। सच्चे माने में प्राकृतिक उपादान कबीर के यहां लोकधर्मी संवेदना को व्यंजित करते हैं। इस प्रकार 'प्रकृति' का चित्रण संस्कृत काव्य में देखने को नहीं मिलता है।

भक्तिकालीन कवियों में जायसी का प्रकृति-वर्णन संस्कृत काव्य परंपरा की चौपाटी पर किया गया है। जायसी की रचना 'पदमावत' में 'समुद्र-वर्णन', 'बसंत-वर्णन' तथा 'ऋतु-वर्णन' में 'प्रकृति का विशद उपयोग किया गया है। जायसी के 'प्रकृति-वर्णन' पर टिप्पणी करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि- "हिंदी के कवियों में केवल जायसी ने समुद्र वर्णन किया है, परंतु पुराणों के सात समुद्र के अनुकरण के कारण समुद्र का प्रकृति वर्णन वैसा नहीं हो पाया है।"[7]

भक्तिकाल के दूसरे कवि तुलसीदास है, जिनके यहां प्रकृति प्रयोग की शास्त्रीय परंपरा देखने को मिलती है। वाटिका में 'प्रकृति' के वर्णन का नमूना दृष्टव्य है-

सुमन बाटिका सबहिं लगाई। बिबिध भांति करि जतन बनाई।।

लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंत की नाई।।[8]

यहां पर सभी लोगों ने पुष्पों की वाटिका यत्न करके लगा रखी है, जिनमें विविध जातियों की सुंदर और ललित लताएं सदा वसंत की तरह फूलती रहती हैं। यहां प्रकृति का रूपात्मक वर्णन अभिधा अर्थ में किया गया है। किंतु काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए चौपाई छंद का प्रयोग तुलसीदास द्वारा किया गया है।

सगुण शाखा के कृष्ण भक्त सूरदास के यहां प्रकृत का चित्रण विभाव के रूप में हुआ है जहां प्रकृति उद्दीपन का कार्य करती है, जैसे-

बिनु गोपाल बैरनि भई कुंजै।

तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजै।।

बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलै, अलि गुंजै।

पवन पानि घनसार संजीवनि, दधिसुत किरन भानि भई भूंजै।।

ये उधव, कहियौ माधव सौं, बिरह कदन करि कारत लुंज।

सूरदास प्रभु को माग जोवत, अंखिया भईं बरन ज्यौं गुंजै।।[9]

भक्तिकाल की महिला कवयित्री मीरा हैं, जो श्री कृष्ण को अपने पति के रूप में आराधना करती है, मीरा की विशेषता इस रूप में है कि मध्यकालीन सामंतीय समाज में उन्होंने स्त्रियों की स्वतंत्रता के लिए भक्तिमार्ग को चुना था और सामाजिक बंधनों को चुनौती दी थीं। प्रस्तुत है उनकी रचना की एक बानगी जिसमें प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है-

अंसुवन जल सींचि सींचि, प्रेम बेलि बोई।

अब तो बेलि फैल गई, आणंद फल होई।।[10]

उक्त पद में 'जल', 'बेलि' और 'फल' जैसे प्रकृति के उपादानों का प्रयोग लक्षणा अर्थ में किया गया है।

भक्त कवियों सूरदास, तुलसी, मीरा, रसखान सभी ने प्रकृति के उपादानों का प्रयोग किया है, किंतु सगुण कवि सूरदास और तुलसी के यहां प्रकृति रूप सौंदर्य, आलंबन और

उद्दीपन के लिए किया गया है। मीरांबाई और रसखान के पदों में रूप सौंदर्य, आलंबन, उद्दीपन तथा कहीं-कहीं प्रकृति का प्रतीकात्मक प्रयोग भी हुआ है। कबीरदास भक्तिकाल के ऐसे संत कवि हैं जिन्होंने प्रकृति के अवयवों का प्रयोग प्रतीकात्मक और व्यंग्यात्मक रूप में किया है। ऐसा लगता है कि आधुनिक यूरोपीय साहित्य के सौंदर्य के परिचय से पहले प्रकृति का मानव की संवेदना की अभिव्यंजना के रूप में काव्य में उपयोग करने वाले कवि हैं।

रीतिकालीन कवियों ने अपनी कविता कामनी में प्रकृति लताओं, पुष्पों, वाटिका, नदी, समुद्र, पर्वत मालाओं, रात्रि-दिवस, सूर्य, चंद्रमा, पशु-पक्षियों इत्यादि का वर्णन किया है। ये वर्णन उन्हें अत्यंत प्रिय हैं, क्योंकि बिंब नायक और नायिका के संयोग और वियोग दशा की दृश्यावली प्रस्तुत करते हैं। रीतिकाल के कवियों ने प्रकृति के उपादानों का प्रयोग आलंबन, उद्दीपन और संचारी भावों को प्रकट करने के लिए किया है। जिसमें प्रकृति-चित्रण अधिकांशतः उद्दीपन के रूप में हुआ है। स्वतंत्र और आलंबन रूप में प्रकृति-चित्रण बहुत कम पाया जाता है। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि दरबारी कवि जिसका मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाता को खुश रखना था, वे अपनी कविताओं में नारी के श्लील-अश्लील सौंदर्य तथा चमत्कारी काव्य रचे हैं। उनका ध्यान प्रकृति के स्वतंत्र रूप की ओर कैसे जा सकता था। इसलिए रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में प्रकृति का बिंबग्राही रूप नहीं मिलता है। ये जहां कहीं प्रकृति का वर्णन किए हैं, वहां परंपरागत उद्दीपन पैदा करने के लिए, जिसमें न तो सजीवता और न नवीनता ही है। इस काल में मुक्तक काव्यों की प्रधानता रही है, क्योंकि राजाओं और जमींदारों की काम-क्रीडा और काम-वासनाओं को उत्तेजित करने तथा उनकी थकान दूर करने के लिए मुक्तक काव्य ही उपयुक्त थे। अतः इस काल में कवित्त और सवैया की प्रधानता रही है। कवित्त का प्रयोग वीर और शृंगार रसों के लिए तथा सवैया का प्रयोग शृंगार रस की उत्पत्ति के लिए की गई है।

रीतिकालीन कवि बिहारी ने कृष्ण की अनुपस्थिति में यमुना के पास उपस्थित गोपियों का चित्र खीचा है जो प्राकृतिक उपादानों से आच्छादित है-

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मनु हवै जात अजौं बहै, उहि जमुना के तीर।।[11]

रीतिकाल में स्वच्छंद कविता की परिपाटी रचने वाले कवियों घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर इत्यादि ने भी अपने काव्य में प्रकृति का प्रयोग आलंबन, उद्दीपन पैदा करने के लिए ही किया है। इसलिए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन कवियों के लिए ठीक ही कहा है- "मध्यकाल के स्वच्छंदकर्ताओं की संवेदना केवल प्रेम की संवेदना थी, ये 'प्रेम की पीर' के पंक्षी थे।"[12] विद्वानों का मानना है कि 'सेनापति' के पदों में प्रकृति वर्णन और ऋतु वर्णन में वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है, शेष अन्य उद्दीपन को बढ़ाने वाली वस्तु के रूप में प्रकृति उपादानों का वर्णन किए हैं। अतः कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत काव्य की प्रकृति-वर्णन परंपरा की अनुकृति की है, किंतु उनकी काव्य रचनाएं वास्तविकता तथा संवेदना में

काल्पनिक एवं सतही हैं। इस काल के कवियों में जो प्रकृति का रूप आया है, वह नारी की वासना के प्रति आश्रयदाताओं में उद्दीपन पैदा कर काम-केलि का भाव जगाने के उद्देश्य से हुआ है।

प्रकृति सदैव से काव्य का उपजीव्य रही है। परंतु युग परिवर्तन के साथ 'प्रकृति' और 'काव्य' के संबंधों में भी परिवर्तन हुआ है। शास्त्रीय काव्य की 'प्रकृति-वर्णन' परंपरा, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश से होते हुए आदिकाल के हिंदी काव्य में भी देखी जाती है। किंतु भक्तिकाल में इस परंपरा में रहस्य और प्रतीकों का प्रवेश देखने को मिलता है। विशेषतः संत कवियों के यहां 'प्रकृति' रहस्यात्मक 'प्रतीकों' के रूप में काव्य का अंग बनी है। रीतिकाल की कविता में 'प्रकृति' मात्र 'उद्दीपन' बन कर रह गई है। अतः शास्त्रीय 'प्रकृति-वर्णन' की काव्य-कला मध्यकाल तक कमतर होती गई है। किंतु 'प्रकृति' के उपास्य रुप की संवेदना जो शास्त्रीय काव्यों में मिलती है, वह मध्यकाल में घटकर रहस्य और विपत्ति कारक संवेदना से युक्त हो गई। जिससे 'प्रकृति' का दैवीय रूप घटकर मनुष्य के सहयोगी अथवा प्रतिपक्षी रूप की संवेदना में बदल गया। जहां तक लोक संवेदना की बात है तो शास्त्रीय काव्यों में ग्रामीण जीवन के रूप में लोक-जीवन का अल्पमात्रा में वर्णन जहां तहां मिल जाता है। किंतु भक्तिकाल में लोक संवेदना सभी शाखाओं के कवियों में पाई जाती है, संत कवियों में प्रचुर मात्रा में लोकधर्मी संवेदना का विकास हुआ है। लोकधर्मी संवेदना की व्यंजना के लिए सूरदास, अष्टछाप के कवियों, रसखान आदि ने प्रकृति उपादानों का अपने काव्य में प्रयोग किया है। रीतिकालीन कवियों मुख्यतः बिहारी में लोकधर्मी संवेदना के पुट दिखाई पड़ते हैं।

बीसवीं शताब्दी भारतीय जीवन तथा मूल्य में दोहरा प्रभाव डाला है। एक ओर अंग्रेजो तथा अंग्रेजी के साथ विश्वज्ञान, विज्ञान और तकनीकी ज्ञान का देश में प्रसार हुआ जिससे परंपरागत जीवन-मूल्य प्रभावित हुए और उन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। दूसरी ओर अंग्रेजों ने इस देश का अपने देश तथा देशवासियों के हित में आर्थिक शोषण करना शुरू किया। परिणाम स्वरूप देश के सामाजिक, आर्थिक ढांचे में बदलाव होने लगा, जिसका दूरगामी राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव संप्रति दिखाई पड़ रहा है। हिंदी में आधुनिक युग का प्रारंभ भारतेंदु युग से माना जाता है। भारतेंदु युग के समय हमारा देश भारत अंग्रेजी शासन की गुलामी के अंतर्गत था। उस समय देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए तत्कालीन जनता के मन में देश प्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना जगाना देश-प्रेमियों और कवियों का धर्म बन गया था। जिसके लिए प्रकृति-सौंदर्य से युक्त और मनमोहक हमारे देश का वर्णन किया गया। इन कवियों पर विदेशी साहित्य का प्रभाव पड़ा, जिसमें प्रकृति का चित्रण काव्य में मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यंजना के लिए होता था। अतः भारतेंदु युगीन काव्य में प्रकृति-वर्णन पुनर्जीवित हो रही थी, किंतु उसकी संवेदना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त थी जिसमें रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विरोध सन्निहित था। प्रत्येक युग में काव्य का प्रधान विषय 'प्रकृति' और 'मानव' ही रहे हैं,

अतः इस युग में भी प्रकृति प्रधान काव्यों के निर्माण के लिए कवियों को प्रकृति की ओर आकर्षित होना आवश्यक था। उक्त कारणों से आधुनिक युग में भारतेंदु युग से प्रकृति-संबंधी काव्यों की ओर बढ़ा हुआ आकर्षण, छायावाद से होता हुआ, प्रगतिशील, प्रयोगवाद और सामयिक काव्यों में निरंतर विकसित हो रहा है। 'प्रकृति' और उसके उपादानों का चित्रण उत्तरोत्तर लोकधर्मी संवेदना से युक्त होता जा रहा है।

प्रसिद्धनारायण चौबे का कथन है कि "प्रकृति-प्रेम' और 'प्रकृति-चित्रण' की दृष्टि से हम भारतेंदु युग से हिंदी कविता का एक नवीन पटल उन्मेषित होता हुआ देखते हैं। अबतक की हिंदी कविता शृंगार, वीरता व भक्ति को ही काव्य का विषय बनाती आ रही थी। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से इस युग के कवियों ने स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण का प्रयास किया।"[13] आधुनिक युग के पुनर्जागरण काल में दो मुख्य प्रवृत्तियां साहित्य में विकसित होती दिखाई दे रही थीं। पहली काव्य में प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण और दूसरी राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकृति में आरोपण। श्रीधर पाठक की कविता 'कश्मीर सुषमा' जिसमें राष्ट्रीय भावनाओं को व्यक्त करने के लिए कश्मीर, हिमालय आदि का विशद वर्णन, प्रकृति-वर्णन की स्वतंत्र परिपाटी के अंतर्गत किया गया है-

प्रकृति यहां एकांत बैठि निज रूप संवारति,
पल-पल पलटति भेस छनिक छबि छिन छिन धारति,
विमल-अंबु-सर मुकुरन महं मुख-बिंब निहारति,
अपनी छबि पर मोहि आपही तन-मन वारति।।[14]

आधुनिक काल में छायावादी कविताओं का विस्तृत फलक 'प्रकृति' है। छायवादी काव्य में प्रकृति-चित्रण की अधिकता के कारण कुछ विद्वानों ने इसे 'प्रकृति काव्य' नाम देने का भी प्रयास किया था। प्रकृति सभी छायावादी कवियों की प्रिय विषय रही है, जो उनके साथ उठती, बैठती तथा हंसती, खेलती है। वैज्ञानिक प्रगति ने छायवादी कवियों को प्रकृति के बहुत निकट ला दिया था और स्वतंत्रता आंदोलन ने इन कवियों के अंतःकरण में स्वतंत्रता की तीव्र चेतना पैदा कर दिया था। जिससे वे मुक्त भाव से प्रकृति के सौंदर्य का रसपान करते थे। "छायावादी कविता की प्रकृति स्वतंत्र है, उस पर मनुष्य हावी नहीं है। यह कविता प्रकृति के सजीव एवं सुंदर चित्रों की एक गैलरी है। छायावादी कवियों ने प्रकृति को अनेक प्रकार से देखा और उसकी छवियों का अंकन किया है। प्रकृति उनकी चेतना का अंग है। वह उनके बाहर बाहर भी है और भीतर भी। वह उनके लिए साध्य भी है और साधन भी।"[15] दृष्टांत स्वरूप जयशंकर प्रसाद की 'बीती विभावरी जाग री' कविता प्रस्तुत है-

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही
तार-घट उषा नागरी!

खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई-
मधु मुकुल नवल रस गागरी
अधरों में राग अमंद पिए
अलको में मलयद बंद किए
तू अब तक सोई है आली
आंखों में भरे विहाग री![16]

जयशंकर प्रसाद की इस कविता में जो उषा का सुंदर गतिशील बिंब खींचा गया है, वह कोमल, चंचल, आशा भरा, निर्मल और स्वच्छंद चित्र है, जिसमें यौवन का सुनहरा सपना मुस्करा रहा है। इस सौंदर्य में जो काम्यपन है, वह मधुमय है। स्वर्गीय आनंद की यह प्रकृति की कविता स्वतंत्र और अभिलाषा है। ऐसी सूक्ष्म और कमनीय भावों को व्यंजित करने वाली कविताएं छायावाद की विशेषता है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'संध्या सुंदरी' कविता प्रकृति का विकासशील बिंब है, यहां 'संध्या सुंदरी' का विकसन उन दुखों और अवसादों में जीने की शक्ति का अपराजेय कामना का चित्र है, जिसके बल पर मानव अपने अंतिम सांस तक स्वप्नों को साकार करता रहता है-

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से
उतर रही
वह संध्या सुंदरी परी-सी धीरे-धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कोई आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किंतु कंभीर- नहीं है उसमें हास-विलास।[17]

सौंदर्य का यह अनुपम चित्र, प्रकृति सौंदर्य के साथ उस युवती नारी की छबि को भी प्रकट करता है जिसके जीवन से हास छिन गया है, पूरा मधुर जीवन बीतराग बन गया हो।

छायवादी कवि और प्रकृति सुकुमार कवि सुमित्रा नंदन 'पंत' की कविताओं में प्रकृति का मंजुल रूप उनका प्रतिनिधि तत्व है। उनका प्रकृति प्रेम इतना गहरा है कि वे 'द्रुमों की छाया के लिए बाला के समर्पण को ठुकरा रहे हैं-

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन?
भूल अभी से इस जग को![18]

छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा का अपना अलग महत्व है, जहां प्रसाद, निराला और पंत ने प्रकृति को पुरुष की दृष्टि से देखकर अपनी सूक्ष्म प्राकृतिक अभिव्यंजना से छायावाद को सिंचित किया है, वहीं महादेवी में नारी बोध और वेदना के साथ प्रकृति अपनी पूरी स्वच्छंद छायावादी व्यंजना से अभिषिक्त हुई है। 'निहारिका' महादेवी की प्रथम काव्य रचना है, उसकी प्रथम कविता से ही महादेवी के अलौकिक प्रणयानुभूति का संज्ञान होने लगता है-

निशा को धो देता राकेश
चांदनी में जब अलकें खोल,
कली से कहता था मधुमास
बता दो लघु मदिरा का मोल।
झटक जाता था पागल वात
धूल में तुहिन कणों के हार,
सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आए थे इस पार।[19]

उक्त कविता में वसंत ऋतु की चांदनी रात का चित्र है। जब चंद्रमा ने निशा के केश (अंधकार) को चांदनी से धो दिया, चांदनी फैल गई, वसंत (प्रेम भावना) कलियों में मधु-मदिरा का उन्माद भर रहा था। उसी समय (वसंत की चांदनी रात में) जीवन का संगीत (प्रेम) सिखाने वह प्रिय (परम चेतन) इस पार आया। इस मधुरगीत में प्रेमानुभूति का आभास स्पष्ट है। प्राकृतिक सुषमा-दर्शन और प्रकृति की समस्त माधुर्य उपादानों में परस्पर प्रणय व्यापारों की प्रत्यानुभूति से कवयित्री के हृदय में प्रेम-संवेदना की अनुभूति हुई, जिसका उदात्त संकेत उक्त गीत में उपस्थित हुआ है।

अतः कहा जा सकता है कि छायावाद ने तर्क, वैज्ञानिकता, इच्छा, संवेदना और तन-मन की स्वेच्छा की स्वतंत्रता के पक्ष में, धारणाओं, विश्वासों, संस्कारी जकड़न एवं मानवता विरोधी परंपराओं के सापेक्ष में विद्रोह किया है। इस विद्रोह की अभिव्यक्ति का माध्यम मुख्यतः प्रकृति को बनाया गया है। छायावाद में कवि प्रकृति में चेतना का आरोप करता है, तो प्रकृति उसे सप्राण लगने लगती है। वह प्रकृति पर मुग्ध होता है, क्योंकि प्रकृति उसकी इच्छा के अनुकूल व्यापारों में उसके साथ खड़ी रहती है। छायावाद में मानव-जीवन की समस्त भावनाओं और अनुभूतियों को प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। छायावादी कवियों में प्रधान रूप से महादेवी वर्मा में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से देखी जा सकती है, जैसे उनकी कविता 'मैं बनी मधुमास आली' आदि। छायावादी कवियों में प्रेम-भावना की अलौकिकता का स्वरूप भी देखने को मिलता है। वे अपने प्रेम को उस स्थान पर बताती है, जहां प्रेमी और प्रेयसी में कोई अंतर नहीं होता, जैसे- 'तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या?' छायावाद में रहस्यमयी कविताएं भी पाई जाती हैं। रहस्यवाद के अंतर्गत प्रेम के कई स्तर होते हैं जैसे- अलौकिक सत्ता के प्रति

आकर्षण, समर्पण, विरहानुभूति और मिलन का मधुरानंद। जहां रहस्यवाद में आलंबन अमूर्त निराकार ब्रह्म है, जो सर्व व्यापक है, वहां छायावाद का विषय लौकिक जगत से होता है।

छायावाद की मूल संवेदना निर्मला जैन के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है- "हिंदी का छायावाद अन्य रोमांटिक आंदोलनों के समान प्रकृति की आदिम गोद में लौटने के लिए उन्मुख नहीं बल्कि मानव जीवन को प्रकृति के सौंदर्य से मंडित करने की मानवीय आकांक्षा है।"[20] कुल मिलाकर हिंदी साहित्य के आधुनिक जागरण युग में जो स्थूल प्रकृति-वर्णन की प्रवृत्ति चल पड़ी थी, वह छायावाद में सूक्ष्म और मानवीय बोधों से युक्त हुई है। छायावाद में प्रकृति-चित्रण व्यक्तिवादी संवेदनाओं से आप्लावित है। धीरे-धीरे यह प्रकृति-चित्रण की प्रवृत्ति लोकधर्मी संवेदनाओं के मार्ग पर अग्रसर दिखाई देती है।

प्रगतिशील कविता में प्रकृति चित्रण

साहित्य में लोक जीवन की दशा की अभिव्यक्त प्रगतिशील साहित्य से पहले लोक-चेतना के स्तर पर कम देखने को मिलती है। यद्यपि लोक-जीवन और सामाजिक-जीवन मानव जीवन का एक अभिन्न अंग है, इसलिए वह साहित्य की रचना में जीवन के अन्य अंगों के समान संलिप्त रहा है। जिसके कारण प्रत्येक युग की साहित्यिक रचनाओं में लोक-जीवन की बोली-भाषा, गीत-संगीत, नाच-नृत्य का उल्लेख प्रसंगवश आया हुआ है। किंतु साहित्य की मूल चेतना कभी भी लोक-जीवन की वास्तविक स्थिति और उसमें सुधार करने की चेतना से युक्त नहीं दिखाई पड़ती है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के साथ लोकतंत्र की भावना और समता मूलक समाज की चेतना का भी विकास हुआ। भारतीय साहित्य में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा से यह सोच पैदा हुई कि सभी मनुष्य सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से समान हैं और सबका समान रूप से विकास होना चाहिए। पश्चिम की यह विचार धारा मानवता की दृष्टि से दुनिया के लिए बहुत बड़ी देन है।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता की चेतना ने भारतीय शिक्षित वर्ग के एक बड़े तबके को लोक-विकास की भावनाओं से उत्प्रेरित किया और वह तबका वैचारिक रूप से समरस लोक-जीवन के प्रति आस्थावान हुआ। हिंदी साहित्य में यह चेतना भारतेंदु युग से प्रारंभ हुई और एक धारा के रूप में छायावादोत्तर काल तक निरंतर चलती रही है। यद्यपि यह लोकोन्मुखी भाव धारा काव्य की प्रमुख संवेदना, प्रगतिशील काव्य से पहले कभी नहीं बनी। काव्य में लोक-जीवन और लोकधर्मी संवेदना में अंतर यह है कि लोक-जीवन मानव जीवन का अंग होने कारण काव्य विषय का अनुषंगी स्वतः ही बनता रहा है, किंतु लोकधर्मी संवेदना से तात्पर्य लोक-चेतना से है। जिसमें लोक-जीवन काव्य का मुख्य विषय बनता है और यह काव्य लोक-संवेदनाओं का प्रतिनिधित्व

करता है। लोक-संवेदना, लोक-चेतना के विकास में लोक-जीवन का विकास निहित है। साहित्य और समाज के नेतृत्व की चेतना, लोकधर्मी संवेदना से युक्त होने पर ही यथार्थ रूप में मध्यम वर्ग का विकास होगा। यह लोकधर्मी संवेदना की धारा प्रयोगवाद से आगे बढ़ती हुई सामयिक काव्य में पाई जाती है और इसकी निरंतरता भविष्य में भी बनी रहेगी। यद्यपि इसकी धार और फलक में युग बोध के अनुसार परिवर्तन संभव है।

छायावाद ने वैयक्तिक अनुभूति के अंतर्गत ही सही किंतु मध्ययुग की सांस्कृतिक रूढ़ियों का खंडन करके एक व्यापक मानवतावादी भावना को जन्म दिया था। किंतु यह भावना धीरे-धीरे व्यक्ति केंद्रित और अहं केंद्रित बनती चली गई। जिसमें निराशा पराजय आदि प्रवृत्तियां धनीभूत हो गईं। जिसके विरोध में मानव मुक्ति की प्रेरणा घनीभूत होकर लोक मुक्ति की ओर अग्रसर हुई जिसे प्रगतिशील काव्यधारा के नाम से जाना जाता है। वास्तव में छायावाद की कल्पित जगत, कल्पनाशीलता, अतींद्रियता, सूक्ष्मता और रहस्यमयता जैसी कमजोरियों के स्थान पर प्रगतिशील काव्य में लोकधर्मी संवेदना, लोक-जीवन, स्थूल व बाह्य सौंदर्य, यथार्थ, संघर्षशीलता आदि को प्रमुखता मिली। प्रगतिशील कविता में भी मनुष्य प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रकृति के प्रति प्रगतिशील कवियों का दृष्टिकोण छायावादियों से भिन्न है। जहां छायावादी कविता में प्रकृति की अभिनव सुषमा मिलती है, वहीं प्रगतिशील कवि प्रकृति की रमणीयता पर मुग्ध नहीं होते हैं। क्योंकि प्रकृति को वे मानव की सहचरी मानते है। उसमें मानव के सुख-दुख की अनुभूति करते हैं। छायावादियों की तरह प्रकृति उनके लिए रहस्य और विस्मय वस्तु न रह कर, आत्मीय और प्रीतिकर बन गई है। प्रगतिशील कवि कहीं न कहीं मॉर्क्सीय दृष्टिकोण को संगत तथा व्यापक लोकमंगल की भावना के लिए आवश्यक एवं औचित्यपूर्ण मानते हैं। जिससे उनका प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण छायावादी दृष्टिकोण से अलग है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रगतिशील काव्य में प्रकृति के नए-अनखे रूप साकार हो उठे हैं। इन कवियों को प्रकृति की अपेक्षा जीवन से अधिक अनुराग है। अतः प्रकृति इनके यहां जीवन को व्यक्त करने के संदर्भ में प्रस्तुत हुई है। इन्होंने जीवन से अलग करके प्रकृति को नहीं देखा है। ये प्राचीन आदर्शवादी विचारों को छोड़कर, उसमें नए भौतिवादी विचारों को आलंबन रूप में स्थापित किया है। प्रगतिवादी कवियों ने प्रकृति में छायावादियों की तरह अनंत रूपराशि एवं विराट चेतना के दर्शन नहीं किए है, बल्कि उसे प्रकृति दर्शन में मानव-जीवन की सुंदरता के दर्शन होते हैं, जिसके प्रति उसे विशेष लगाव है। पारंपरिक दृष्टिकोण में अंतर होने के कारण प्रकृति के नए बोध तथा नए रूप साकार हो उठे हैं, जिसमें लोक-जीवन से उसे विशेष अनुरक्ति है। अतः उसने प्रकृति का गान जीवन के संदर्भ में इस प्रकार किया है-

बच जाय फसल ये ओलों से
अच्छे दाम बिक जाय
कुछ घर में भी आ जाय

अब की जेठ

इसी सरसों से,

बिटिया के हाथ पीले कराना है।[21]

प्रगतिशील काव्य में मानव से हटकर प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण बहुत कम मिलता है। वास्तव में प्रगतिशील कविता की केंद्रीय संवेदना मानव की मुक्ति और उसकी समृद्धि है। मानव अनादि काल से प्रकृति के साहचर्य में रह कर, प्रकृति से लेता और देता रहा है। वह प्रकृति से भौतिक वस्तुओं के अतिरिक्त भोजन, पानी, हवा, सुगंध, कोमलता, हरियाली, शांति तथा सुंदरता लेता रहा है। प्रकृति हर पल मानव के तन, मन और भाव को तृप्ति करने की अक्षय श्रोत रही है। मानव भी प्रकृति का संरक्षण और समृद्धि के लिए सदैव प्रयास करता रहा है। अतः प्रकृति और मानव का जीवन अलग नहीं है बल्कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए प्रगतिशील कविता में प्रकृति मनुष्य के साथ हंसती, गाती और रोती हुई चलती है। अतः यहां प्रकृति उद्दीपन, आलंबन, उपमान और मानवीकरण के स्वरूप में दिखाई पड़ती है। प्रगतिशील कविता में चित्रित लोक जीवन में प्रकृति के बारे में डॉ. रामदरश मिश्र का कथन है कि "प्रगतिशील ने प्रकृति के क्षेत्र में बिखरे असीम जीवन उत्साह को देखा है। प्रकृति का एकांत रूप नहीं, जनसंकुल जीवन का रूप उसे पसंद आया। गांव, खेत-खलिहान, विविध मौसम, नदी-नाव, आसपास के परिचित पेड़-पौधे, प्रगतिशील काव्य के उपकरण हुए हैं। प्रगतिशील कवि दूर की किसी काल्पनिक वन्य छवि में नहीं भटकता, वह अपने गांव या नगर के बीच और आस-पास फैले हुए जाने-पहचाने प्राकृतिक सौंदर्य और उसके माध्यम से सामाजिक जीवन के हर्ष-विषाद को चित्रित करता है"।[22]

अतः प्रगतिशीलता की उक्त परिभाषा के दृष्टिकोण से प्रगतिशील कवि- केदारनाथ अग्रवाल, बाबा नागार्जुन और त्रिलोचन शास्त्री की काव्य संवेदनाएं, प्रमुख रूप से लोकधर्मी संवेदना से युक्त है। इसलिए यहां पर प्रमुख रूप से इन्हीं कवियों के काव्य में प्रकृति-चित्रण की सृष्टि ही विवेच्य होगी।

लोक-जीवन में प्रकृति और मानव दोनों सहचर हैं। इसलिए प्रगतिशील कविता में भी वे एक दूसरे में अनुस्यूत हैं। इन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। प्रगतिशील कविता में प्रकृति सामान्य और सहज है। प्रकृति का यह सहज रूप त्रिलोचन के काव्य में देखने को मिलता है। जिस प्रकार वे सहज जीवन बोध के कवि हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी उनकी कविता में सहज बोध को व्यक्त करती है। इस बारे में शमशेर सिंह का कथन बहुत संगत लगता है कि "तुमने धरती का पद्य पढ़ा है, उसकी सहजता प्राण है।"[23] त्रिलोचन शास्त्री प्रकृति पर रहस्यात्मक आवरण नहीं डालते, बल्कि जिस रूप में प्रकृति होती है, उसी रूप में उसका चित्रण करते हैं। यहां महुए का सहज स्वाभाविक चित्रण दर्शनीय है-

महुए के दल निकले

लाल लाल लाल लाल
कोमल कोमल
रोमल रोमल
नील नभ उद्भासित हो उठा
इस लाल सोते के अजस्र आवेग से।[24]

प्रकृति के इस सहज रूप चित्रण का कारण है, "प्रकृति उनके मन में बाह्य वास्तविकता के रूप में है, मन के इमेज के रूप में नहीं। वह उस वास्तविकता के चित्रात्मक रूप पर मुग्ध हैं परंतु उसका अन्तर्मुख चित्रात्मक अंकन नहीं करता, उसे देखकर अपने मन में उमड़े भावों को प्रधानता देता है।"[25] दूसरी इस कविता की विशेषता इसका लाल रंग है जो मॉर्क्सवादी विचार को समेटे हुए है, 'लाल' शब्द की आवृति विसंगतियों, शोषण आदि के विरोध में लोक-जीवन के क्रोध का प्रतीक है और स्निग्ध सहज परिवर्तन की अभिलाषा की ओर संकेत है।

हिंदी कविता में बादल पर सर्वाधिक कविताएं निराला के बाद नागार्जुन ने लिखा है। उनके यहां मेघराज, काली-काली घटाएं, शिशु घन कुरंग, मेघकुल की पुत्रियां, जयति जयति बरसात, हेमंती बादल, मेघ आए, कजरारे आदि कविताओं में बादल अपने पूरे सौंदर्य तथा विविध रूपायामों सहित चित्रित हुआ है। उनकी कविता में बादल के साथ मौसमी बदलियां भी विराजमान होती हैं। बाबा नागार्जुन ने 'बादल को घिरते देखा है' कविता में पर्वतशीर्ष प्रदेश हिमालय पर वर्षा ऋतु में उमड़ते-घुमड़ते बादलों के विविध बिंब निरूपित किए हैं। वास्तव में हिमालय सृष्टि के उद्गम से ही जीवन और प्रकृति का श्रोत रहा है। कालिदास ने भी 'कुमार संभव' में हिमालय की गरिमा और भव्यता का दर्शन कराया है। प्रसाद की 'कामायनी' में हिमालय में जीवन के सौंदर्य की दृष्टि जयशंकर प्रसाद ने की है। नागार्जुन का भी हिमालय और उसके शिखरों से विशेष मोह रहा है। किंतु यह मोह परंपरा का अंधानुकरण केवल नहीं है, बल्कि कवि अपनी विशिष्ट सृजन शक्ति से उसे प्रगतिशील रूप प्रदान करता है।

प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग कर हिंदी साहित्य की रचना प्रारंभ से की जाती रही है। किंतु कवि की कविता 'बादल को घिरते देखा है' की महत्ता इसलिए है कि नागार्जुन स्वयं अपनी आंखों से इसे उसी हिमालय पर घिरते देखे हैं। इस प्रकार कवि, कबीर के समान सुनी-सुनाई बातों अथवा कागद की लेखी के आधार पर अपनी बात नहीं कहता बल्कि 'आंखन देखी' कहता है। "लेकिन इस 'देखा है' में मात्र देखना भर नहीं है। इसमें देखना, सुनना, सूंघना, चखना और महसूस करना, मतलब हर इंद्रिय की सक्रिय उपस्थिति है।"[26] अतः अनुभूति की यह निजता जो वास्तविक है, इसे प्रगतिशील कविता बनाती है।

दूसरी तरफ कवि परंपरा से प्रयुक्त होने वाले प्राकृतिक उपादानों का सौंदर्यवादी दृष्टिकोण से प्रयोग नहीं करता। जिस प्रकार का प्रयोग रीतिकालीन कवियों और पंत की प्रारंभिक रचनाओं में पाया जाता है। किंतु इसे नव सृजन भी नहीं कहा जा सकता, इस प्रकार की रचनाओं को

अनुकृति कहना अधिक उपयुक्त होगा। फिर भी कवि कोरी कल्पित कल्पना अल्कापुरी, कुबेर को निरस्त कर वह बादल को लोक-जीवन से जोड़ता है। इसलिए अल्कापुरी महल और कुबेर के स्थान पर रक्त-श्वेत निर्मित पर्णकुटीरों में बैठे पर्वतीय युवक-युवतियों एवं उनकी ग्रामीण वेश-भूषा का चित्रण कर कवि अपनी सौंदर्य दृष्टि को लोक-जीवन से जोड़ता है। 'शोणित' रंग लोकवादी दिशा की परिचायक है-

शोणित-धवल-भोजपत्रों से
छाई हुई कुटी के भीतर
रंग-बिरंगे और सुगंधित
फूलों से कुंतल को साजे,
इंद्रनील की माला डाले
शंख-सरीखे सुघड़ गलों में
कानों में कुवलय लटकाएं
शतदल लाल कमल वेणी में...
मृगछालों पर पल्थी मारे
मदिरारूण आंखों वाले उन
उन्मद किन्नर-किन्नरियों की
मृदुल मनोरम अंगुलियों को
वंशी पर फिरते देखा है,
अमल धवलगिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है।[27]

कविता में प्रकृति-वर्णन की शैली में प्रकृति के शोणित-धवल सौंदर्य के साथ लोक-जीवन और लोक-वेश को प्रस्तुत कर कवि लोक-मानस से जुड़ता और लोक-दृश्य का निर्माण करता है।

प्रगतिशील कवियों की विशेषता है कि वे साधारण और तुच्छ मानी जानी वाली वस्तुओं में सौंदर्य देख पाते हैं और उसे जीवन से सीधे जोड़ देते हैं। गांव के जीवन की सुबह की घड़ी मूर्गे होते हैं, जब वे बांग देते हैं तो लोगों को पता चलता है कि सुबह हो गई है, अब उठना है, दिन भर चलते रहने के निमित्त-

कुकुडूं कु.....
उठो, जल्दी उठो
महुए बीन लो।[28]

उक्त कविता में नए सबेरे की आशा और तैयारी का जो सुंदर और यथार्थ बिंब उभर रहा है, वह काव्य में दुर्लभ प्रकृति-चित्रण है। सुबह उठने की जल्दी और काम पर जाना है,

वर्ना महुआ दूसरे बिन ले जाएंगे। महुआ भोर में ही चूता है। लोक-जीवन की जो तल्लीनता और कर्म-प्रधानता यहां दिखाई दे रही है वह अनुपमेय है। प्रातः की ताजी हवा और मोहक वातावरण साथ में उषा और सूर्योदय का सुनहरा दृश्य मानस में उतर जाते हैं।

यह छोटी सी कविता बड़ी सहजता से जीवन के उमंगों का सजीवपन बिखेर देती है। इसी तरह प्रगतिशील व्यवस्था में जीवन की अरघान जन-मन में फैली रहती है।

वास्तव में प्रगतिशील कविता वस्तु जगत की कविता है। दृश्य जगत से परे न तो किसी सत्ता पर प्रगतिशील कवियों का विश्वास है और न ही इन्होंने किसी ऐसे अनुभव को चित्रित किया है, जो इंद्रिय संवेद्य न हो। इस प्रकार प्रगतिशील कविता लोक-जीवन की संवेदनाओं की कविता है, जिसमें प्रकृति चित्र भी लोक-जीवन को महकाने के लिए उतरती है। प्रकृति कई बार मनुष्य जीवन के यथार्थ सत्य का बोध कराने के लिए इनकी कविताओं में प्रकट हुई है। अपने हर रूप में प्रकृति मनुष्य-जीवन को उत्साह और स्फूर्ति प्रदान करती हुई प्रतीत होती है। प्रकृति के जड़ रूपों में इन कवियों ने जीवन का संगीत सुना। वस्तुतः प्रकृति इन कवियों के लिए जड़ पदार्थ न होकर संवेद्य और चेतन है। इन कविताओं में प्रकृति का मानवीय रूप ही दिखाई पड़ा है। अतः प्रगतिशील कविता में प्रकृति मानव की सहचरी के रूप में चित्रित हुई है।

केदार का काव्य : प्रकृति चित्रण में लोकधर्मी संवेदना

प्रगतिशील कवियों की त्रयी में केदारनाथ अग्रवाल सबसे प्रमुख हस्ताक्षर हैं, इनके काव्य में लोक-जीवन की संवेदना प्रकृति, प्रेम और सामाजिक यथार्थ के रूप में व्यक्त हुई है। उनकी कविताओं में मानव और प्रकृति के सौंदर्य का सहज, वेगवान और उन्मुक्त रूप मिलता है। इनकी प्रारंभिक रचनाओं में छायावाद का प्रभाव है, किंतु आगे चलकर कवि की रचनाएं कथ्य, शैली और शिल्प तीनों दृष्टियों से विशुद्ध प्रगतिशील कविता के रूप में प्रकट हुई हैं। इनके काव्य की संवेदनात्मक बुनावट की धरती, लोक-जीवन का यथार्थ प्रकटीकरण है। जिसमें श्रम, प्रकृति और नारी के संबंधों के मंजुल योग की काव्य-गाथा गाई गई है। गोविंद प्रसाद का कथन है कि "केदारनाथ अग्रवाल की कविता का स्थायी भाव प्रकृति है; उसमें भी प्रकृति का लोक रूप उन्हें सहज ही आकृष्ट करता है। परिणाम स्वरूप कभी नारी और प्रकृति का योग चेतन को स्फुरित करता है तो कभी मजदूर किसान का श्रम-संघर्ष। और कभी प्रकृति का ताना-बाना कवि के संवेदन को काव्य संस्कार देता चलता है। कवि केदार की अधिकांश कविताएं इसी पैटर्न पर चलती हैं। अपवाद के रूप में कुछ कविताएं विशुद्ध प्रकृति पर भी मिल जाएंगी।"[29] शमशेर बहादुर और अज्ञेय के काव्य में प्रकृति के स्वायत्त चित्रण अधिक मात्रा में मिलते हैं, ऐसी

रचनाओं में वे सामाजिक संवेदना की अनदेखी करते हुए दिखाई पड़ते हैं। जबकि केदार का काव्य प्रकृति में लोकधर्मी संवेदना का पक्ष कभी नहीं छोड़ता। इसी धरातल पर कवि केदार की संवेदना उन कवियों से विशिष्ट हो जाती है। अन्य प्रगतिशील कवियों के यहां प्रकृति की तद्वत्ता मिलती है जबकि केदार के काव्य में प्रकृति का जन-जीवन के बुनियादी सवालों से सरोकार है।

सौंदर्य शास्त्री चीर्नीशेवस्की का सुंदरता के बारे में मानना है कि "सुंदर हम उस वस्तु को कहेंगे, जिसमें हम जीवन का वांछनीय रूप देखते हैं। वही वस्तु सुंदर है, जो जीवन की अभिव्यक्ति करती है, या हमें उसकी याद दिलाती है।"[30] इससे स्पष्ट है कि अपने पूर्णतम और संवेदनशील रूप में जीवन ही सुंदर है। केदार स्वभावतः इसी वांछनीय जीवन से अपना गहरा लगाव मृत्युपर्यंत तक लगाए रखते हैं। प्रकृति और मनुष्य में जो कुछ भी उनके जीवन से मेल करता है, वहीं उनके काव्य में चित्रित हुआ प्रतीत होता है।

जीवन के बारे में केदार की मान्यता बहुत स्पष्ट थी, 'हे मेरी तुम' की भूमिका में वे लिखते हैं- "जीवन जीना एक उदात्त कला है। जो यह कला नहीं सीखता, जीवन नहीं जीता- जीवन से छीजता चला जाता है और अंत में अपने में ही विलीन होकर सबके लिए खो जाता है। द्वंद्व में पड़ा आदमी ही निखरता है और निखार से संसार का संवार करता है।"[31]

केदार वास्तव में आजीवन अपने तन-मन-धन से इसी संसार का संवार करते रहे। इस संवार के लिए सबसे ज्यादा हकदार किसान, मजदूर और गांव के लोग हैं जिनका जीवन अपरिष्कृत और अनगढ़ है। इसलिए सच्चे माने में केदार लोकधर्मी संवेदना के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। अतः वे कह उठते हैं-

छोटे हाथ
सबेरा होते
लाल कमल से खिल उठते हैं।
करनी करने को उत्सुक हो,
धूप हवा में हिल उठते हैं।

* * *

छोटे हाथ
परिश्रम करते
ईंटों पर ईंटें धरते हैं।
मधुमक्खी से तन्मय होकर,
मधुकोषों से घर रचते हैं।।
हर घर में आशा रहती है,
आशा के बच्चे पलते हैं।[32]

उक्त कविता अपने आप में केदार के काव्य-दर्शन को परिपूर्ण रूप से व्यक्त करने में सक्षम है। उन्होंने अपने जीवन, साहित्य, काव्य, कथ्य, भाषा और कर्म से वंचित जीवन में 'आशा के बच्चे पाले हैं', केदार जीवन की आस्था के कवि है। यही आस्था उनके काव्य की प्रकृति-चित्रण में सुखमय श्रम के जीवन को निखारती है।

सौंदर्य का क्षेत्र मुख्यतः प्राकृतिक उपादानों से बना होता है, प्रकृति और मनुष्य का नाता बहुत पुराना है। मनुष्य के इंद्रियबोध का विकास प्रकृति के घात-प्रतिघात का परिणाम है। इंद्रियबोध का धरातल सौंदर्य का प्रारंभिक और विस्तृत धरातल है, जहां से व्यक्ति के मन में सुंदर और कुरूप की भावना जन्म लेती है। इंद्रियों को सुख देने वाली चीजें अच्छी तथा इंद्रियों को पीड़ा, कष्ट देने वाली चीजें खराब हो जाती हैं। वास्तव में कभी-कभी वे ऐसी होती नहीं हैं। इसलिए प्रगतिशील कवि प्रकृति को सहज, स्वाभाविक रूप में ग्रहण करता है और प्राकृतिक दृश्यों के प्रति उसका अनुराग काव्य में फूट पड़ता है। जीवन में प्रकृति का साहचर्य पाकर, मिट्टी का गौरव गाते हुए अनंत सुखों की अनुभूति करता प्रगतिशील कवि कभी तृप्त नहीं होता। प्रकृति उसके लिए छायावाद की तरह विषय और रहस्य की वस्तु नहीं है, उसे तो उसके घरों से खेतों तक प्रकृति का उसके संघर्षमय जीवन में निकट का साथ मिलता है। "भौतिक दर्शन मनुष्य को श्रेष्ठ मानते हुए भी, प्राकृतिक स्रोतों का जीवन में उपयोग करके जीवन को एक नई सामाजिक संस्कृति प्रदान करना चाहता है। भौतिक जीवन की समृद्धि ही यहां लक्ष्य है। हिंदी साहित्य के विकास में हम प्रकृति को विभिन्न रूपों में चित्रित पाते हैं। छायावादी काव्यधारा तक प्रकृति एक जीवित व्यक्तित्व के रूप में चित्रित हुई है; उसके रहस्यों का भावात्मक संबंध जीवन से स्थापित हुआ है। प्रगतिवादी कवि भौतिक जीवन के संघर्षशील यथार्थ के संबंध में ही प्रकृति से एकात्मता स्थापित करता है।"[33]

केदार सहृदय संवेद्य भावबोध के कवि हैं, प्रकृति उनकी कविताओं में पूर्ण सौष्ठव और निखार पाकर गौरवान्वित हुई है। प्रकृति चित्रण में केदार प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के समकक्ष ही ठहरते हैं। प्रकृति के सूक्ष्म मानसिक सौंदर्य के स्थान पर केदार उसे व्यावहारिक चित्रांकन कर जीवन के स्वभाव से जोड़ देते हैं। अतः छायावाद की प्रकृति का चित्रांकन इंद्रिय अनुभूति से उत्पन्न न होकर काल्पनिकता की चादर ओढ़े है, जबकि केदार काव्य में प्रकृति जीवन संघर्षों में सारथी बन कर उभरी है, साथी की तरह अपने ज्ञान और अनुभव से प्रेरणा भी देती है। केदार के जीवन के उत्तरायण की कविता 'आदि काल से पल्थी मारे' भव का बंधन छूटने का अभी भी प्रतीक्षा कर रही है। क्या उसकी प्रतीक्षा समाप्त होगी? यही प्रकृति की मनुष्य को प्रेरणा है-

आदि काल से पल्थी मारे,
अब तक,
बैठी हुई पहाड़ी

तप करती है।

आत्म ज्ञान मिल जाए उसको,

जड़ता टूटे उसकी

भव का बंधन छूटे जल्दी![34]

उक्त कविता वृद्ध व्यक्तियों में पाये जाने वाले इहलौकिक और पारलौकिक द्वंद्व की लोक संवेदना का सटीक तथा प्रभावी अतींद्रिय भावों का गोचर चित्रण है।

केदार के काव्य में आई प्रकृति की विशेषता बताते हुए नरेंद्र पुंडरीक का कथन है- "वे अकसर क्षण की अनुभूतियां और चित्र प्रस्तुत करते हैं, लेकिन उनका समर्पण क्षण को नहीं बल्कि युग को है, क्षण को प्रस्तुत करते हुए भी क्षण का मोह छोड़ने में ही केदार का व्यक्तित्व विशद और अर्थ से भरा हुआ है। सरलता में संश्लिष्टता, सहजता में रूप, बिंब में अर्थ, यथार्थ में कल्पना, क्षण में युग और वर्तमान में भविष्य की अन्वित से समृद्ध केदार के स्वर आधुनिक हिंदी कविता की बहुत बड़ी उपलब्धि हैं, केदारनाथ अग्रवाल की प्राकृत सौंदर्य की कविताओं में बिंबों का संश्लिष्ट रूप हीं नहीं भाषा का वह फोटोजनित सौंदर्य भी है कि एक दम से आंखें रुक एवं टकी सी रह जाती हैं।"[35] प्रस्तुत है 'जल रहा है' कविता, जो एक बिंब उपस्थित करती है जिसके भाव-बोध चतुर्दिक निकलते हैं-

जल रहा है

जवान हो कर गुलाब,

खोल कर होंठे :

जैसे आग

गा रही है फाग।[36]

प्राकृतिक सौंदर्य के किसी भी कवि की कविता में जीवन की ऊष्मा का वह ताप नहीं मिलता और जीवन सौंदर्य की ओजपूर्ण तरंगें उस तरह नहीं उठती, जैसी केदार के अनूठे यथार्थ-सौंदर्य के बिंबों में लावण्य बन झलकती हैं। एक सौंदर्य है ताजमहल का जो अपनी कला और कारीगरी से हमें मोह लेती है। किंतु हम ताजमहल के सौंदर्य को आंखों से देख सकते हैं, किंतु उसमें रह कर उसका आनंद उठा नहीं सकते। केदार जी की कविताएं हमें ताजमहल जैसे सुंदर और मोहक घरों में रहने का आनंद देती है, वे घर हमारे अपने होते हैं जिसके छोटे-छोटे सुख-दुख के साथ हम रहते हैं, अपने आत्मीय परिजन के साथ, आस-पास और चौतरफा माहौल का हिस्सा बने हुए।

केदारनाथ अग्रवाल इंद्रिय बोध के कवि कहे जाते हैं, सामान्य लोगों की तरह इनका देखना आंख से देखना भर नहीं। बल्कि केदार अपने गहन इंद्रिय बोध के रूप, रस, गंध में डूबने वाले कवि हैं। वे युग बोध के कारण सामाजिकता को इंद्रिय बोध का विषय बनाने वाले कवि हैं। केदार में बिंब विधान की अद्भुत शक्ति है, वे समकालीन कवियों में सबसे सक्षम

बिंब-विधायक है। कम से कम शब्दों में वे ऐसे चित्र खींचते हैं कि जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों समाहित हो जाते हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने धरती, नदी, फूल, हवा, धूप, आकाश और सारे प्राकृतिक बिंबों का उपयोग अपनी कविताओं में खुलकर और उदात्त भाव से किया है। भाषा की सहजता से बिंबों की उदात्तता उसके वेग के साथ रखा है, जिस कारण से वेग के साथ उमड़ता उसका फेमिल संश्लिष्ट बिंब का रूप धारण कर लेता है-

तेज धार का कर्मठ पानी,
चट्टानों के ऊपर चढ़कर,
मार रहा है, घूसे कसकर
तोड़ रहा तट चट्टानी।[37]

नरेंद्र पुंडरीक का कथन है कि "केदार के सौंदर्य बिंबों में एक भी बिंब ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें जीवन के प्रति उद्दाम ललक न हो, जीवन होगा और जीवन से जुड़े श्रम का सौंदर्य अनिवार्य रूप से उसमें परिलक्षित होता।"[38]

केदार अपनी कविताओं में समय से जुझते दिखाई देते हैं, कवि का कहना है 'हिंदी की कविता न रस की प्यासी है, न अलंकार की इच्छुक है और न संगीत की न तुकांत पदावली की भूखी है, भगवान अब उसके लिए व्यर्थ है। अब वह किसान और मजदूर की वाणी चाहती है।' केदार 'सावन का दृश्य' कविता में पावस की ऋतु के सौंदर्य को किसान के जीवन के सौंदर्य के रूप में अनोखा चित्र खींचा है, जिसमें प्रकृति साद्दश्य होकर आंखों में बस जाती है-

बेकाबू हो गईं बिजलियां,
उनये बादल के परद में,
चंचल होकर ऐसा तड़पीं
कूदेंगी पृथ्वी पर जैसे।
मोती जैसी बूंदें बरसीं;
धरती पर जलधारा बरसी;
झाग भरे लाखों मटमैले
फन फैलाए अहिगन सरके।[39]

उक्त कविता मात्र प्रकृति चित्रण भर नहीं है, बल्कि उसमें किसानी जीवन की आस और उत्साह भी है। किसान की श्रम शक्ति और कर्मठता के आगे सब विषम स्थितियां भी अपने आप टल जाती हैं और धरती पर रह जाती है तो हरी भरी हरियाली और सच्चाई की सुगंध, जहां जीवन हिलोरे मारता है।

केदार जब प्रकृति के रूप का सौंदर्य चित्रित करते हैं, तब वे किसी तटस्थ दृष्टा की भूमिका नहीं निभाते, बल्कि प्रकृति के रूप के साथ आत्म संबंध स्थापित करते हैं। वे प्रकृति की संवेदना का अनुभव करते हुए जीते हैं, उसके साथ हंसते, खेलते, खिलखिलाते हैं। वे सहजता

के साथ अठखेलियां करते हैं, वे प्रकृति की गतिविधियों में जीवन की गतिशीलता देखते हैं। प्रकृति उनके लिए शरीरी है, उसकी हर चाल-ढाल को वे अपनी कविताओं में अंकित करते हैं, उसकी वेगशीलता कवि के चित्रण में गतिशील हो जाती है और उनकी कविता चलचित्र सी चलने लगती है। केदार अग्रवाल की कविता 'बसंती हवा' इसका अद्‌वितीय उदाहरण है। अतुकांत शैली में लिखा यह गीत प्रयोग की दृष्टि से बेजोड़ है ही, साथ में अतुकांत होकर भी गत्यात्मकता का आनंद प्रदान करता है। विद्‌वानों का मानना है कि समूचे गीति-काव्य में इसकी टक्कर की दूसरी गीत नहीं मिलती है। गीतात्मकता पूरे गीत में इस तरह लहराती है कि सारा पर्यावरण गीतमय हो जाता है। कवि इस कविता में जिस अल्हड़ आस्था के साथ अपनी धरती से जुड़ाव व्यंजित करता है, वह बेमिसाल है। इस अल्हड़ता में बाद में लता मंगेश्कर द्‌वारा गाए गए गीतों की स्वच्छंद निर्मलता का प्रवाह जैसा मनमुदित करने वाला प्रवाह भी है। इसलिए इस कविता को विद्‌वानों ने गीतों की श्रेणी में रखा है, क्योंकि कविता स्वयं गीत का रस चखाती है, लोक-गीतों का सुरूर है, तो लोक-जीवन के स्वच्छंद और जिम्मेदारी भरी लोकधर्मिता भी। यह गांव की अल्हड़ बालिका के बहुआयामी कर्तव्यों को पूर्ण करने वाले भावों की व्यंजना भी रचती है-

हवा हूं, हवा, मैं बसंती हवा हूं।
वही हां, वही जो युगों से गगन को
बिना कष्ट-श्रम के संभाले हुए है;
हवा हूं, हवा, मैं बसंती हवा हूं।

* * *

चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया,
गिरी धम्म से फिर, चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा, किया कान में 'कूं',
उतरकर भगी मैं हरे खेत पहुंची–
वहां गेहुंओं में लहर खूब मारी,
पहर दो पहर क्या, अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं।
खड़ी देख अलसी, लिए शिश कलसी,
मूझे खूब सूझी!
हिलाया-झुलाय, गिरी पर न कलसी!
इसी हार को पा
हिलायी न सरसों, झुलाई न सरसों,
मजा आ गया तब,

न सुध-बुध रही कुछ,
बसंती नवेली भरे गात में थी!
हवा हूं, हवा, मैं बसंती हवा हूं।

* * *

हंसी जोर से मैं, हंसी सब दिशाएं
हंसे लहलहाते हरे खेत सारे,
हंसी चमचमाती भरी धूप प्यारी,
बसंती हवा में हंसी सृष्टि सारी!
हवा हूं, हवा, मैं बसंती हवा हूं।[40]

इस गीत में कवि ने केवल उत्तम पुरुष के माध्यम से आलंबन रूप में प्रकृति का चित्रण ही नहीं किया है बल्कि इस गीत की विशेषता यह है कि 'बसंती हवा' एक अल्हड़ किसान की बेटी के रूप में अपने परिवेश को अपनी निजी संपत्ति मान कर, बेझिझक खेलती-डोलती है। कवि इस कविता के माध्यम से उस काल की कल्पना व्यक्त किया है जब नारी पूर्ण आत्मनिर्भर और स्वतंत्र होगी और 'बसंती हवा' की तरह जीवन यापन करते हुए रिश्तों की सारी जिम्मेदारियां जो वह चिर काल से निभाती आ रही है, उसे और रंगीन तथा चंचलता से निबाहेगी। ऐसे संसार में जहां नारी आत्मनिर्भर और स्वतंत्र होती हैं, जहां वह स्वच्छंद रूप से विचरण कर सकती है, वहां जीवन सहज, रसीला और रंगीन होता है, वहां जीने की खुशबू होती है, जीवन जीने की तमन्ना होती है। ऐसे में 'स्व' की संकीर्ण भावना 'पर' में विलीन होकर विराट अपनत्व का बोध कराती है।

'बसंती हवा' गांव की चंचल गोरी की प्रतिछाया भी है, जिसे रमेश रंजक के शब्दों में "बसंती हवा के अल्हड़पन को कवि ने आम के कानों में 'कू' कहलाकर और अलसी की कलसी को गिराने के लिए उसे हिला-डुला कर यह स्पष्ट कर दिया है कि गंवई गांव की जिंदगी को बिना जीए इन पंक्तियों की सार्थकता को एकाएक नहीं समझा जा सकता। इस आनंद को वही जान सकता है जिसने बसंत में रफड़ मारते हुए किसान के बच्चों को बड़े नजदीक से देखा है, और यह देखना तभी संभव हो सकता है जब लोक-जीवन हमारे दैनिक जीवन का अंग होकर हमें तरंगित करता है। केदारनाथ अग्रवाल के लोक-जीवन के परिवेशित गीत उनके लोक-जीवन के संस्कारों और संपर्कों के अंतर्मंथन के परिणाम होकर ही हमारे सामने आते हैं, इसलिए वे 'अलसी' और 'सरसों' के बारीक भेद को रेखांकित करने में सफल हुए हैं। मैं कवि की इन पंक्तियों को 'पहर दो पहर क्या, अनेकों पहर तक, इसी में रमी मैं' जो दे कर रेखांकित करना चाहता हूं, जहां केदारनाथ अग्रवाल पर्यटनशील सौंदर्यवादी झरोखावृत्ति से अपना रास्ता अलग करते हैं; और पृथक करते हैं, सौंदर्य प्रिय उस दृष्टि में जो केवल दो-चार विशेषणों के द्वारा प्रकृति वर्णन और बिंब संरचना को ही एक साहित्यिक उपलब्धि मानते हैं।"[41] वास्तव में

केदारनाथ अग्रवाल सच्चे लोक-मंगल के कवि हैं। उनके काव्य में प्रकृति जगत में लोक-मंगल के विस्तार में स्वयं संघर्ष रत है।

कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविता में 'हवा' कई रूपों में आई है। कभी स्वच्छंद चंचल बबली के रूप में विचरण करती हुई दिखाई देती है तो कभी एक आक्रामक अंधड़ का रूप धारण कर लेती है। जो अपने वेग से देखते ही देखते बड़े-बड़े पेड़ों को उखाड़ फेंकता है। जहां कवि हवा की सुंदरता और कमनीयता से प्रभावित है तो वहीं दूसरी ओर उसकी असीम शक्ति से भी। प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों रूप कवि का ध्यान खींचते हैं। प्रकृति का कोमल रूप जहां उसके प्रति रागात्मक भाव का संचार करते हैं वहीं उसके कठोर रूप प्रकृति के अक्षय शक्ति के द्योतक है, जिसके साथ से किसी भी समय बड़े से बड़े अवरोधों को खत्म किया जा सकता है। प्रकृति के भीषण रूप से कवि को मानवीय-शक्ति संचय करने की प्रेरणा मिलती है। जिसको पाने के लिए कवि सरपट दौड़ने लगता है-

मैं घोड़ों की दौड़
बनों के सिर पर तड़-तड़ दौड़ा,
पेड़ बड़े से बड़ा
चिरौंटे-सा चिल्लाया चौंका
पत्तों के पर फर-फर फड़के–
उलटे, उखड़े, टूटे,
मौन अंधेरे की डालों पर
सांड़ पठारी छूटे![42]

केदार को उगता हुआ सूरज और दिन का उजाला बहुत पसंद है। उनकी कविता 'तमसो मां ज्योतिर्गमय' है। वे अपनी कविताओं में मुख्यतः सूर्य और सूर्योदय के प्रकाश का प्रायः अभिनंदन करते हैं। सूर्योदय वास्तव में केदार के यहां जागरण के प्रतीक के रूप में तथा मार्क्सवादी क्रांति का प्रतीक भी है, क्योंकि उसका रंग लाल होता है। सूर्य के आते ही अंधेरा भाग खड़ा होता है। जीवन और जगत की जड़ता समाप्त हो जाती है। संसार ऊर्जावान और गतिमान हो जाता है। जिस करण से हर तरफ स्फूर्ति और उमंग दिखाई देती है। सूर्य के निकलने पर कवि स्वयं इतनी जीवंतता का अनुभव करता है कि उसे लगता है कि पल भर में सूर्य की किरणों ने सारी दुनिया की तस्वीर बदल दी हो-

रवि-मोर सुनहरा निकला,
पर खोल सबेरा नाचा,
भू-पार कनक-गिरि पिघला,
भूगोल मही का बदला।
नवजात उजेला दौड़ा,

कण-कण बन गया रुपहला,
मधुगीत पवन ने गाया,
संगीत हुई यह धरती,
हर फूल जगा मुस्काया![43]

देखने में तो यह कविता सूर्योदय के बाद होने वाले प्राकृतिक परिवर्तन के व्यापारों को व्यक्त करती है। किंतु इसके लक्षणा और व्यंजना अर्थ भी हैं। जहां 'रवि-मोर' जागरण का प्रतीक है, 'कनक-गिरि' लोक का शोषण करने वाली शक्तियों का प्रतीक है, 'नवजात उजेला दौड़ा' भावी पीढ़ी की दिशा की अभिव्यक्ति है। जब यह उजेला हर जगह फैल गया, तो यह धरती सुंदर और आनंद प्रदायी बन जाती है और धरती के हर प्राणी का जीवन सुखमय हो जाता है और उसके सपने फलते-फूलते एवं विहंसते रहते हैं। केदार की लोकधर्मी संवेदना मानव का मानव से शोषण की मुक्ति की संवेदना है, जिसे वे ज्ञान, विज्ञान और समाजवादी व्यवस्था द्वारा प्राप्त करना चाहते है।

हवा, सूर्य के अतिरिक्त केदार को रात भी बहुत सुहाती है, रात्रि उनके लिए निराशा और अवसाद का प्रतीक नहीं है, बल्कि आशा और सृजन की शक्ति है, सौंदर्य और सुख की जननी है। उन्होंने प्राचीन प्रतीकों में नया अर्थबोध भरा है, धरती माया और मोह की जननी तथा उसके त्याग से मुक्ति और स्वर्ग की संभावनाओं की धारणा को कवि ने खारिज कर दिया है। धरती को कवि जननी और पालक रूप में देखता है, धरती सुंदर और आशा जगाने वाली है, जैसे सकारात्मक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण केदार की विशेषता है। हिंदी साहित्य में अनेक कवि हुए किंतु केदार जैसी दूर-दृष्टि और स्पष्ट जीवन लक्ष्य का कवि कोई नहीं दिखाई देता है, हां यह कहना समीचीन होगा कि कबीरदास और भारतेंदु की वैचारिक परंपरा केदार जी के यहां सौष्ठव प्राप्त की है। कवि धरती को 'मानवी मधुरा' के रूप में देखते हैं। धरती से उसका लगाव बहुत गहरा है, धरती न केवल जननी है बल्कि जीवन दायनी भी है। प्रकृति के सभी उपादान इसी धरती को समृद्ध करने के लिए निरंतर प्रकृतगामी हैं। 'चांद और चांदनी' कविता में रात्रि के सौंदर्य को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है-

विश्व के
वट-वृक्ष के ऊंचे शिखर पर
चांद चढ़कर,
चाव से नीचे निरखकर,
दूध की बाहें पसारे,
मानवी मधुरा धरा को भेंटता है,
और
यौवन-यामिनी की-

चांदनी का-

फूल फेनिल चूमता है।[44]

कवि की उक्त कविता प्रकृति में मानवीय बोध का सुंदर उदाहरण है। यहां चांद और यामिनी को कवि ने एक समान स्तर पर उतारा है, जहां चांद अर्धरात्रि के लावण्य को चूमता है। कवि समरस दुनिया का नायाब उदाहरण प्रस्तुत किया है, यहां गोरे-काले का भेद मिट गया है और रात्रि सौंदर्य की प्रतिमूर्ति बन गई है। इस प्रकार प्रतीकों में नये अर्थ भरने वाले कवियों में केदार जी का नाम अग्रणी रहेगा।

डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है कि "आकाश, पवन, जल, प्रकाश- इन्हें देखकर केदार की प्रतिक्रिया गणसमाजों की उस आदिम मानव सी होती है, जो उत्पादन का इतना विकास कर चुका हो कि प्रकृति से त्रस्त न हो, देवी-देवताओं को पशुबलि अथवा नरबलि से तुष्ट करने को प्रवृत्त न हो, उगते हुए सूर्य को देखने और उससे प्रसन्न होने की क्षमता उसमें हो।..... आज का किसान गणसमाजों के प्रकृति प्रेमी उक्त आदिम मानव का है। आज का किसान गणसमाजों का साम्यवादी संस्कार अपने उप-चेतन में कहीं गहरे संजोये है; ठीक वैसे ही प्रकृति से उसका वह हर्ष उल्लास वाला संबंध अब भी कहीं अटूट बना हुआ है। केदार इस अटूट संबंध के कवि हैं, राजनीति के स्तर से और गहरे उतर कर वह अपने देश की जनता के सूक्ष्म, आदिम संस्कार सूत्रों से बंधे हैं।"[45] कवि की कविता में आदिम मानव की प्रकृति सौंदर्य के प्रति व्यक्त भाव जिसे वैदिक कवियों के स्वरों में सुना जा सकता है, को कवि ने किसान की प्रकृति चेतना में पढ़ा है और व्यक्त किया है-

धीरे से पांव धरा धरती पर किरनों ने,
मिट्टी पर दौड़ गया लाल रंग तलुओं का।
छोटा-सा गांव हुआ केसर की क्यारी-सा,
कच्चे घर डूब गए, कंचन के पानी में।
डालों की डोली में लज्जा के फूल खिले,
उषा ने मस्ती से फूलों को चूम लिया।
गोरी ने गीतों से सरसों की गोद भरी,
भौंरों ने गोरी के गालों को चूम लिया।[46]

केदार के प्रकृति चित्रण की सुंदरता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने प्रकृति के सामान्य रूपों को भी लोक संस्कृति से जोड़कर चित्रित किया है। कवि प्रकृति सौंदर्य से बारंबार आकर्षित होता है, किंतु वह उसके सौंदर्य जाल में इतना नहीं डूब जाता कि वह उसमें उलझकर मनुष्य के जीवन का सौंदर्य भूल जाय। कवि की रचनाओं में प्रकृति का प्रत्येक चित्र वहां के लोक-जीवन से गुंफित होता है। उसमें जीवन की चेतना होती है, आस, प्रकाश और संस्कार

उसके प्रकृति बिंबों में दमकने लगता है। कवि संवेद्य बिंबों की रचना से पूरा ग्रामीण जीवन और भारतीय संस्कृति का संस्कार उतार देता है-

ये
माटी के दिए-
मौन
जलते,
मुसकाते,
अंधकार को मार भगाते,
पावन पर्व प्रकाश मनाते![47]

केदार ने प्रकृति के सामान्य रूपों में ऋतुओं की सुंदरता का चित्रण बड़ी संजीदगी से अंकित किया है। बसंत उनकी प्रिय ऋतु है, जिसके अनेक चित्र उनकी विविध कविताओं में भिन्न-भिन्न स्वरूपों में प्रकट हुए हैं। बसंत राग-रंग की ऋतु है, जिसमें यौवन की सप्तरंगी दुनिया का आलोक खिलता है, वह जीवन का मधुमास है, बसंत के आते ही न केवल प्रकृति खिल उठती है अपितु मानव भी उल्लसित हो उठता है। बसंत की मोहक बसंती छटा प्रकृति, जीव-जंतु और मनुष्यों में एक नई आकर्षक स्फूर्ति को पैदा करती है। प्रकृति के इस बासंतिक वैभव से आनंदित होकर मानव अपने जीवन में गुदगुदी का अनुभव करता है और नए बसंती उत्साह तथा कमनीय वैभव से भर कर उमंगित और तरंगित जीवन जीने की कामना करता है-

यह बसंत जो
धूप, हवा, मैदान, खेत, खलिहान, बाग में
निराकार मन्मथ मदांध-सा रात-दिवस सांसे लेता है
जानी-अनजानी सुधियों के कितने-कितने संवेदों से,
सरवर, सरिता,
लता गुल्म को, तरु-पातों को छू लेता है
और हजारों फूलों की रंगीन सुगंधित सजी डोलियां
यहां वहां चहुं ओर खोलकर मनोमोहिनी रख देता है,
वही हमारे
और तुम्हारे अंतःपुर में
आज समाए
हमको-तुमको
आलिंगन की तन्मयता में एक बनाए।[48]

बसंत ही नहीं शरद ऋतु भी कवि केदार के मन में जीवन रस पीने की आकंठ प्यास जगाती है। शरद ऋतु का समय बसंत से कम उत्तेजक और मादक नहीं होता है। इस ऋतु में

न अधिक गर्मी न अधिक जाड़ा पूरा मौसम समशीतोष्ण रहता है। आकाश निर्मल रहता है, खेत हरे-भरे रहते है, ज्यादा तर खेतों में ताजी सब्जियां तैयार रहती हैं। खेतों में ईख तैयार होती है, गांवों में गुड़ की सोंधी महक बिखरी रहती है। तालाबों में कमल खिले होते हैं, कनैल का फूल अपना सौंदर्य बिखेरता रहता है, जिससे पूरा परिवेश दर्शनीय और खुशनुमा होता है। शरद ऋतु किसानों के जीवन में संभावनाओं की बहार लाती है, किसान अपनी पूरी शक्ति से खेतों में जुट जाते हैं ताकि भविष्य के अन्न की अच्छी जुताई-बुवाई हो सके। पूरे कृषि जीवन में एक स्फूर्ति का वातावरण निर्मित हो जाता है। इस प्रकार शरद को देखकर लोक-जीवन का गायक कवि उमंग और उत्साह से भरकर कह उठता है-

मुग्ध कमल की तरह
पांखुरी-पलकें खोले,
कंधों पर अलियों की व्याकुल
अलकें तोले,
तरल ताल से
दिवस शरद के पास बुलाते
मेरे मन में रस पीने की
प्यास जगाते![49]

कवि केदार को पावस ऋतु बहुत भाती है, बादल, बारिश, बिजली कवि के यहां प्रतीकों के रूप में आए हैं। किंतु वे रूढ़ प्रतीक के रूप में नहीं बल्कि जीवन-जगत के भाव को व्यक्त करते हैं। इनकी अधिकांश कविताओं में प्रकृति का मानवीकरण हुआ है और वह मनुष्य के साथ, साथी बन कर संघर्ष करती है। केदार ने बादलों के गर्जन, तर्जन और बारिश के श्रव्य बिंब बहुत सुंदर खींचा है जिसमें वर्षा पूर्व और वर्षा बाद के परिवर्तन स्पष्ट झलकते हैं। इस कविता को पढ़ने पर अनुभूति होती है कि बारिश के दिनों में हम खेत में खड़े होकर, भीगकर, वर्षा का आनंद ले रहे हों और वर्षा सुंदरी के धरती में विलीन होने पर वातावरण खुल जाता है और मानो धरती झटक कर अपने आंचल से पानी निचोड़ देती है -

अंबर का छाया मेघालय
तड़-तड़-तड़-तड़
तड़का टूटा,
रोर-रोर ही,
फूटा, फैला
चपला चौंकी-
फिर-फिर चौंकी,
बाहर आकर

चम-चम चमकी,

गदगद-गदगद

गिरा दौंगरा,

पानी-पानी हुआ धरातल,

कल-कल

छल-छल

लहरा आंचल।[50]

प्रकृति के खजाने में इतना कुछ है कि मनुष्य उसे जीवन भर निहारता जाए तो भी उसका जी नहीं भरता है। जब आकाश में सूर्य निकलता है तो दुनिया प्रसन्न होती है, सूर्यास्त होता है तो दुनिया खुश होती है, रात और चांदनी रात को देखकर दुनिया खिलखिलाती है। प्रकृति के ये अनोखे रूप मानव सौंदर्य बोध को गतिमान बनाए रखते हैं। इस प्रकार मनुष्य भी एकरसता के भाव से मुक्त होता है। लेकिन आकाश में बादल कभी भी छा जाते हैं और दुनिया को नवीन बोध से कुछ ही समय के लिए किंतु भर देते हैं। बादलों को जीवन दाता कहा जाता है, क्योंकि वे संपूर्ण पृथ्वी को जल देते हैं। इसलिए वर्षा ऋतु के आगमन का समय होने पर मनुष्य, पशु-पक्षी और वनस्पतियां आकाश की ओर ताकते हुए बादलों की टोह लगाने लगते हैं। बादल जब अपने पूरे यौवन में आता है तो ऐसा लगता है कि वह आकाश में कोई रास-लीला का खेल, खेल रहा है। बादल और बिजली का अन्योन्याश्रित क्रीडारत लीला सभी कवियों को आकर्षित करती रही है। कवि उसकी अद्‌भुत छटा को देखकर उस पर मोहित हो जाता है-

श्यामकाय

प्रभविष्णु मेघ जो प्राकृत नट है

धीर, वीर, गंभीर, और निःशंक निपट है,

महाभूत

उस पूर्ण पुरुष से विद्‌युत-वनिता

हेर-फेर मुख, लिपटी-छूटी, क्षण-क्षण चकिता।[51]

प्रकृति के विशिष्ट रूपों में बांदा जनपद को वर्षपर्यंत नीले जल से सींचने वाली केन (कर्णावती) नदी का कवि ने सर्वाधिक बार चित्रण किया है। केन के विविध रुपों ने केदार को अपनी ओर आकर्षित किया है। कभी 'केन' कोमलांगी की तरह कवि का ध्यान आकर्षित करती है तो कभी वह वीरांगना की तरह हाथ में तलवार लिए कवि को दिखाई पड़ती है। 'केन' नदी के साथ कवि आत्मगत लगाव महसूस करता है और उसके सुख-दुख से तादात्म स्थापित करता है, इसलिए पहरों-पहर रेती पर चुपचाप बैठा रहता है। 'केन' और केदार के बीच की संवेदना 'केन' से संबंधित कई कविताओं में कई स्तरों पर प्रकट हुई है-

नदी म्यान से खिंची एक तलवार है

जो मैदान में लगातार चलती है
जिसकी धार तेज
और बिजली से भरी है
जिसने बला की चंचलता पाई है!
कूल है कि इसको पास
ही रखते हैं
जी-जान से इसे प्यार ही करते हैं
जैसे बड़े कुशल समर-शूर सैनिक हैं![52]

'केन' का रूप सौंदर्य वर्ष भर एक जैसा नहीं रहता है, बरसात में जब वह जलपूर्ति पा कर इठलाती है और चारों ओर अपनी बाहें फैलाकर फुफकारती है तो आस-पास के लोग भले ही त्राहि-त्राहि कर उठते हैं, किंतु कवि उसमें एक अलग सौंदर्य देखता है। उसे लगता है कि यह नदी का विनाशक नहीं बल्कि प्रेम-प्रदर्शन का फैला रूप है। जब वह बाढ़ से पागल होकर शहर की ओर बढ़ती है तो भी कवि निःशंक रहता है। उन्हें केन की लहरों में लोक मंगल की कामना सुनाई देती है और उसके शहर की ओर बढ़ने में टुनटुनिया पहाड़ से उसके प्रेम-पूर्ण मिलन का अद्‌भुत दृश्य दिखाई देता है। वास्तव में कवि नदी से इतना घना जुड़ा है कि उसका रौद्र रूप भी, प्रेम का संदेश देता हुआ दिखाई देता है। 'केन' बांदा की जीवन-धारा है और केदार काव्य का उपजीव्य, इसलिए कवि केन में लोक-जीवन की संस्कृति की छपाछप-छाप देखता है-

केन मनुष्यों के जीवन की है पथगामी,
बूंद-बूंद है रक्त-श्वेद-सा इसका नामी।।
भूरागढ़ का किला सुनाता है यह गाथा,
ऊंचे सूरज से ऊंचा है जन का माथा।
दोनों ओर हरे खेतों का दाना दाना
आशा का बुनता रहता है ताना-बाना।।
दूर खड़ा टुनटुनिया पर्वत पास बुलाता,
केन नदी की बांह पकड़ने को ललचाता।
चौमासे में चढ़ी जवानी में मदमाती,
केन नदी इठलाती गाती मिलने आती।
बम-भोले की पूजा में जल-फूल चढ़ाती
लहरों से पहरों तक मंत्रोच्चार कराती।।
कर्णवती फिर लौट किनारे पर आ जाती,
आंचल में वरदान लिए शिव का लहराती।[53]

वहीं केन जो वर्षा ऋतु में चारों तरफ इठलाती फिरती है, ग्रीष्म ऋतु में तन-मन से इतनी कमजोर और पीली पड़ जाती है कि कवि से उसकी उदासी और तड़प देखी नहीं जाती है। कवि को लगता है जैसे कोई कोमल तन्वंगी किसी शिकारी के बाण से घायल होकर तड़प रही हो और निराधार अवस्था में अपने प्राणों की रक्षा के लिए छटपटा रही हो। केन की इस छटपटाहट से कवि आहत होता है और पूरी तन्मयता से उसका आत्मीय चित्र खींचने लगता है। वह चित्र जो कवि बनाता है, वह केन नदी के साथ साथ नारी जाति की उत्साह और विषाद की तस्वीर भी है। केन द्वारा कवि ने लोक-जीवन के राग और अवसाद की मार्मिक दशा का चित्र भी प्रकट किया है-

रवि के खरतर शर से मारी,
क्षीण हुई तन-मन से हारी,
केन हमारी तड़प रही है
गरम रेत पर, जैसे बिजली
बीच अधर में घन से छूटी
तड़प रही है।[54]

केदार को अपने आस पास के प्राकृतिक परिवेश से बेहद लगाव है। उन्होंने अपने सुपरिचित पेड़-पौधे और फल-फूलों से लदी हुई अनेक समृद्ध चित्र कविताओं में खींचे हैं। ये पेड़-पौधे कवि को प्रेरणा देते हुए दिखाई पड़ते हैं, उनकी प्रेरणाओं से कवि को जीने की दिशा मिलती है। प्रकृति के पेड़ों का निर्मल व्यक्तित्व कवि की पीड़ा और थकान हरने वाला है तथा उसके अंदर जीने की इच्छा को समृद्ध करते और बलवती बनाते हैं। कवि के अहाते में खड़ा नीम का पेड़ और उससे लगातार झरते दूध की बूंदों (फुटकियों) जैसे श्वेत फूल कवि को तमाम दुखों से उबार कर तरोताजा कर देते हैं-

नीम के फूल
दूध की फुटकियों-से झरे
मुलायम-मुलायम
कठोर भूमि पर बिखरे,
जैसे कोई
प्यार से शरीर स्पर्श करे
दुखों से तनी हुई
नसों की थकान हरे।[55]

केवल बड़े-बड़े छायादार वृक्ष ही नहीं, छोटी-छोटी घासें भी कवि की संवेदना को प्रेरित करती रहती हैं। कवि के दरवाजे पर लगी और उगी घासें जो एक से दस अंगुल तक होती है, कवि को संदेश देती हैं। केदार को प्रकृति के बाह्य-रूप सौंदर्य से अधिक उसके आंतरिक मूल्य-

बोध सौंदर्य आकृष्ट करते हैं। हरी दूब को देखकर कवि उसकी दृढ़ता और सतत जागरूकता का मौन संदेश ग्रहण करता रहता है। कवि को लगता है क्यों न इसी दृढ़ता के साथ अपनी कुंठाओं, कुसंस्कारों और दकियानूसी विचारों से ऊपर उठकर प्रगति के मार्ग पर डटकर खड़ा हो जाऊं। क्योंकि व्यक्ति अपने आप में छोटा या बड़ा नहीं होता बल्कि उसकी संकल्प-शक्ति ही उसे छोटा या बड़ा बना देती है। यह संकल्प और दृढ़ता का उसका कद वास्तविक कद होता है, जिसके सामने शारीरिक कद बौना हो जाता है। कवि हरी घास के तने रूप को देखकर, उसके आत्मबल के सौंदर्य पर मोहित हो जाता है-

हरि घास का बल्लम
गड़ा भूमि पर
सजग गड़ा है
छह अंगुल से नहीं बड़ा है
मन होता है
मैं उखाड़ कर इसे मार दूं
कुण्ठा को गढ़ में पछाड़ दूं
जहां गड़े है भूले मुरदे
वहां गाड़ दूं।[56]

कवि के व्यक्तित्व में कोमलता और कठोरता दोनों विद्यमान है। उनका व्यक्तित्व गांधी अथवा हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'शिरीष के फूल' के जैसा है, जिसमें कोमलता और कठोरता का सह अस्तित्व विद्यमान है। वे प्रकृति के पुरुष रूपों से भी प्रेरणा प्राप्त करते हैं तथा उसके कोमल स्वरूप पर भी मंत्रमुग्ध होते है। यहां तक की कवि प्रकृति के कठोर रूप को भी अपनी कोमल दृष्टि से नरम बना देता है। अतः प्रकृति का रौद्र भाव-भंगिमा भी कवि को कोई न कोई संदेश देकर जाती है, उसे प्रकृति की हर वस्तु प्यारी है। केदार को फूलों से बहुत प्यार है, वे अपने आंगन में अनेक प्रकार की लताएं और फूलों को उगाने के शौकीन थे। उनके आंगन में लगे रक्ताभ गुलाब, पीला गेंदा और बोगनवेलिया के खूबसूरत फूल प्रातः बांह फैलाकर उनका स्वागत करते थे जिससे दिन भर वे सकारात्मक और कोमल भावों से भीगे रहते थे। उनका घर वर्ष भर बसंतोत्सव में डूबा रहता था। वे अपने आंगन की बोगनवेलिया के सुंदरता को निहारते हुए कह उठते हैं-

खूब फूली खड़ी है
रंगारंग हुई,
मेरे आंगन की
बोगनबेलिया
झांकता देखता है

उल्लसित हुआ सूरज
मेरी बोगनबेलिया को,
पहने है जो
तुहिनमाल का नौलखा हार
झूलती झूमती जो
मनाती है
बसंतोत्सव।[57]

कवि केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति के चितेरे कवि तो हैं ही, पर उनके कविता में लोक-संवेदना पूरी तरह से भरी पड़ी है, वे छोटी-छोटी वस्तुओं का महत्व स्थापित करते हैं, उनके प्रकृति चित्रण में ऐसी-ऐसी वस्तुएं आती हैं, जिनका दैनिक इस्तेमाल किया जाता है किंतु उसका महत्व स्वीकारा नहीं जाता है। शायद ऐसी मानसिकता को व्यक्त करने के लिए 'घर की मुरगी साग बराबर' का मुहावरा प्रचलित हुआ है। किंतु केदार इस प्रकार से सहयोगी और कर्मरत चीजों को अपने काव्य में महत्वपूर्ण बना कर, इस निर्लज्ज और आत्मघाती मानसिकता को तोड़ देना चाहते हैं। वह प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता के आधार पर महत्व के वैज्ञानिक पद्धति के कवि हैं। उनकी कविताओं में छोटे-छोटे लोगों, उनकी संवेदनाएं और प्रकृति के नन्हें-नन्हें उपादानों तथा नन्हीं नन्हीं बातों को अपने काव्य का विषय वस्तु बनाया है। कवि विषय और कथ्य में एक रूप है, वह धरती के सौंदर्य को देखकर उसे जीवन में उतार लेना चाहता है। हरियाली कवि को बहुत प्रिय है, वह उसे अपनी आशा और चेतना का आधार मानता है। हरियाली जो न केवल प्रकृति के सौंदर्य को जीवित रखती है बल्कि मनुष्य के जीवन में भी सौंदर्य घोलती है। इस महा कीमती वस्तु की मनुष्यों ने कहां रक्षा कर पाई, अब चोरों तरफ निनार सूखा दिखाई देता है, शहर के कुछ जागरूक कहलाने वाले लोग हरा रंग लगा कर आंखों को हरियाली की झूठी सांत्वना दे रहे हैं। किंतु कवि ने अपनी कविता में हरियाली का बहुत उपयोगी बिंब खींचा है-

धूप-छाँह-खाई हरियाली,
विजय पताका लिए हाथ में,
फूलों और फलों की शोभा लिए साथ में,
प्रकृति-प्रेम से मतवाली है।
यह हरियाली
मुझको प्रिय है,
यही मुझे करती है प्रमुदित,
यही मुझे रखती है जीवित।[58]

केदार जीवन के राग के कवि हैं, उनकी राग में प्रकृति भी गाती, झूमती, मौजती है। केदार समता, समृद्धि और सहजता के कवि हैं। यही उनकी लोकधर्मिता है, कवि उन लोगों से सहयोग की अपेक्षा करता है जो सक्षम होते हुए भी यथास्थितिवादी है। अतः केदार परिवर्तन के कवि हैं, जिसकी संवेदना लोकधर्मी है। इसलिए वे अनुपयोगियों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं-

पेड़
न फूले-
नहीं हंसे,
खड़े हुए हैं मौन डसे।[59]

केदार ने प्रकृति के जीवन में उपयोगी सभी उपादानों को अपनी कविता का विषय बनाया, उनकी कविता में जीव-जंतु, पशु-पक्षी वैसे ही विचरण करते हैं जैसे वे प्रकृति में। वे सभी का चित्रण करते हैं, किंतु केदार की चित्रात्मकता में तार्किक बोध होता है। उनकी चित्रात्मकता तार्किकता और बौद्धिकता के समावेश से भरी होती है, जिसके अंतर्वस्तु में संज्ञानात्मकता होती है जिसे कवि अपनी कला से सृजकर, जगत के सामने दृश्य बना देता है। केदार के काव्य चित्रों की विशेषता बताते हुए मंजुल उपाध्याय लिखते हैं- "केदार के चित्रों की विशेषता यह है कि वे उनके भावों को स्थापत्य प्रदान करते हैं। इसी कारण उनकी कविता में स्थापत्य-जैसी परिपूर्णता होती है। तरलता अथवा गति की कमी उसमें नहीं होती, लेकिन अपनी ओर कवि उसे एक रूप में बांध देता है। यह बात केदार की छोटी-छोटी कविताओं में खासतौर से देखी जा सकती है, जिनमें वे एक ही चित्र अंकित करते हैं और उसे हर तरह से 'फिनिश' कर देते हैं।"[60] उनका फिनिश चित्रण संवेदनाओं और अनुभूतियों का घनीभूत स्पॉट बन जाता है। जिसमें लोक-जीवन का सौंदर्य झलकता है।

केदार काव्य में प्रकृति के विविध लोक-रंग-रूप

कवि केदार की प्राकृतिक सौंदर्य चेतना ग्रामीण परिवेश के जन-मानस से जुड़ी हुई है, उनकी कविताएं हृदय की वास्तविक अनुभूति हैं, उसमें कल्पनिकता का नितांत अभाव है। उनके चित्रण का मूल समतावादी समाज और राष्ट्र का निर्माण करना है। केदार की प्रकृति बाब नागार्जुन से कहीं अधिक मूर्त, चेतन और उत्सवधर्मी है। कवि की प्रकृति उनकी लोकधर्मी

विचार धारा से जुड़कर संघर्ष की मानवीय चेतना को संबल प्रदान करती है। उनकी कविता में जहां सेमल का पुरनिया पेड़ अपने लाल-लाल फूलों से आग बरसाता है तो वहीं गेहूँ की नुकीली बालियां क्रांति के लिए तैयार हैं। जहां उनकी कविताओं में बसंती हवा अल्हड़ किशोरी के रूप में मुक्त होकर प्रकारांतर से नारी मुक्ति का संदेश देती है तो दूसरी ओर प्रकृति मस्ती, उल्लास, उत्सव, विवाह, रास आदि सबसे जुड़ती हुई मानवीय संबंधों को निभाती है। रामस्वरुप चतुर्वेदी कहते हैं- "घर आंगन के आत्मीय बिंब, उनकी जनवादी राजनीतिक चेतना को प्रमाणिकता देते हैं, जहां वह नारा नहीं अनुभूति बन जाती है।"[61]

कवि ने प्रकृति के नाना रूपों में चित्रण किया है, किंतु उसके एकपक्षीय रूप को ग्रहण किया जाना अर्थात उसे मात्र सौंदर्य के लिए चित्रित किया जाना कवि का अभीष्ट नहीं रहा है। उनके काव्य में ऐसी अनेक कविताएं देखने को मिलती हैं जिनमें न केवल प्रकृति का सुंदर रूप हमारे सामने आता है बल्कि उनके माध्यम से देश की तत्कालीन परिस्थितियों, समस्याओं की व्यंजना भी है। दृष्टांत के लिए यह कविता देखी जा सकती है जिसमें गेहूं को नुकीले भालों की टुकड़ी के रूप में देखा गया है। यह गेहूं की नुकीले भालों वाली टुकड़ी देश हित में बलिदान होने के लिए तैयार खड़ी है-

आर पार चौड़े खेतों में
चारो ओर दिशाएं घेरे
लाखों की अगणित संख्या में
ऊंचा गेहूं डटा खड़ा है।
ताकत से मुट्ठी बांधे है;
नोकीले भाले ताने है।

* * *

लेकिन गेहूं नहीं हारता
नहीं प्रेम से विचलित होता;
हंसिया से आहत होता है,
तन की, मन की बलिदेता है;
पौरुष का परिचय देता है,
सतत घोर संकट सहता है;
अंतिम बलिदानों से अपने
सबल किसानों को करता है।[62]

कवि केदार भारत की उस परम श्रेष्ठ परंपरा को नहीं भूलते हैं जिसमें यहां के वीर सपूतों ने आत्मोत्सर्ग करके भी अपने देश और राष्ट्र को सबल बनाया है। प्रकृति का उपादान गेहूं भी अपने बलिदान से पालकों अर्थात किसानों को सबल बनाता है।

प्रकृति के साथ गहन आत्मीय भाव के कारण कवि ने प्रकृति और मानवीय क्रियाओं को एकमेव करके प्रस्तुत किया है। लोकजीवन से गहरा लगाव होने के कारण कवि मानवीय व्यापारों को प्रकृति के माध्यम से सुंदर रूप में प्रकट करता है। प्रकृति के इन सुंदर रूपों में लोकजीवन सहज, सरल रूप में प्रकट हो जाता है। 'चंद्रगहना से लौटती बेर' इसका सशक्त उदाहरण है। इसमें प्रकृति के अनेक दृश्य जैसे शीश पर छोटे गुलाबी फूल का मुरैठा बांधे हरा ठिंगना चना, लचीली कमर और पतली देह वाली हठीली अलसी, विवाहित सरसों जिसके हाथ अभी भी पीले हैं, ब्याह-मंडप में पधारे हैं। इससे लोक जीवन में प्रचलित वैवाहिक समारोह का विशिष्ट वातावरण निर्मित होता है-

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना
बांधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।
पास ही मिलकर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतीली, कमर की है लचीली,
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर
कह रही है, जो छुए यह
दूं हृदय का दान उसको।
और सरसों की न पूछो-
हो गई सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिए हैं,
ब्याह-मंडप में पधारी;
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे।
देखता हूं मैं : स्वयंवर हो रहा है।[63]

केदार ने अपनी प्राकृतिक कविताओं में लोक जीवन के गहरे और व्यापक परिप्रेक्ष्य में जन-जीवन और प्रकृति को परस्पर गूंथा है। वे लोक बिंबो और लोक गीतों की सहज लय में ग्रामीण सौंदर्य को अभिव्यक्त किया है। यही नहीं, इनके यहां लोकजीवन के पारिवारिक और सामाजिक संबंध भी प्रकृति के विविध उपादानों द्वारा साकार हो उठे हैं। इसलिए केदार को 'धूप' मैके में आई बेटी की तरह मग्न और प्रसन्न दिखाई देती है-

धूप चमकती है चांदी की साड़ी पहने

मैके में आई बेटी की तरह मगन है
फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है
जैसे दो हमजोली सखियां गले मिली हैं
भैया की बांहों से छूटी भौजाई-सी
लहंगे को लहराती लचती हवा चली है।[64]

यहां प्रकृति चित्रण में जिस बिंब को उकेरा गया है, वह लोकजीवन से कवि के निकट परिचय का प्रमाण है। इस बिंब में ग्रामीण प्रकृति अपनी संस्कृति के साथ मिलकर संयुक्त रूप में प्रकट हुई है। ग्रामीण संस्कृति की होली उत्सव की झलक उनकी फाल्गुनी प्रकृति में मिलती है-

चोली फटी सरस सरसों की
नीचे गिरा फागुनी लहंगा
ऊपर उड़ी चुनरिया नीली
देखो हुई पहाड़ी विवसन।[65]

"प्रकृति के इन रम्य-मधुर चित्रों द्वारा केदार ने ग्रामीण लोक जीवन की यथार्थ झांकी बुना है। लोक जीवन में प्रचलित रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहार आदि को सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के साथ अपनी कविताओं में समेटने का प्रयास किया है। इसलिए कवि की प्रकृति-चित्रण केवल प्रकृति के सौंदर्य का यथातथ्य वर्णन मात्र नहीं है बल्कि वह लोक जीवन की सामाजिकता से समन्वित सौंदर्य का रूपायन है। यही कारण है कि डॉ. रामविलास शर्मा उनकी कविताओं को लोकसंस्कृति की उपज मानते हैं, जो लोक संस्कृति को समृद्ध करती है।"[66]

प्रकृति में मनुष्य का हस्तक्षेप बढ़ने से मानव प्रकृति का उपकरण न रहकर प्रकृति को ही उसने अपना उपकरण बना लिया है। अब प्रकृति संबंधी कविताओं में स्वयं मनुष्य ही केंद्रीय अभिव्यक्ति बन गया है। आज का कवि प्रकृति सौंदर्य को नए दृष्टि से देखने लगा है। जिसके फलस्वरूप उसके और प्रकृति के बीच नए धरातल पर एक नया संबंध बनता है। आधुनिक कवि प्रकृति को मानवीय रूप में देखता है और चित्रित करता है। मानवीय सत्ता के बिना उसे प्रकृति में कोई सौंदर्य दिखाई नहीं पड़ता है और न ही उसकी सार्थकता को ही मानता है। इन कवियों ने प्रकृति को जीवन का अभिन्न अंग के रूप में देखा है और उसे उल्लसित करने वाली एक सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। कवि केदार को भी प्रकृति से जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है-

वृद्ध पेड़ के
पत्ते फिर-फिर
नये निकलते
नये-नये फिर सुख-दुख सहते

सहते-सहते

वृद्ध पेड़ को जीवित रखते।[67]

प्रकृति में परिवर्तन को कवि प्रत्यक्षतः महसूस करता है, प्रकृति का एक खास गुण उसकी नवीनता है इस लिए मनुष्य का जीवन प्रकृति से जितना प्रभावित होता है, उतना ही नवीनता प्राप्त करता जाता है। प्रकृति से मनुष्य केवल सौंदर्य नहीं पाता, बल्कि जीवन जीने की प्रेरणा भी लेता है।

प्रकृति का स्वरूप असीम-अनंत विस्तार वाला है। संघर्ष, युयुत्सा और जिजीविषा से प्रकृति का कण-कण आंदोलित रहता है। जब हम प्रकृति के सान्निध्य में होते हैं तो जीवन के सान्निध्य में होते हैं। इस तरह प्रकृति से जीवन को जूझने की शक्ति प्राप्त होती है। कवि ने चिड़ियां के माध्यम से इस धरती पर दुख और सुख में जूझने की जिजीविषा का सार्थक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है। जीवन की सच्चाई है कि जब तक जीवन है संघर्ष लगा रहता है और लड़ते-लड़ते एक दिन जीवन छोटा होकर ओझल हो जाता है-

नीलसिंधु के ऊपर

आसमान के नीचे

पंख मारती

देश-काल के ऊपर उड़ती

क्षितिज छोर की ओर

चली जाती है टिरटिर करती

निपट अकेली एक टिटिहिरी विरह-विदग्धा

देख रहा हूं : छोटी होते-होते उसको

ओझल होते।[68]

कवि केदारनाथ की कविताओं में मानव निरपेक्ष प्रकृति का वर्णन बहुत कम हुआ है। उन्होंने धान, शशि, सूर्य, पवन, तरु, बरखा जैसे रोजमर्रा के प्राकृतिक उपादानों द्वारा जिस प्राकृतिक सुलभ-सहजता से उदात्त भावनाओं की अभिव्यक्ति कर दी है, वह देखते ही बनता है। कवि का मानना है कि मनुष्य प्रकृति से जितना ही जुड़ा रहेगा वह संकीर्ण स्वार्थों से उतना ही अलग रहेगा। उसकी संवेदना व्यापक होगी, वह जीवन की सुंदरता को खुलेपन से ग्रहण कर सकेगा। कवि प्रकृति को देखकर ही अपनी भावनाओं, असफलताओं, मृत्यु, भय, यश, अपयश, आदि पर विजय पाता है। प्रकृति में जैसे मौत नहीं होती, वहां जीवन की निरंतरता रहती है, वैसे ही कवि अपने अंत को पूरी उदारता से स्वीकार करता है। यह सीख उसे प्रकृति से मिली है, रवींद्रनाथ टैगोर ने उचित ही कहा था कि 'प्रकृति हमारी शिक्षक है'। अतः कवि प्रकृति की सीख को स्वीकार करते हुए कहता है-

डूबा हुआ हर रोज

किनारे तक आ-आकर
लेकिन मैं हर रोज
उगा हूं जैसे दिनकर,
इससे मेरी असफलता भी मुझसे हारी
मैंने अपनी सुंदरता इस तरह संवारी।[69]

कवि केदार के यहां प्रकृति का वितान बहुत लम्बा और गहरा है, वे कविता के पट को प्रकृति के हर रंग-रूप से रंगे हैं। आकाश, पहाड़, पेड़, खेत, बारिश, पशु-पक्षी, नदी, जंगल सभी केदार की तूली के अंग बने हैं। सुबह, शाम, दिन, रात, धूप-चांदनी, हरियाली, बसंती सब कुछ उनके यहां सामान्य रूप में प्रकट हुए हैं। केदार को सभी फूल पसंद हैं किंतु उनका विशेष आकर्षण गेंदा और गुलाब पर है। जिनकी चर्चा वे अकसर अपने कवि मित्र रामविलास शर्मा से करते रहे हैं। वे अपने पत्र में लिखते हैं- "धूप-छांह में मेरी याद आई। गहगहे गुलाबों के मुंह से उड़ी सुगंध ने तुम्हें अवश्य ही मेरी याद दिलाई। न सही गेंदें, हमारे इस पत्र को इस बार गेंदों का पेड़ समझ लेना। सरसों तो मन में बसी रहती है चाहे देखें या न देखें।"[70] प्रकृति के प्रति केदार सहज ही आकर्षित होते है, हरियाली उन्हें मोहती है और फूलों से आह्लादित होते हैं-

मैंने जब देखा-
सावन था,
बादल थे,
इससे कम देखा था!
अब तो यह फागुन है,
फूलों में देखा है,
रंगों से, गंधों से
बांधे तन देखा है :
इससे अब देखा है।[71]

केदारनाथ अग्रवाल को धरती, पानी, पहाड़, हवा और सूरज से बेहद लगाव है। जिनका चित्रण वे अनेक रूपों में करते हैं, वे एक ही दृश्य को भिन्न-भिन्न मानसिक दशाओं में अलग-अलग संवेदनाओं के साथ अंकित करते हैं। कवि के प्रसन्न होने पर प्रकृति रमणीय और उल्लास प्रदान करती दिखाई देती है, वहीं कवि के निराश होने पर प्रकृति उदासीन हो जाती है। उनकी आत्मीय 'केन' नदी कभी नौजवान ढीठ लड़की बनती है, तो कभी अपने पानी में सो जाती है। वे अपनी भावनाओं को प्रकृति के उपकरणों से चित्रित करते हैं। 'दिन अच्छा है' कविता में दिन का चित्रण प्रसन्न करने वाला है-

दिन अच्छा है
नटी नदी के दृढ़ नितंब की तरह खुला है

पानी जिसको परस रहा है मधुर चाव से
उस नितंब को खुले दिवस को जी भर देखो
दिन अच्छा है
बीच खेत में बड़े सांड़ की तरह खड़ा है
गाएं जिसको निरख रही हैं, मुग्ध भाव से
उस मनचीते वृषभ दिवस को जी भर देखो।[72]

उपर्युक्त कविता में कवि पर्यटन करने वाला दर्शनीय दृष्टिकोण ले कर प्रस्तुत हुआ है। दिन की व्यापकता और मन की उड़ान के साथ कोमल भावों को भीषण दिन दबा रहा है। निचाट धूप भरे दिन की भीषणता होने पर भी मन में कोमल काम्य भाव है क्योंकि मन अच्छा है, इसलिए दिन अच्छा है।

जब कवि उदास होता है तो उसे प्रकृति भी उदास लगती है और उसके उपकरण भी प्रसन्नता की जगह उदासी पैदा करते हैं। 'उदास दिन' कविता में कवि ने दिवस की उदासी का व्यंजक चित्र खींचा है-

वह उदास दिन
पेंशन पाये चपरासी-सा,
और जुए में हारे जन-सा,
आपे में खोये गदहे-सा
मौन खड़ा है।
रवि रोता है
मां से बिछुड़े हुए पुत्र-सा।
धूप पड़ी है
परित्यक्त पत्नी-सी कातर।
पांव कटाए
हवा लढ़ी पर लेटे-लेटे,
धीरे-धीरे
अस्पताल की ओर चली है,
सुबुक रही है!
एक टांग पर खड़े,
देह का भार उठाए,
ऊंचे-ऊंचे पेड़ पुरातन
वनस्थली में तप करते हैं
जटा बढ़ाए।[73]

कवि केदार के यहां प्रकृति का ऐसा अवसादमय चित्रण लगभग नहीं मिलता है। यहां कवि के दुखी होने के कारण संपूर्ण प्रकृति करुणा और विषादमय प्रतीत होती है। प्रातः काल की वह लालिमा जो जीवन और स्नेह का राग उत्पन्न करती है, विषाद युक्त होने के कारण निराशा और अवसाद के दृश्य पैदा कर रही है। यहां रवि रोता हुआ दिखता है, जबकि केदार उसे चेतन प्रतिभावान विजेता के रूप में हमेशा देखते हैं। "हर कविता की धूप, हर कविता की नदी, हर कविता का सूर्य, हर कविता का गेहूं, अपनी अलग-अलग छवियों और ध्वनियों के साथ हमारे संवेदन जगत को समृद्ध करता है।"[74] कवि केदार प्रकृति को जीवन-संघर्ष में प्रेरणा देने वाली शक्ति के रूप में देखते हैं। कवि के अधिकांश चित्र कोमल और सुंदर हैं। उन्होंने प्रकृति को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा है, उनके द्वार रूपायित प्रकृति अनेक रूपा और बहुआयामी है।

सूर्य मनुष्य को हर्षाता है और जेठ-बैसाख में उसे झुलसाता भी है। प्रकृति के विभिन्न रंग हैं, व्यक्ति की स्वयं चेतना पर निर्भर करता है कि वह किस रंग में रंगता है। "केदार सूरजमुखी कवि हैं, धरती पर पैर जमाए उसकी ऊष्मा सह लेते हैं।"[75] कवि पूरी हिम्मत और सजगता से कहता है-

मैंने आंख लड़ाई
गगन विराजे राजे रवि से, शौर्य में;
धरती की ममता के बल पर।
मैंने ऐसी क्षमता पाई।[76]

प्रकृति चित्रण में कवि ने प्रकृति के किसी भी रमणीय दृश्य के अंकन करने से अपने को वंचित नहीं रखा। केदार की प्रकृति रचना में क्षण तो छूटा ही नहीं बल्कि अनंत को भी बांधा गया है। यही प्रकृति के सर्वोत्तम चितेरे कवि की श्रेष्ठतम विशेषता है। केदार के काव्य में प्रकृति के महत्व को बताते हुए डॉ. रणजीत का कथन है- "हिंदी के प्रगतिशील कवियों में केदार अपने प्रकृति प्रेम और आंचलिक कविताओं के कारण याद किए जाते रहेंगे।"[77] केदार की कविताओं में प्रकृति का जो वर्णन मिलता है, उसमें वह बोलती हुई दिखाई देती है। कवि बाबा नागार्जुन की सुप्रसिद्ध कविता 'बादल को घिरते देखा है' में जो बादलों के घिरने का वर्णन है, उससे अलग कवि केदार की कविता 'नागार्जुन के बांदा आने पर' में मित्र के स्वागत के लिए आषाढ़ी बादल जैसी केदार की जो स्वागत-याचना है, वह बिन बरसात तन-मन को भीगो देती है। इतनी सरल और मंत्रमुग्ध कर देने वाली सहज अभिव्यक्ति पाठक को कवि की भाव दशा से अभिभूत कर देती है। केदार इतने उच्चकोटि के भावुक कवि हैं जो सच्चाई और संवेदना में जीते है। इस भावुक शक्ति के वरदान से न केवल वे मनुष्यों की हंसी-खुशी, रंग-ढंग, दुख-विषाद को पढ़ लेते हैं बल्कि प्रकृति और पशु-पक्षियों की संवेदनाओं का बोध करते हैं।

व्यंजना के कलाकार कवि केदार केवल प्रकृति में मानव जीवन को ही नहीं अनुभूति करते बल्कि प्रकृति में पलने वाले पशु-पक्षियों तथा जीव-जंतुओं के कुशल क्षेम का भी ख्याल रखते हैं। पशु-पक्षियों के राग-द्वेष और जन्मोत्सव में कविता के साधन से शरीक भी होते हैं। यहां कवि गिलहरी के जन्म दिन में शरीक होता है-

नीम के पेड़ पर
चढ़ी बैठी
आज
अपना जन्म-दिन
मनाती है
सखी-सहेलियों के साथ
अल्हड़ गिलहरी
जैसे कोई
राजकुमारी
राजमहल के अंतरंग में
मनाए अपना जन्म-दिन
राज परिवार के साथ।[78]

कवि केदार पेड़-पौधों से रिश्ता रखते हैं, एक ओर जहां गिलहरी का जन्म दिन मनाते हैं वहीं दूसरी ओर अनार के पेड़ से भाई का संबंध जोड़ते हैं तथा उससे फूलने का ज्ञान मांगते हैं ताकि वे अपनी कविताओं को दुनिया भर में फैला सकें-

काश!
मैं भी फूलता
मेरे भाई अनार!
देता, तुम्हारी तरह, मैं भी
लपट मारती कविताओं के फूल
क्रांतिकारी फूल।[79]

केदार जीवन के गहरे पारखी थे, इसलिए वे अपनी कविता के लिए कथ्य लोक में व्याप्त मुहावरों से भी लेते हैं। जिसे प्रकृति और उसके जीवों से जोड़ देते हैं। उसका पूरा प्रभाव मानव के क्रिया-कलाप पर किस प्रकार पड़ता है, उसका भी वे संकेत करते है। कवि प्रकृति के रूप और कुरूप दोनों चित्रों में रंग भरता है तथा उसे मानव जीवन के लिए उपयोगी बना देता है। केदार सृजन के कवि हैं, उन्हें कच्चा माल जैसा भी मिले किंतु उसे वे सुंदर और उपयोगी बना देते हैं। 'श्रीमान गिरगिटान' कविता में अयोग्य व्यक्तियों के उच्च पदस्थ होने पर उनके अहंकार और योग्यहीनता के मिलने से, कैसे रथ-चक्र रुक जाता है-

सिंहासनस्थ हैं श्रीमान गिरगिटान
मेरे गुलाब के फूले खड़े पेड़ पर,
प्रकृति की रम्य रचना का आस्वाद लेते
सुगंध से संतुष्ट।
गिरगिटान कोई और नहीं,
राज-रथ पर सवार मंत्री लगता,
जिसके चलाए
रथ-चक्र नहीं चलता है।[80]

कवि केदार ने उक्त दृश्य बिंब के अलावा प्रकृति के अनेक चलचित्र भी खींचे हैं, उनका मानस लोक जीवन से बहुत संलिप्त है। जब आम आदमी पर किसी प्रकार का कष्ट पड़ता है तो केदार कहर उठते हैं। कष्ट की संवेदना केदार तक उसी प्रकार व्याप्त होती है जैसे वह वास्तविक रूप में होती है। महाराष्ट्र में आए अचानक भूकंप ने हजारों-लाखों के जान माल को क्षति पहुंचाया। प्रकृति के इस अचानक आए प्रकोप ने कवि को हिला दिया। कवि उस दुर्दांत भूकंप को अपनी कूची से यों चित्रित किया है कि वह भूकंप आंखों के सामने साकार हो उठता है। भूकंप जैसी घटना को शब्दों के माध्यम से सजीव चित्रण करना कि वह पाठक को उसके वास्तविक रूप में दिखने लगे, आसान बात नहीं है, ऐसा सजीव चित्रण केदार जैसे विरले रचनाकार ही कर सकते हैं। प्रस्तुत है मराठवाड़ा में आए भूकंप का वह गतिबिंब-

मराठवाड़े की
सुस्थिर धरती
अस्थिर हुई
कांपी-डोली
गोद के गांव
हजारों-हजार मकान
न रह सके खड़े
गिर गये
ढह गये।
सोये पड़े लोग
सोये-के-सोए रह गए।[81]

केदार की कविताओं में ग्रामीण जीवन की छटा बिखरी है। कोई बिरला ही कवि होगा जो रसोई घर में झांकता हो, रसोई घर को तो औरतों के नाम पट्टा कर दिया गया है, वहां खाना कैसे मिलता है?, खाना बनाने की क्या परेशानियां हैं? शायद ही पुरुष समझ पाएं। किंतु आधुनिक समाज में जो गैस के साथ बदलाव आ रहा है, उस पर खाना बनाने का अनुभव आज

के भद्र पुरुषों में अपेक्षाकृत ज्यादा मिलता है। किंतु ग्रामीण जीवन में खाना बनाना आज भी एक कठिनतर और आंख फोड़ू काम है और यह ज्यादातर श्रीमतियों या औरतों के नाम है। किंतु केदार की लोक-संवेदना उनको रसोई तक खींच ले जाती है और बटुली पर भात चुरने का दृश्य और धुएं से आकुल बच्चे, खाने का इंतजार करते लोग, आग का धधकना, भाप, बारंबार उठती बैठती बटुली के ढक्कन, इन सबका यथार्थ दृश्य-चित्रण केवल केदार जैसा लोक-पका कवि ही कर सकता है। केदार से पहले ऐसी कविताएं लगभग नगण्य हैं। अतः यह कहने में अनुचित नहीं होगा कि लोकजीवन की संवेदना के प्रणेता कवि केदारनाथ अग्रवाल ही हैं। 'आग पर चढ़ी 'बटुई'' लोक-जीवन की चरमराती दशा का सच्चा चित्रण है-

आग पर चढ़ी 'बटुई'
खुदुर-खुद
खुदबखुद करती है
भाप है
की ठेलती-ठालती
कटोरी को
बारंबार उठाती-बैठाती है
बटुई के मुंह पर।
जलती-जगाती
लकड़ियों की धधक में
चूल्हे पर चढ़ा चावल चुरता है।
धुंआई बिटिया
अंसुआई बैठी
कोठे में, देखती है
पेट के पालने का
हो रहा आतुर उपचार;
सुनती हुई
भूखोद्धार का मंत्रोच्चार।[82]

उक्त छोटी कविता अपने आप में सारी ग्रामीण संवेदनाओं को दबोचे हुए परिपूर्ण चित्र है। जिसमें कवि केदार ने कई सच्चे प्रश्न भी खड़ा किए हैं और उसके उत्तर भी उसी में समा दिए हैं। गांव के सामान्य परिवारों के बच्चों के पालन-पोषण की दशा, गांव के लोगों के जीवन स्तर, आवश्यकतानुसार आवास का अभाव, जीवन के लिए न्यूनतम वस्तुओं का न जुटा पाना, आर्थिक तंगी और बदहाली का जीवन सबको कवि ने एकाकार कर दिया है। यह लोक का प्राकृत सम्पुट चित्र है।

आषाढ़ के बारिश की कविताएं तो हजारों में मिल जाएंगी, उसके सौंदर्य का विमोहित रूप का वर्णन तो प्राचीन काल से किए जाने की साहित्य में परंपरा है। जेठ की तपन के बाद आषाढ़ नये जीवन की आशा का आधार होता है, आषाढ़ का पानी तप्त धरती को शीतल कर देता है, चहुंओर हरियाली छाने लगती है, किसान अपने खेतों में हल-बैल के साथ पहुंच जाता है। आषाढ़ में बादल घन-घोर गर्जन-तर्जन करते हैं, दामिनी दमकती है, आंधी और तूफान कितने कितने पेड़-रूख उखाड़ देते हैं, जान-माल का भी नुकसान होता है। इन सबके बावजूद भी धरती और उसके वासी प्रसन्न हो कर आषाढ़ के बारिश में भीगते है, खिलते है, हरे-भरे होते है, वातावरण में आशा और उन्माद होता है।

किंतु इसका दूसरा पक्ष भी है जो कड़वा सच है, जिसे मनुष्यों की स्वार्थ लोलुपता ने पैदा किया है। जेठ मास की गरमी हर बार होती है, किंतु आषाढ़ की बरखा अनिश्चित होती जा रही है। पहले भी सूखा पड़ता था, बरखा कम होती थी, किंतु इस औद्योगिक युग में वर्षा निरंतर कमतर होती जा रही है, जिसका किसानों के जीवन पर सीधा और अन्यों के जीवन पर परोक्ष रूप से गहरा असर पड़ रहा है। आज खाद्य पदार्थों के दाम आसमान छू रहे हैं तो उसका एक कारण किसान और कृषि का संतुलित विकास न होना भी है। केदार जीवन की संवेदना के कवि है, इसलिए वे अनुभूत कर पाए, कि जब आषाढी बादल नहीं आते और आषाढ़ मास भी जेठ की तरह तपे तो क्या दशा होती है-

उतरा जेठ,
चढ़ा आषाढ़,
न आया बादल एक,
वही वही है
दारुण दाही
आतप का अतिरेक।[83]

जेठ की गर्मी लोग आषाढ़ के भरोसे सह लेते हैं, क्योंकि बरखा की आशा बनी हुई है। यह आशा बहुत काम की चीज है, जब तक यह बनी है समझो विश्वास बना है, व्यवस्था नहीं चरमराएगी। किंतु जैसे ही आशा टूटती है तो बड़ी-बड़ी सत्ताओं को भी ज़मीदोज़ होने में देर नहीं लगती। यही आशा आषाढ़ के बादल जब तोड़ देते हैं तो किसानों पर क्या बीतती है, कल्पना कर सकते हैं-

आया तो आषाढ़
-न आया जैसे आया-
आग बुझाने वाले अनुचर
मेघ, न लाया;
दहन-दाह से

धधक रही है
व्याकुल काया;
पीड़ित प्यासी
ढूंढ़ रही है तरु की छाया।[84]

केदार जीवन के गायक है, उनके यहां जीवन का हर रूप खिला है। वह सुरूप हो या कुरूप हो किंतु वह जीवन का गान होता है, उसमें जीवन रूपी कोयल कुहकती है और लोक रक्षा की बांसुरी का संगीत बजता है। कुछ विद्वान केदार को गांव का कवि मान कर उनकी कविताओं के महत्व तक नहीं पहुंच पाते हैं, शायद उन्हें ग्रामीण लोक जीवन का यथार्थ अनुभव नहीं होता है, इसलिए वे केदार की कविताओं की गहराई का बोध तक नहीं कर पाते हैं।

केदार प्रकृति के लिए कविता नहीं लिखे हैं, उन्होंने जीवन का गान गाया है, प्रकृति उनके गान का स्वाभाविक अंग बन गई है। डॉ. मधुछंदा के शब्दों में "प्रकृति मानव की चिर-सहचरी रही है। वह मानव-जीवन की अनेक स्थूल-सूक्ष्म आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और उसकी आंतरिक अनुभूतियों को भी प्रभावित करती है। फलतः कवि काव्य-सृजन करता है तो वहां प्राकृतिक सौंदर्य अंकित हो जाता है।"[85]

केदार के काव्य में भी प्राकृतिक सौंदर्य अंकित हुआ है, वे प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों रूपों में मंगल कामना देखते हैं। केदार सच्चे अर्थों में लोक मंगल के कवि हैं, लोक की पीड़ा वे सहन नहीं कर पाते और लोक की हंसी-खुशी वे छिपा नहीं पाते, इसलिए तो बादल की बेटी दामिनी जब बरखा बहार लेकर आती है तो पूरी प्रकृति जवान हो जाती है-

बादल की बेटी दामिनी दमकी
आदमी की आंखों में
कामिनी चमकी;
बादल मारता रहा बौछार
आदमी खाता रहा बौछार;
खेत को मिला पानी
आसमानी
अन्न को
मिली लासानी जवानी।[86]

कहावत है 'जल ही जीवन है'; आलोच्य कवि उसी जल के महत्व को दुनिया के सामने लाता है, क्योंकि उसे पता है, जल के बिना जीवन असंभव है, इसलिए जीवन की गीत गाने वाला कवि जल की भी गीत गाता है। जल से जीवन का निर्माण होता है, जल से धरती सजती और संवरती है, जल से पेड़-पौधे हरे होते हैं। इसलिए यह जल केदार के लिए बहुत माने रखता है, उनकी कविताओं में बादल और पानी अपने विविध रूपों में चित्रित हुए हैं। कहीं इनके बिना

जीवन उखड़ा है तो कहीं ये जीवन और जगत को सिंचित कर जीवन दान देते हैं। प्रस्तुत है 'ठूँठ में जय की जवानी' कविता जहां जल से जय का गहरा संबंध बना है-

नये आये मेघ,
बरसा नया पानी;
लौट आयी
ठूँठ में जय की जवानी।
दामिनी ने
आईना इसको दिखाया,
हर्ष से यह हरा होकर
हरहराया।[87]

कवि की उक्त कविता में प्रकृति के चित्रण के साथ-साथ जीवन के विकास की भी गाथा गाई गई है। मेघ ने वर्षा द्वारा ठूँठे पेड़ को पानी दिया अर्थात उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की और दामिनी ने उसे आईना दिखाया अर्थात ऊर्जा ने आगे बढ़ने के लिए उत्साह बढ़ाया और मार्ग दिखाया, जिस कारण से हर्षित होकर ठूँठ भी हरा-भरा हो गया। उक्त कविता देखने में बहुत छोटी है किंतु उसमें संदेश पूर्ण, स्पष्ट और गहरा है। यदि विकास के कार्यों में लगे लोग इस प्रकार सोचने लगें तो गांव और देहात का विकास होने में कुछ ज्यादा समय नहीं लगेगा।

केदार की ज्यादातर कविताओं निरपेक्ष प्रकृति से जुड़ी नहीं हैं, प्रकृति उनकी कविताओं में एक साधन के रूप में उपस्थित हुई है। कविता रचना करना केदार का व्यवसाय नहीं था बल्कि समाज के विकास के लिए उन्होंने कविताएं लिखी हैं। वे कोई चारण कवि नहीं थे कि मौसम के अनुसार विषय और कथ्य-वस्तु बदलते रहें। कविता उनके मानस से निकलती थी, उनके काव्य में प्रकट संसार उनके मानस का ही अभिव्यक्त रूप है। यह बात अन्य कवियों के ऊपर लागू नहीं होती है। अन्य कवि सप्रयास कविता रचते है, किंतु केदार के यहां विचार-भाव-क्रिया के मेल से काव्य बनता नहीं, बल्कि बन जाता है। डॉ. रवींद्रनाथ मित्र के शब्दों में "कवि केदार पर उनका वकालत का पेशा कभी हावी नहीं हुआ। लोकजीवन की खरी बात का उन पर अधिक प्रभाव है। रोजमर्रा की जिंदगी के विचार, आचरण, अनुभव आदि उनकी अनुभूतियों में रच-बस गए हैं। वे अपनी अनुभूतियों को खूब सजा-बजाकर पेश नहीं करते बल्कि भक्क और धक्क की अंदाज में ठेल देते हैं।"[88] यही कारण है कि उनके यहां कविताएं बनाई गई नहीं बल्कि जन्मी हुई हैं। इस लिए निरपेक्ष प्रकृति वर्णन की कविताएं कवि के वास्तविक प्रकृति-चित्रण की तुलना में अल्प संप्रेषणीय हैं।

कहीं कहीं कवि का मन रमा है और वे ऐसे स्थलों पर निरपेक्ष प्रकृति पर कविता रच दी है। फिर भी उनकी इन कविताओं में व्यंजना भाव समाहित है। अभिधा अर्थ की कविताएं केदार के काव्य में मिलती ही नहीं। प्रातःकाल का एक दृश्य प्रस्तुत है-

भा भिंसार
उजाला फूला,
सुख का झूला,
अब, पेड़ो ने
साथ हवा के
जी भर झूला।
चिड़ियां–
सस्वर
चह-चह चहकीं,
भाव-विभोर हुईं, इठलाईं।[89]

कवि केदार गवंई जीवन आजीवन जीते रहे, वे एक प्रसिद्ध वकील थे, क्षेत्र में उनकी ईमानदारी का सबको विश्वास था, वे सदैव सच्चे का साथ देते, जन साधारण उन्हें प्यार से बाबू जी कह कर बुलाता था। इतनी आत्मीयता और इतना प्रेम वह इसलिए पाते थे कि सभी को विश्वास था कि कवि और वकील केदार आम-आदमी से आत्मीयता रखते हैं। गांव और प्रकृति के साथ जीने में उन्हें रस मिलता था। गांव में चारों प्रकार की हवाएं बहती हैं किंतु मुख्यतः दो पछुआ और पुरवैया ही हैं। दखिनहिया और उतरहिया उस समय बहती हैं जब बारिस या चक्रवाती मौसम होता है, ये दोनों हवाएं क्षणिक और अल्पकालिक होती हैं। किंतु पछुआ और पुरवैया सामान्य हवाएं हैं, गरमी के दिनों में पछुआ बहने का अर्थ होता है अधिक गरमी और बारिश का न होना। जबकि पुरवैया शीतल और बारिश लाने वाली हवा के रूप में जानी जाती है।

जेठ की गरमी में तप्त धरती और गरमी से व्याकुल लोग पुरवैया हवा का इंतजार करते हैं, पुरवैया की शीतलता पूरे वातावरण को ठंडक पहुंचाती है। पुरवैया के साथ बरखा रानी का प्रवेश होता है जिससे दूब नरमा जाती है और धरती हरी हो जाती है। इसी लोक-भाव को कवि केदार ने अपनी पुरवैया कविता में व्यक्त किया है-

कोमल दूब हरी धरती पर
विद्युत की शोभा से सजकर
नाच रही युवती पुरवैया।
लय में लीन अचंचल होकर
एक दृश्य हो रही मनोहर
चारु चित्र चंचल पुरवैया।

* * *

बजते हैं बूंदों के घूँघर

होता है मादक मीठा स्वर

करती है छम छम पुरवैया।।[90]

केदार अपनी कविताओं में मच्छर को भी जगह देते हैं। मच्छर जो सबको काटता और परेशान करता है, उसे भी परेशान करने वाली छिपकली उसके लिए घात लगा कर छिपी होती है। वैसे ही दुनिया के लिए मौत हमेशा तैयार बैठी है-

मस्ती में झूमते मच्छण महाशय जी

कोने में पहुंचे जब गाते सितार पर

फौरन मुंह खोलकर नन्हीं छिपकली ने

गुट्ट से गुटक लिया![91]

केदार के घर की मुंडेर पर गौरैया का घोसला है, गौरैया अपने दैनिक क्रिया-कलापों से केदार को क्रोधित और आकर्षित दोनों करती है, क्योंकि उनके घर में किसी व्यक्ति को फुर्सत नहीं है, फिर भी कवि को वह प्रिय है-

मेरे ऐसे घर में,

जिसे बहुत फुर्सत है

यही गौरैया है।

इसका एक खोंचकिल है

खपरों के नीचे और धन्नियों के बीच में;

नाचती है, कूदती है, आंगन में;

एक ही उछाल में

ऊंचे अक्कास में

ऐसी तन जाती है जैसे वहां घर हो।[92]

केदार की कुछ अन्य कविताएं विशेषकर जो प्रकृति सापेक्ष हैं, बहुत सुंदर रचनाएं है जैसे- 'चंद्रगहना से लौटती बेर', 'बसंती हवा' आदि। ये दोनों कविताएं प्राकृतिक सापेक्ष होते हुए भी व्यंजना अर्थ से आप्लावित हैं। ये भारतीय ग्रामीण कृषक संस्कृति और नारी के स्वच्छंद स्वरूप का बेहतरीन गतिचित्र हैं। किंतु कवि ने अत्यल्प किंतु बेहतरीन प्रकृति मात्र से संबंधित कविताएं लिखी हैं, उनमें से एक कविता 'आज सुबह से' जो श्रावण मास में गगन में छाएं हुए रंग-बिरंगे बादलों के सौंदर्य का चित्रण है, जिसे कवि बादलों और किन्नरियों के बीच होने वाले मधुमास के रूप में देखता है। प्रकृति के मानवीकरण का यह अति सुंदर उदाहरण है-

आज

सुबह से

किन्नर-कुल के मोदी बादल

रवि-रंजित

अनुरागी-रागी
रंग-अबीर-गुलाल उड़ाते
धूमधाम से खेल रहे हैं होली
आसमान के
खुले वक्ष के
रंग-महल में
खेचर-कुल की किन्नरियों के साथ
देश-काल की
विपुल व्याप्ति में
लब्ध समाये
महामही को मुग्ध बनाए।[93]

धरती और आसमान के इस रंगीन मिलन का प्रात-सौंदर्य अविस्मरणीय होता है। किसी मैदानी भाग में बैठकर जहां से आसमान पूरी तरह और सभी दिशाओं में दिखाई देता है, चारों ओर हरियाली छाई होती है, धरती सांवली और गीली होती है, चिड़िया-चिरोवन आसमान में पांती बांधे उड़ते रहते है, नीचे धरती पर पशु हरी घास को चरने में मग्न होते हैं। नदी के किनारे रेत पर बैठकर आलोकनीय यह दृश्य धरती को मोहिनी और आसमान को मधुमास बना देता है। ऐसा उत्तम प्रकृति-चित्रण बिना आंखों से देखे और हृदय से महसूस किए, खींचना असंभव है। उक्त चित्र में वास्तविक प्राकृतिक सौंदर्य है। इसमें किसी क्रीम और पावडर का प्रयोग नहीं है। यह कवि की आंखों से देखा और मानस की अनुभूति से पैदा हुआ गतिमान चित्र है। इस प्रकार की उच्चकोटि का प्रकृति निरूपण कलाकार की अद्‌वितीय श्रेष्ठता को प्रकट करता है।

डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है- "वैदिक कवियों की तरह केदार के लिए अग्नि विश्व का मूल तत्व है, यह समस्त प्रकृति में व्याप्त है। उसका तेज सबसे ज्यादा सूर्य में प्रकट होता है।"[94] प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल अपनी कविताओं में सूर्य, धूप और उजाला का प्रायः उपयोग करते हैं, लोक-संवेदना से अभिभूत कवि इसके द्‌वारा सामान्य जनता में ज्ञान की अग्नि जलाने का आजीवन भगीरथ प्रयास किया है, उनकी हर कविता अंधेरे को मिटाने का प्रयास लगती हैं। अंधेरे में रहने वाले व्यक्ति का जीवन कितना असहाय और बेबस होता है यह 'रात' कविता में उन्होंने चित्रित किया है। 'रात' जो तम की रानी है वह भी जलती ज्वाला और पौ फटने की प्रतीक्षा कर रही है। इस प्राकृतिक कविता का प्रतीकार्थ लोक-जीवन की व्यापक संवेदना को समेटे हुए है-

मैंने देखा
लम्बी रात

मेरे दरवाजे के पास
काला कंबल ओढ़े आयी;
वह रोती है,
लम्बे काले बाल
चुचुहाते हैं;
तन भीगा है;
बेबोले ही,
कंपते कंपते हाथ बढ़ाए,
मांग रही है जलती ज्वाल
पौ फटने की!![95]

केदार छोटी और पूर्ण चित्र खींचने वाली कविताओं के महारथी रचनाकार हैं, थोड़े में वे 'दोहे' के समान सब कुछ कह देते हैं। उनके काव्य कथ्य में जिम्मेदारियों का बोझ है, जिसे वे अपनी प्रकृति सापेक्ष कविताओं में भी व्यक्त किया है। उनकी कविताएं मनुहार करने के लिए नहीं हैं बल्कि वे मशालें हैं जो स्वयं जलकर लोक का मार्ग आलोकित करती हैं। केदार की संवेदना को सटीक पहचानते हुए डॉ. कमला प्रसाद ने लिखा है कि "केदार अग्रवाल की कविता का स्वभाव हिंदुस्तान की काव्य परंपरा से जुड़ा हुआ है। परंपरा अर्थात विचार, भावबोध, भाषा तथा बिंब आदि सबकी परंपराओं से उसकी संगति है। उनकी कविता हृदय से निकलती है"[96] यह तो सही है कि अपनी रागात्मकता में भारतीय अनुभव को केदार की कविताएं कहीं से असहज नहीं प्रतीत होती हैं, मगर यह भी उतना ही सच है कि केदार ने परंपरागत भाववादी सौंदर्यबोध तथा सौंदर्य के प्रति कोमल, सुकुमार, छुईमुईपने से भरी धारणा का विरोध किया है। उनके सौंदर्यबोध की प्रक्रिया स्थिर और जड़ न होकर गत्यात्मक है। वे विचारों को जीवन के अनुभवों से समरस करके उन्हें ऐंद्रिय बिंबों में रूपांतरित करना अच्छी तरह से जानते हैं। भारतीय जीवन प्रणाली में उसके सहज रसबोध को महसूस करते हैं तथा जीवन को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकारते हैं।

डॉ. मधुछंदा कवि के काव्य में प्रतिष्ठित प्रकृति चित्रण पर विचार करते हुए लिखा है कि "केदार अपनी कविताओं में प्रकृति को सामाजिक विसंगतियों के विरोध (कंट्रास्ट) के रूप में भी देखते हैं। प्रकृति में संकीर्ण स्वार्थांधता नहीं है। आदमी के समाज की तरह बंटवारा नहीं है। प्रकृति में मुक्ति है जबकि मनुष्य-समाज में तरह-तरह के बंधन हैं। यहां शोषण और उत्पीड़न है। कवि को प्रकृति मानव-मुक्ति की प्रेरणा देती है।"[97] कवि केदार जिस युग की स्थापना करना चाहते हैं उसे वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

खुल गया हूं मैं,
धूप में धान की खेत की तरह,

हर्ष से हरा-भरा
भीतर-बाहर लहरा।
मुझे देखता है
मेरा ही विरोधी व्यक्तित्व
लालची निगाहों से।[98]

सारांशतः कहा जा सकता है कि कवि केदार प्रकृति से सजीवों की तरह प्रेम करते हैं। वे जीवन संघर्षों से हार मानकर प्रकृति की गोंद में नहीं बैठते बल्कि मानव जीवन को सुष्ठ करने के लिए वे प्रकृति प्रेम के निवेदक हैं। इसलिए प्रकृति के उन्हीं रूपों ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया है, जो उनके गांव या शहर के आसपास पसरा हुआ है और जिससे लोक-जीवन का गहरा संबंध जुड़ा है। कवि इस सुपरिचित प्रकृति के साथ आत्मीय संवेदना अनुभव करता है और उससे मिलकर एक रूप, एक रस हो जाता है। कवि को बुंदेलखंड की प्रकृति और वहां के जन-जीवन के यथार्थ से गहरा लगाव है, यहीं बुंदेलखंडीय जीवन उनकी काव्य संवेदना में प्रकट हुआ है। किंतु यह संवेदना जनपदीय न रहकर राष्ट्रीय लोकधर्मी संवेदना बन गई है। उनके प्रकृति-चित्रण में यही लोकधर्मी संवेदना सर्वत्र देखी जा सकती है। प्रकृति-चित्रण में लोकधर्मी संवेदना की संस्कृति उनके काव्य की विशेषता है।

*****

संदर्भ श्रोत

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृति हिंदी कोश, पृ. 619
2. श्री नवल जी, नालंदा विशाल शब्द सागर, पृ. 883
3. सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', रूपांबरा की भूमिका से, हिंदीसमय.कॉम
4. Nature, Dictionary.com, अंतरजाल
5. डॉ. गोवर्धन यादव, संस्कृत काव्यधारा में फूलों की आदिम सुवास (आलेख), रचनाकार.ओर्ज
6. सं. डॉ. पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रंथावली सटीक, 333, 334
7. सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पदमावत : जायसी, पृ. 124
8. तुलसीदास, उत्तरकांड, रामचरित मानस, सं. 7/28/1-2
9. सं. किशोरी लाल, सूर और उनका भ्रमरगीत, पृ. 153
10. मीराबाई, पदावली भाग-6, रचना संख्या-33, हिंदीसमय.कॉम
11. सं. जगन्नाथदास 'रत्नाकर', बिहारी रत्नाकर, पृ. 148
12. सं. चंद्रशेखर मिश्र 'शास्त्री', घनानंद कवित्त प्रथम शतक, पृ. 9
13. पं. प्रसिद्धिनरायण चौबे, लोकचेतना के राष्ट्रीय कवि : शिवमंगल सिंह 'सुमन' पृ. 21, 22
14. वही, पृ. 23
15. डॉ. नंदकिशोर नवल, कविता की मुक्ति, पृ. 42
16. जयशंकर प्रसाद, कविता कोश, बीती विभारी जागरी!
17. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', परिमल, संध्या सुंदरी, पृ. 104
18. सुमित्रनंदन पंत, पल्लव, मोह, पृ. 37
19. महादेवी वर्मा, निहार, विसर्जन, पृ. 2
20. डॉ. निर्मला जैन, आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन, पृ. 74
21. गिरिजा कुमार माथुर, मैं वक्त के हूँ सामने, पृ. 100
22. डॉ. रामदरश मित्र, साहित्य संदर्भ और मूल्य, पृ. 38
23. त्रैमासिक पत्रिका, आलोचना, जनवरी–मार्च 1984, पृ. 79
24. त्रिलोचन, अरघान, पृ. 18
25. सं. नैमिचंद जैन, मुक्तिबोध रचनावाली भाग- 5, पृ. 397
26. साक्षात्कार पत्रिका, अंक 81-84, पृ. 238

27. नागार्जुन, युगधारा, पृ. 69
28. त्रिलोचन, अरघान, पृ. 24
29. गोबिंद प्रसाद, कविता के सम्मुख, पृ. 84
30. नंदकिशोर नवल, अथातो काव्य जिज्ञासा, पृ. 94
31. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 7
32. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 133
33. रमाकांत शर्मा, छायावादोत्तर हिंदी कविता, पृ. 280
34. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ. 48
35. आजकल मासिक, नरेद्र पुंडरीक, मई 2011, पृ. 36
36. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते है; पृ. 171
37. वही, पृ. 97
38. आजकल मासिक, नरेद्र पुंडरीक, मई 2011, पृ. 37
39. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 22
40. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 20-22
41. रमेश रंजक, नये गीत का उद्‌भव एवं विकास, पृ. 21
42. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 95
43. वही, पृ. 30
44. वही, पृ. 29
45. सं. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 58, 59
46. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 33
47. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ. 36
48. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 39
49. वही, पृ. 62
50. केदारनाथ अग्रवाल, खुली आंखें, खुले डैने, पृ. 86
51. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंदी, पृ. 185
52. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 122
53. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 151
54. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 154
55. वही, पृ. 109
56. वही, पृ. 170
57. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 140
58. केदारनाथ अग्रवाल, पंख और पतवार, पृ. 37
59. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 75
60. नंदकिशोर नवल, अथातो काव्य जिज्ञासा, पृ.100
61. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य एवं संवेदना का विकास, 191

62. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 21
63. वही, पृ. 17
64. वही, पृ. 63
65. वही, पृ. 154
66. डॉ. शशि शर्मा, प्रगतिशील कविता में लोकतत्व, पृ. 77
67. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 138
68. वही, पृ. 143
69. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग, बोलते हैं; पृ. 84
70. सं. डॉ. रामविलास शर्मा और अशोक त्रिपाठी, पृ. 361
71. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 36
72. केदारनाथ अग्रवाल, कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह, पृ. 22
73. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 24
74. केदारनाथ अग्रवाल, कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह, पृ. 9
75. सं. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 63
76. केदारनाथ अग्रवाल, अपूर्वा, पृ. 56
77. विजेंद्र नारायण सिंह, केदार व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 105
78. केदारनाथ अग्रवाल, अपूर्वा, पृ. 80
79. वही, पृ. 81
80. वही, पृ. 92
81. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ. 96
82. केदारनाथ अग्रवाल, बोले बोल अबोल, पृ. 24
83. वही, पृ. 123
84. वही, पृ.125
85. डॉ. मधुछंदा, श्रम का सौंदर्यशास्त्र और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 88
86. केदारनाथ अग्रवाल, अनहारी हरियाली, पृ. 28
87. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 63
88. आलोचना त्रैमासिक, डॉ. रवींद्रनाथ मिश्र, जुलाई–सितंबर 2011, पृ. 65
89. केदारनाथ अग्रवाल, अनहारी हरियाली, पृ. 55
90. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ, 81
91. वही, पृ. 84
92. वही, पृ. 85
93. केदारनाथ अग्रवाल, अनहारी हरियाली, पृ. 29
94. सं. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 61
95. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ. 131
96. सं. विजय गुप्त, 'साम्य' पत्रिका, 11 अक्टूबर 1988, पृ. 133

97. डॉ. मधुछंदा, श्रम का सौंदर्यशास्त्र और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 91
98. केदारनाथ अग्रवाल, पंख और पतवार, पृ. 28

*****

चतुर्थ अध्याय

केदार के काव्य में अभिव्यक्त प्रेम संबंधी लोकधर्मी संवेदना

प्रेम की अवधारणा एवं स्वरूप

प्रेम और सौंदर्य मानव मन को सदा से छूता रहा है, प्रगतिशील कवियों में अग्रणी कवि केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में प्रेम और सौंदर्य का व्यापक स्वरूप मिलता है। उनकी सभी रचनाओं में प्रकृति और मानव के प्रति प्रेम का अगाध उत्सर्जन हुआ है। किंतु उनके विशिष्ट काव्य संग्रहों 'नींद के बादल', 'आत्मगंध', 'हे मेरी तुम' और 'जमुन जल तुम' में उनका अपना सांसारिक प्रेम उमड़ पड़ा है। यह प्रेम स्थूल रूप से अपनी पत्नी के प्रति है, किंतु सूक्ष्म रूप में समष्टि की प्रेम संवेदना है। कवि अपनी पत्नी में नारी प्रेम के सभी स्वरूपों को देखता है, कभी वह उसे प्रेमिका, कभी प्रिया, कभी प्रियंवदा, कभी हे मेरी तुम से संबोधित करता है। कवि अपने पत्नी प्रेम को बंधित मर्यादाओं से ऊपर उठा कर स्वच्छंद तथा कर्तव्य एवं जिम्मेदारी से बांध कर कामेच्छा से ऊपर उठा देता है। इसके अतिरिक्त उनका प्रेम जीवन के सभी रंगों से रंगता है और जीवन का व्यापकत्व ग्रहण कर वह सभी मानव का प्रेम बन जाता है। प्रेम की इसी उच्चकोटि की भावना से कवि ने सभी चराचर में प्रेम का सौंदर्य देख पाया। केदार का यह प्रेम सौंदर्य वायवीय और आध्यात्मिक अथवा व्यक्तिवादी, भाववादी, एवं अतींद्रियता का प्रेम नहीं है बल्कि ठोस धरातल पर अवस्थित मानव व प्रकृति का प्रेम है जिसे लोकजन अपने कार्य-व्यापार में दिन-प्रतिदिन व्यवहृत करते हैं। इसे प्रेम सौंदर्य की लोकधर्मी संवेदना कहने में कोई असंगति दिखाई नहीं देती है।

"'प्रेम' प्रिय शब्द का भाववाचक रूप है, जिसका अर्थ होता है तृप्ति। प्रेम शब्द हृदय का वह तृप्त-रूप आनंद है जो व्यक्ति को किसी वस्तु के दर्शन से प्राप्त होता है। विश्व के समस्त स्थावर-जंगम पदार्थों में प्रेम का प्रसार दिखाई पड़ता है। समस्त सूक्ष्म तत्व प्रेम से क्रियाशील बने रहते हैं। वास्तव में देखा जाय तो संपूर्ण जगत और समस्त प्राणियों के कार्य व्यापार में प्रेम ही का वास होता है। प्रेम को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता है। प्रेम जीवन की स्फूर्ति है। प्रेम कर्मण्यता, आशा तथा सतत विकास एवं उन्नति का विधायक है"।[1] सुप्रसिद्ध कवि रामनरेश त्रिपाठी ने इस प्रेम को अनुभूति करते हुए लिखते हैं-

पढ़ो लहर तट, तृण, तरु, गिरि, नभ, किरन, जलद, पर प्यारी,
लिखी हुई यह मधुर कहानी विश्व-विमोहनहारी।
कैसी मधुर मनोहर उज्ज्वल है यह प्रेम-कहानी,
जी में है अक्षर बन इसके बनूं विश्व की बानी।
स्थिर, पवित्र, आनंद प्रवाहित, सदा शांति सुखकर है,
अहा! प्रेम का राज्य परम सुंदर, अतिशय सुंदर है।[2]

प्रेम हर क्षण, हर कण और हर मन में व्याप्त होता है, इसे जीवन से अलग नहीं किया जा सकता है। प्रेम जीवन की स्फूर्ति है, प्रेम कर्मण्यता, आशा तथा सतत विकास एवं जीवन की उन्नति का विधायक तत्व है। प्रेम का रूप व्यक्ति में समर्पण का भाव लाता है अर्थात "प्रेम किसी से भी (मानव, प्रकृति एवं पशु-पक्षियों) किया जा सकता है, यह प्रेम तभी सार्थक होता है जब हम उस जड़ या चेतन वस्तु के प्रति सम्मान, समर्पण एवं भरोसा कर सकें। यह भरोसा व्यक्तिगत स्तर से लेकर सार्वभौमिक स्तर तक जा सकता है। प्रेम एक ऐसी उद्दाम शक्तिशालिनी मनोवृत्ति है जो हृदय में जागृत होने पर अहर्निश अपने आलंबन की प्राप्ति तथा उससे एकमेव होने के लिए सदैव आतुर रहती है।"[3]

भारतीय साहित्य में प्रेम का स्वरूप हमें श्रीमद्भगवद्गीता में देखने को मिलता है। जहां गोपियां कृष्ण के अगाध प्रेम में आसक्त निरंतर उनके ध्यान में मग्न हैं और उन्हीं का प्रेम पाना चाहती हैं। गोपियों का प्रेम प्राब्लय इतना अधिक है कि उसे मोड़ा या तोड़ा नहीं जा सकता है। अतः गोपियों के प्रेम की विशेषता अनन्यता है। यही अनन्य प्रेम भारतीय साहित्य में चातक पक्षी में भी देखने को मिलता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य में प्रेम अनन्यता की विशेषता से युक्त है। आलोच्य कवि केदार के काव्य में व्यक्त हुआ प्रेम सधवा प्रेम है जो अनन्यता के कारण भारतीय साहित्यिक परंपरा का सच्चे अर्थों में वाहक है। अज्ञेय या अन्य कवियों का परकीया या आकर्षण जनित प्रेम भारतीय सांस्कृतिक परंपरा से निकट संबंध नहीं रखता है। वर्तमान समय में बाजार के दबाव और भौतिक साधनों की आवश्यकता ने प्रेम को मोह, लालच और वासना की पूर्ति से जोड़कर उसके उदात्त और समर्पण रूप को चुनौती दे रहा है।

वास्तव में व्यक्ति का व्यक्ति या अन्य चराचर के प्रति भावनात्मक संबंध ही प्रेम कहलाता है। जिसमें प्रेमी अपने आलंबन के हित में सुख-दुख की अनुभूति पाता है। किंतु सजीवों में यह प्रेम, प्रेमी और आलंबन (प्रेमिका) दोनों में मात्रात्मक रूप में उपस्थित होता है। यही भावनात्मक प्रेम, अनन्य प्रेम की उच्चतम दशा है।

प्रेम शब्द के अन्य पर्याय रूप पाए जाते हैं जो प्रेम के अन्य रूपों की अभिव्यक्ति करते हैं- स्नेह, अनुरक्ति, आसक्ति, अनुराग, त्याग आदि। इनसे प्रेम के विविध रूपों और उनके स्तरों का पता चलता है। व्यक्ति और सृष्टि के संबंध और निरंतरता बनाए रखने के लिए तीन वस्तुएं आवश्यक हैं- प्रेम, काम, संतान। यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि प्रेम से काम जब पैदा होता है तो वह निरंतर प्रगाढ़ और आत्मिक होता है कायिक संयोग उसे मधुरतम बनाए रखता है। किंतु इसके विपरीत काम भावना के लिए जब प्रेम उत्पन्न किया जाता है तो वह कायिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु योग होता है। जिसमें कायिक तृषा-तुष्टि के पश्चात वियोग हो जाता है। अतः भारतीय परंपरा पहले प्रेम को उपयुक्त मानती है। 'काम' को इस सृष्टि के जन्म का मूल कारण माना गया है, अतः 'काम' का विवेचन वेद, पुराण, धर्मग्रंथों और साहित्य में प्रचुरता

से किया गया है तथा उसके महत्व को स्थापित किया गया है। काव्य शास्त्र के नौ रसों में 'रति' को शृंगार का स्थायी भाव माना गया है। 'आचार्य विश्वनाथ' ने 'साहित्यदर्पण' में लिखा है कि प्रियपात्र में मन के अनुकूल प्रेमभाव उत्पन्न होना अथवा उसमें भी मन के अनुकूल भाव होना 'रति' कहलाता है-

"रतिर्मनोऽनुकूलर्थे मनसः प्रवणायितम्"[4]

रति के समतुल्य अंग्रेजी में 'रोमांस' शब्द प्रचलित है और यह दो मनोनुकूल पात्रों के बीच उत्पन्न होता है। निश्चित रूप से प्रेम भावना का उदय नर और नारी के अस्तित्व के साथ उदित हुआ। मनुष्य ने निश्चित रूप से अपनी रोमानी और काल्पनिक भावनाओं को इस प्रकार समावेशित किया है कि उसका शारीरिक भौतिक प्रेम संस्कृति में परिवर्तित हो गया है। कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने प्रेम के महत्त्व और इसकी अद्भूत प्रतिक्रिया को स्वीकार करते हुए 'उर्वशी' प्रबंध काव्य में लिखा है कि "कामजन्य प्रेरणाओं की व्याप्तियां सभ्यता और संस्कृति के बीच बहुत दूर तक पहुंचती हैं। यदि कोई युवक किसी युवती को प्रशंसा की आंखों से देख ले, तो दूसरे ही दिन से उस युवती के हाव-भाव बदलने लगते हैं, उसे पोषाक और प्रसाधन में नवीनता की अनुभूति होने लगती है, उसके बोलने चलने में एक नई भंगिमा उत्पन्न हो जाती है।"[5]

इसके विपरीत "जब कोई नारी प्रशंसा-भरी दृष्टि से किसी पुरुष को देख लेती है, अनगढ़-से-अनगढ़ पुरुष के भीतर भी कोई कल्पक जाग उठता है, कोई कविता सुगबुगाने लगती है, सौंदर्य की कोई तृषा जगकर उसे आइने के पास ले जाती है।"[6] आगे दिनकर जी लिखते हैं कि "काम की ये जो निराकार झंकृतियां हैं, वे ही उदात्तीकरण के सूक्ष्म सोपान हैं। त्वचाएं, स्पर्श के द्वारा जो परिचय प्राप्त करती हैं, वह अधूरा और अपूर्ण होता है। पूर्णता पर वह तब पहुंचता है, जब हम सौंदर्य के निधिध्यासन अथवा समाधि में होते हैं।"[7] दिनकर के इस निष्कर्ष से स्पष्ट होता है कि प्रेम का लक्ष्य कायिक संयोग है। किंतु यह प्रेम संयोग के बाद प्रगाढ़ होता है अथवा बिखर जाता है यह उसकी प्राप्ति की भावना पर निर्भर करता है। स्पष्ट है कि नर और नारी के प्रेम में कायिक समाधि ही उसकी पूर्णता है।

जहां भारतीय विचारधारा में प्रेम और काम (सेक्स) दो भिन्न वस्तु हैं, प्रेम में जहां भावनात्मक और आत्मिरक पक्ष प्रधान होता है वहीं काम (सेक्स) में शारीरिक पक्ष प्रधान होता है। फ्रायड और पाश्चात्य विचारधारा प्रेम को शरीर से जोड़कर देखते हैं, वहां प्रेम काम (सेक्स) का ही व्यापक रूप है। 'इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एंड एथिक्स' में बताया गया है कि "प्रत्येक देश में प्रेम के भावनात्मक पक्ष को ही अधिक उच्च, शुद्ध तथा सुंदर माना गया है।"[8] प्रेम के बारे में अर्नाल्ड का मत है कि "प्रेम तभी परिपक्वता को प्राप्त होता है, जब प्रेमी जन एक दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों को, अनेक कष्टों और बाधाओं को झेलकर भी पूर्ण करते हैं।"[9] इस प्रकार पाश्चात विचारकों ने प्रेम को मात्र काम भावना तक सीमित नहीं रखा है बल्कि कहीं

न कहीं वे यह मानते हैं कि काम भावना से प्रेम उत्पन्न होता है, किंतु काम भावना ही प्रेम नहीं है बल्कि प्रेम का एक अंग काम भावना भी है। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि में प्रेम का औदात्य रूप समान है।

किंतु काम भावना से ही विषम लिंगियों के बीच प्रेम उपजता है, वही भाव क्रमशः नर-नारी के बीच प्रेम का आधार होता है जिसकी परिणति 'रति' तृप्ति से दीर्घायु होती जाती है। जहां यह 'रति' अतृप्ति होती है वहां काम-वासना के लिए प्रेम-बंधन को खंडित कर देती है। इसलिए आचार्य वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' के ग्यारहवें श्लोक में लिखा है-

श्रोतत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानां आत्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां ।

स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः ।।[10]

जिसका तात्पर्य है कि कान, आँख, जिह्वा, नाक, त्वचा, इन पांच इंद्रियों की इच्छानुसार शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के अनुसार विषयों में प्रवृत्ति ही काम हैं अर्थात इन इंद्रियों की प्रवृत्ति से आत्मा जो आनन्द अनुभव करती है उसे काम कहते हैं। अतः भारतीय परंपरा में काम को नर-नारी की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति और आत्मा को आनंद देने वाली वृत्ति माना गया है। इस आत्मिक तृप्ति को सहजता से प्राप्त करने का साधन विवाह है जो भारतीय परंपरा में समझौता नहीं बल्कि संस्कार है। जिस के कारण समय के साथ प्रेम प्रगाढ़ होता जाता है।

प्रेम की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

"प्रेम शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'प्रिय' शब्द में 'इमनिच' प्रत्यय लगाने से 'प्र' आदेश पूर्वक संपन्न हुई है। जिसके अनुसार 'प्रेम' का अर्थ 'प्रिय' का भाव अथवा 'प्रिय' होना इत्यादि है। 'प्रिय' शब्द की उत्पत्ति 'प्री' धातु में 'क्' प्रत्यय लगाने से हुई है। जिसका अर्थ होता है- प्यारा, अनुकूल, सुखद, अभिलषित, अनुरक्त, प्रेमी, पति आदि। इस 'प्रिय' शब्द से भाववाचक 'प्रेम' शब्द बना हुआ है। अतः 'प्रेम' सदैव 'प्रिय' के ही प्रति होता है। यहां 'प्रिय' शब्द के स्थान पर ही 'प्र' आदेश है। आदेश का स्थाई वही हो सकता है जो उसका समनार्थक या पर्याय हो। 'प्र' का अर्थ है- अधिक उत्कर्ष और 'इमनिच' का अर्थ है- स्नेह। अर्थात उत्कर्ष स्नेह अथवा अत्यधिक स्नेह। इसलिए 'प्रेम' शब्द अत्यधिक उत्कर्ष स्नेह, प्रीति का वाचक है"।[11]

कहा गया है कि विधाता की संपूर्ण सृष्टि में प्रेम मूल तत्व है। सृष्टि के उद्भव और विकास का कारण प्रेम को माना गया है। प्रेम ही लौकिक और पारलौकिक जीवन के बीच मुख्य सूत्र स्थापित करने वाला माध्यम है। प्रेम अव्यक्त आनंद देने वाला तत्व है जो उसी प्रकार मानस और हृदय को तुष्ट करता है जैसे मूक व्यक्ति को गुण का आनंद प्राप्त होता है और उसे वह व्यक्त नहीं कर पाता है। प्रेम से ही राग पैदा होता है और राग से अनुराग की वृत्ति

फैलती है। जिसके द्वारा व्यक्ति किसी व्यक्ति या वस्तु के गुण, रूप, स्वभाव, शील, सौंदर्य आदि के प्रति आकर्षित होता है। वास्तव में प्रेम सौंदर्य को पैदा करने वाला अजस्र श्रोत है जिससे जीवन और जगत के संबंध बनते और बिगड़ते हैं। अतः कहा जा सकता है कि प्रेम समाज और सृष्टि को गति देने वाला तत्व है।

इस तरह मानव हृदय की समस्त कोमल, उदात्त, आनंद प्रदायी भावनाएं- वस्तुतः प्रेम का ही दूसरा रूप हैं। इसी प्रकार स्नेह, हर्ष, उल्लास, दया, कृपा आदि 'प्रेम' के विभिन्न रूप केवल स्वयं को ही नहीं अपितु दूसरों को भी आनंद प्रदान करते हैं।

मूलतः 'प्रेम' हृदय का वह कोमल मृदुभाव है जो किसी ऐसे व्यक्ति, कर्म, वस्तु आदि के प्रति होता है जिसे वह प्रशंसनीय, श्रेष्ठ और सुख दाता मानता है तथा जिसका वह सान्निध्य चाहता है। वस्तुतः 'प्रेम' मूल रूप में ईश्वरीय तत्व माना जाता है जो सदैव स्वार्थ से रहित तथा परमार्थ हेतु कल्याणकारी, मंगलमय, भावनाओं से युक्त होता हैं। प्रेम के विभिन्न पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं-

क) **स्नेह :**

"स्नेह शब्द की उत्पत्ति 'स्निह्' धातु में 'धज्' प्रत्यय लगाने से हुई है। इसके निम्नलिखित अर्थ होते हैं- 1. अनुराग, प्रेम, कृपालुता, सुकुमारता। 2. तैलाक्तता, मसृणता, चिकनापन, चिकनाहट। 3. नमी 4. वसा, वसायुक्त पदार्थ। 5. तेल 6. शरीरगत कोई भी तरल पदार्थ। 'प्रेम रसायन' में स्नेह की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जहां प्रिय के दर्शन, श्रवण, भाषण आदि से अंतःकरण द्रवित हो उठे, उसी को स्नेह कहते हैं।"[12]

'अमरकोश' में कहा गया है कि "केवल प्रियता ही प्रेम नहीं है अपितु हृदयगत प्रेम, स्नेह, इच्छा, आकांक्षा, स्पृहा तथा मनोरथ की तीव्र लिप्सा में ही प्रेम की पूर्णता देखी जा सकती है।"[13]

ख) अनुराग :

"इस शब्द की उत्पत्ति 'रंज' धातु में 'अनु' उपसर्ग और 'धज्' प्रत्यय लगाने से हुई है। जिसका अर्थ होता है- 1. लालिमा 2. भक्ति, आसक्ति, निष्ठा, प्रेम, स्नेह आदि। मानक हिंदी कोश के अनुसार अनुराग का अर्थ है- किसी से प्रसन्न होकर शुद्धभाव से उसकी ओर प्रवृत्त होना या मन लगाना"।[14] वास्तव में जब हृदय किसी पर रीझकर उसकी ओर उन्मुख होता है, तब प्रेम की मंद-मंद भाव लहरे उठती हैं, यही दशा 'अनुराग' कहलाती है।

ग) प्रणय :

"संस्कृत के 'नी' धातु में 'प्र' उपसर्ग और 'अच्' प्रत्यय लगने से 'प्रण्य' शब्द की उत्पत्ति होती है। जिसके निम्नलिखित अर्थ हैं- 1. विवाह करना 2. पाणिग्रहण करना 3. प्रेम, स्नेह, अनुरक्ति, अभिरुचि, अभिलाषा, घनिष्ठता, लालसा आदि। 4. मित्रापूर्ण परिचय, प्रीति, मैत्री। 5.

परिचय, भरोसा, विश्वास। 6. अनुग्रह, कृपा, सौजन्य 7. अनुरोध, प्रार्थना, निवेदन 8. श्रद्धा, भक्ति 9. मोक्ष। मानक हिंदी कोश के अनुसार प्रणय का अर्थ है- 'विशेषतः ऐसा शृंगारिक प्रेम जो साधारण अनुराग या स्नेह से बहुत आगे बढ़ा होता है'।"[15] वामन शिवराम आप्टे के अनुसार- "जब प्रिय के गौरव का भाव एक दम मिट जाता है तथा विश्रंभ और विश्वास का भाव उदय होता है तब गाढ़ा हुआ मान ही 'प्रणय' कहलाता है।"[16]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'प्रणय' स्नेह व अनुराग की आगे की अवस्था है जहां कांत और कांता के मध्य सभी प्रकार का भेद विलीन हो जाता है। जिसका चरमोत्कर्ष परिणय संबंध के रूप में होता है।

घ) प्रीति :

'प्रीति' शब्द की उत्पत्ति 'प्री' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से मानी गई है। इसके निम्नलिखित अर्थ हैं- 1. प्रसन्नता, आह्लाद, खुशी, संतोष, आनंद, हर्ष, तृप्ति आदि। 2. अनुग्रह, कृपालुता 3. प्रेम, स्नेह, आदर 4. प्रसन्न, चाह, व्यसन 5. मित्र, सौहार्द 6. कामदेव की एक पत्नी का नाम, रति की सौत। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'प्रीति' का व्यवहार 'प्रेम' संबंधों को सुंदर और सुदृढ़ बनाने के लिए किया जाता है।

अतः स्नेह, प्रीति, अनुराग और प्रणय प्रेम के समानार्थी शब्द हैं। किंतु इनमें से प्रथम तीन मन की प्रसन्नता एवं आनंदावस्था को ही प्रकट करते हैं। किंतु अंतिम 'प्रणय' शब्द में स्नेह, प्रीति, अनुराग के साथ-साथ शारीरिक तुष्टि और काम-रति भाव प्रधान होता है। काम-रति से युक्त प्रीति प्रेम के चरमोत्कर्ष की दशा है। इसी दशा की प्राप्ति का साधन विवाह है।

प्रेम की परिभाषाएं :

प्रेम जैसे अनंत गहरे और शाश्वत व्यापक भाव-भावना के दुख सुख की मिठास को परिभाषाओं की लकीरों के माध्यम से सीमित करना संभव ही नहीं है, फिर भी यहां पर प्रेम पर विद्वानों के व्यक्त विचार दिए जा रहे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार-

"विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहां लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहां यह लोभ ही रहता है, जहां पर किसी जाति के एक विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहां 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है।"[17] रामचंद्र वर्मा का प्रेम के विषय में कथन इस प्रकार है-

"किसी के मन में उत्पन्न होने वाला कोमल भाव, जो किसी ऐसे काम, चीज, बात या व्यक्ति के प्रति होता है जिसे वह बहुत अच्छा, प्रशंसनीय अथवा सुखद समझता है या जिसके साथ वह अपना घनिष्ठ संबंध बनाए रखना चाहता है।"[18]

डॉ हरिश्चंद्र वर्मा का कथन है कि "जब सहृदय व्यक्ति मनोनुकूल सुंदर वस्तु, व्यक्ति या दृश्य को देखता है, तो उसके प्रति अनायास ही उसका रागात्मक संबंध स्थापित हो जाता

है। इस प्रकार सुंदर वस्तु, व्यक्ति या दृश्य के प्रति दृष्टा के रागात्मक संबंध को प्रेम कहते हैं।"[19]

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का प्रेम के बारे में कथन है कि- "साधारणतः 'प्रेम' शब्द से अभिप्राय उस मनोवृत्ति से लिया जाता रहा है जो किसी व्यक्ति को दूसरों के संबंधों में उनके रूप, गुण, स्वभाव, सानिध्य आदि के कारण उत्पन्न कोई सुखद अनुभूति सूचित करती है तथा जिसमें उस दूसरे के हित की कामना भी बनी रहती है।"[20]

श्रेष्ठ कथाकार भगवतीचरण वर्मा का प्रेम के बारे में विचार है कि "प्रेम बलिदान है आत्म-त्याग है, ममत्व का विस्मरण है। प्रेम आत्मा के पवित्र बंधन संबंध को कहते हैं। यह दोनों ओर से होता है। प्रेम में आत्म-बलिदान होता है, पर यह एक ओर से नहीं दोनों ओर से।"[21]

महात्मागांधी के प्रेम विषयक विचार इस प्रकार है कि "जहां प्रेम है, वहां दया है। प्रेम में द्वेष की गुंजाइश ही नहीं, प्रेम में अहंभाव नहीं, प्रेम में अयोग्यता नहीं, प्रेम में स्वार्थ नहीं, प्रेम में सत्य ही प्रसन्न रहता है। प्रेम आशामय है सब कुछ सहलेता है। प्रेम कभी दावा नहीं करता कि वह हमेशा देता है। प्रेम से भरा हृदय अपने प्रेमपात्र की भूल पर दया करता है और खुद घायल हो जाने पर भी उसे प्यार करता है।"[22]

प्रेम के बारे में महाकवि रसखान का मानना है- "सच्चा प्रेम गुण, यौवन, रूप, धन, स्वार्थ एवं कामनाओं से रहित तथा सभी प्रकार के सुख एवं आनंद का प्रदाता होता है। यह अत्यंत सूक्ष्म और कोमल भाव है जो सदा एकरस और शाश्वत होता है।"[23]

महामना स्वामी विवेकानन्द प्रेम के विषय में क्या कहते हैं- "जब मैं स्वयं को विश्वव्यापी समझता हूं तो मुझमें स्वार्थता नहीं रह जाती, पर भ्रमवश यह सोचने लगता हूं कि मैं स्वयं मर्यादित हूं, तो मेरा प्रेम संकीर्ण और विशेष भावापन्न हो जाता है। विश्व की सभी वस्तुएं ईश्वरजन्य हैं इसलिए वे प्रेम-पात्र हैं। यही ध्यान रखना चाहिए की समष्टि के प्रेम में अंश का प्रेम अंतर्भूत है।"[24]

प्लेटो का कथन है कि "प्रेमानुभव से रहित व्यक्ति सदैव अंधकार में भटकता रहता है।"[25]

हेगल का मानना है कि "प्रेम व्यापार के द्वारा ही अभेद की स्थिति प्राप्त होती है।"[26]

पश्चिमी विद्वान विल डयुरांट का मानना है- "प्रेम के अतिरिक्त इस संसार में सब कुछ नश्वर है। सत्य तो यह है कि प्रेम ही वह मधुर उष्मा है, जो हृदय को तर-गरम रखता है और अनिर्वचनीय तृप्ति और शांति प्रदान करता है। आदान में नहीं प्रदान में ही प्रेम का स्वाद है। सब कुछ व्यर्थ निस्सार है बस प्रेम ही एक सार वस्तु है।"[27]

सर वाल्टर स्कोट का कहना है कि "सच्चा प्रेम प्रभु का वरदान है जो धरती पर केवल मानव को ही प्राप्त है। यह वह उज्ज्वल बंधन है, वह रुपहली डोर है जो हृदय से हृदय को मस्तिष्क से मस्तिष्क को शरीर और आत्मा की एकात्मकता में गूंथ देती है।"[28]

उपर्युक्त दी गई परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि प्रेम जीवन और जगत में व्याप्त मानवीय अनुभूति है। जिस व्यक्ति का हृदय प्रेम से जितना अधिक परिप्लावित होता है, वह उतना ही अधिक मानवीय होता है। प्रेम से युक्त मानव को संपूर्ण ब्रह्माण्ड आकर्षित करता है और वह प्रकृति की हर वस्तु से प्रेम भी करता है। ऐसे मानव को जीवन पर्यंत सुख और प्रेम ही मिलता है तथा वह संसार का सुख और आनंद से भरा प्राणी होता है।

केदारनाथ के काव्य में प्रेम का स्वरूप

केदारनाथ अग्रवाल की कविता का मुख्य भाव प्रेम है। लेकिन यह प्रेम सामान्य अर्थों वाला प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी अथवा वात्सल्य भाव तक सीमित प्रेम नहीं है। यह एक ऐसा प्रेम है जिसमें पूरी सृष्टि समाई हुई है। प्रकृति, मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाला, पोखर, पहाड़, खेत-खलिहान, बाग-बगीचे, सूर्य, चंद्रमा, रात, बारिश, किरणें आदि सभी उनके प्रेम के पात्र है।

वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. अशोक त्रिपाठी का कथन है कि "प्रेम के साथ ही रचनात्मक, सकारात्मक और बेहतर बदलाव के अर्थ में यदि क्रांति को ले, तो श्रम और संघर्ष पुष्टि क्रांति भी उनकी कविता में बड़ी शिद्दत के साथ मौजूद है।"[29]

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार 'क्रांति बिना प्रेम के संभव नहीं है।' यही कारण है कि केदारनाथ अग्रवाल को सभी विदेशी कवियों में पॉब्लो नेरूदा सबसे प्रिय कवि हैं जिन्होंने प्रेम और क्रांति के गीत गाए हैं। केदार जी का प्रेम संवेदनशील और कर्तव्य बोध से आप्लावित, श्रमशील और जिम्मेदार प्रेम है। केदार अपनी इस प्रेम की जिम्मेदारी को बखूबी समझते हैं, इसलिए अपने व्यक्तिगत प्रेम को व्यक्त करते हुए लिखते हैं-

मैंने प्रेम अचानक पाया
गया ब्याह में युवती लाने,
प्रेम ब्याहकर संग में लाया।
घर में आया घूंघट खोला,
आंखों का भ्रम दूर हटाया।
प्रेम-पुलक से प्रेरित होकर,
प्रेम-रूप को अंग लगाया।[30]

कवि भारतीय मानस के लोकधर्मी संवेदना को बहुत सहजता से स्वयं पालन कर लोक के सामने उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसलिए वे 'प्रेम' को ब्याह कर लाते हैं और उस वैवाहिक जीवन के प्रेम को अपने अंग से लगा लेते हैं। भारतीय संस्कृति में वैवाहिक संस्कार द्वारा 'वर' और 'कन्या' आजीवन एक दूसरे के लिए, एक दूसरे की जिम्मेदारियों के प्रति वचन बद्ध हो जाते हैं। कवि ने इस लोक संस्कार को अपने जीवन के माध्यम से 'प्रेम' के सबसे श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में भारतीय लोक-मानस के सामने प्रस्तुत किया है।

केदार का प्रेम काम प्रेरित और दैहिक आकर्षण-बद्ध प्रेम नहीं है। दैहिक आकर्षण प्रेम का एक अंग है किंतु उनके प्रेम की कायनात इससे परे मनुष्यता के प्रेम की है। जिसे वे आदमी और उसके चरित्र में खोजते हैं-

मैं उसे खोजता हूं
जो आदमी है
और
अब भी आदमी है
तबाह होकर भी आदमी है
चरित्र पर खड़ा,
देवदार की तरह बड़ा।[31]

केदार का प्रेम गहन ऐंद्रियाता से पुष्ट, तृप्त, दायित्वशील, यथार्थ और सघन प्रेम है। लोकधर्मी संवेदना से परिपूर्ण उनका प्रेम भाव, रूपांतरित होकर संपूर्ण मानव चेतना का प्रेम बन जाता है।

आम तौर पर देखा गया है कि हिंदी साहित्य में पुरुष युवा कवियों के अवचेतन में जो स्त्री आई है, उसे लेकर कुंठित भाव ही व्यक्त हुए हैं। नारी कवियों के चेतन भावबोध का हिस्सा न होकर अवचेतन में घर किए रहती है जो नारी के प्रति संकुचित और उसे देखने का कुंठित रवैया है। नारी को देखने के इस गलत नजरिए के कारण उसके प्रति दया का भाव बार-बार हिंदी साहित्य में व्यक्त हुआ है। वह हमेशा लज्जालु, दबी-ढकी, रोने वाली, बिलखने वाली, असीम दुख-दर्द हृदय में छिपाए रखने वाली, असहाय और अबला नारी के रूप में चित्रित होती रही है। जहां रीतिकाल में उसे पुरुषों को आकर्षित करने के लिए अनेक काम-भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ा है तो छायावाद में उसे 'अबला नारी', 'दीन-हीन-स्त्री' जैसे उपमाओं से सुसज्जित होना पड़ा है। वस्तुतः नारी के प्रति उपेक्षिता का भाव बार-बार आया है। औरत को देखने के इस सामंती नजरिए पर कवि रघुवीर सहाय की टिप्पणी बहुत सटीक जंचती है- "कुल मिलाकर नया और पुराना हिंदी साहित्य स्त्री को लेकर जो कुछ देता है वह सतह पर घिनौना, सतह के नीचे पुरुष-समर्थक और उससे भी गहरे कहीं मनुष्य-विरोधी है"।[32] दूसरी ओर अधिकांश प्रेम-प्रसंग की कविताएं जो हैं वे परकीया प्रेम अथवा स्वच्छंद प्रेम के आग्रह से भरी पड़ी हैं।

केदारनाथ अग्रवाल का पत्नी प्रेम एक प्रकार से नारी जाति के प्रति सम्मान का उत्कृष्ट उदाहरण है जो नारी को सुंदरी, भोग्या या अबला के रूप में न देखकर बल्कि उसे सबला, सधवा और हाड़-मांस से बनी, भावना और संवेदना से युक्त मानव के रूप में देखती है। अतः केदार नारी संवेदना में भी क्रांतिकारी बदलाव लाते हैं जिसमें नारी का जीवन सुदृढ़ और शक्तिशाली बनता है। केदार के समकालीन कवियों में बाबा नागार्जुन और शमशेर सिंह दोनों ने प्रेम पर कविताएं लिखी है किंतु नागार्जुन में ऐंद्रियता तो है किंतु केदार जैसी यथार्थ और सघन तृप्ति नहीं, शमशेर का प्रेम अतृप्ति और कल्पना का शिखर ही है। अतः केदार की नारी के प्रति संवेदना उनकी पत्नी प्रेम के रूप में लोकमार्ग-दर्शन के लिए प्रकट हुआ है।

पत्नी की मृत्यु के उपरांत पत्नी पर लिखी उनकी दर्जनों कविताएं, इस बात की साक्षी हैं कि वे स्त्री के प्रति सामाजिक और बौद्धिक सोच में परिवर्तन लाना चाहते थे, वे स्त्री को समता और गरिमा के साथ, स्वतंत्र मानव के रूप में स्थापित किए हैं। इसके अतिरिक्त उनकी स्थापना नारी को सहचरी, साथी और बराबर की तृप्ति देने वाली संगिनी के रूप में है। जहां पुरुष और नारी का संबंध समय के साथ दृढ़तर होता जाता है और प्रेम परिपाक होकर आनंद बहाता रहता है। प्रेम की यही उदात्त चेतना ही पत्नी की मृत्यु होने पर उनकी चिता पर जलती हुई आग की लपटें 'कुबलय कुमुद' सी दिखाई देती हैं-

चिता जली
तो मैंने देखा;
दहन दाह में
कंचनवर्णी पंखुरियों का
कुबलय
प्रमुद खिला
रज को
राग-पराग मिला।[33]

केदार काव्य में प्रेम के विविध पक्ष

कहा जाता है कि कला और साहित्य जीवन की गहरी अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति होती हैं। इस लोकतांत्रिक युग में कला और साहित्य की उपयोगिता का निर्धारण उसके जन-जीवन से जुड़ाव पर निर्भर करता है। अतः कहा जा सकता है कि कला और साहित्य विशाल जन-समुदाय के लिए है तथा उसके हित के लिए है। आज के लोकतांत्रिक युग में सामान्य जनता की चितवृत्तियों की कलात्मक प्रकटीकरण श्रेष्ठ साहित्य की पहचान है। कवि

केदार का काव्य-साहित्य श्रेष्ठतम साहित्यों में से एक है क्योंकि उसमें सामान्य जनता की चितवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है। आम जनता के सुख, दुःख, राग, द्वेष, प्रेम और सौंदर्य की अभिव्यक्ति केदार के काव्य में हुई है। इस रचनात्मक अभिव्यक्ति में केदार के मन का प्रेम-भाव मानव, ग्रामीण, गांव, प्रकृति, केन नदी, पेड़, जीव-जंतु, देश, राजनीति, कला, भाषा, जनपद, साहित्यकार, देशी-विदेशी साहित्यिकों, किसान, मजदूर, नारी और पत्नी के प्रति निर्बाध रूप में प्रकट हुआ।

जहां केदार लोकजीवन से जुड़ी सभी वस्तुओं से गहरा लगाव रखते हैं, वहीं वे अपनी प्रिय पत्नी पार्वती देवी से भी अकथनीय प्रेम करते हैं। उनका पत्नी प्रेम काल और वय के अनुसार अनोखी भावनात्मक दीप्ति से युक्त है। उनकी काव्य रचना 'नींद के बादल' में प्रेम के तरूण भावों का हिलोर है, तो 'हे मेरी तुम' और 'जमुन जल तुम' में गृहस्थ जीवन के सुख-दुख और जीवन-संघर्ष का पत्नी के साहचर्य में परिपाक हुआ है और जीवन संघर्ष की थकान पत्नी के बाहुपाश में, उसके फूल-सी मुस्कान की ऊष्मा से पिघलकर वाष्पित हो जाती है, पत्नी के सौंदर्य का साहचर्य कवि में पुनः तरो-ताजगी और प्रेम-भाव का प्रसार करता रहता है। पत्नी प्रेम से जुड़ा उनका अगला काव्य संग्रह 'आत्मगंध' है जो 'प्रिया प्रियंवदा' अर्थान पत्नी 'पर्वती देवी' के मृत्यु के पश्चात लिखा गया है। जहां पत्नी की यादें, उसके वचन, उसकी सलाहें, उसका सौंदर्य, उसका साहचर्य कवि के अकेले जीवन का संबल बना है। पत्नी विछोह की ऐसी जीवंत यादें शायद ही कहीं हिंदी साहित्य में देखने को मिलती हो। वस्तुतः प्रेम को काम भावना से देखा जाय तो कवि केदार के काव्य में दांपत्य प्रेम का विशिष्ट रूप से चित्रण पाया जाता है। कवि प्रेम के दांपत्य रूप को श्रेष्ठ और प्रेय मानता है तथा अपनी कला से उसे लोक जीवन में प्रेम का श्रेष्ठतम रूप बना देता है।

नारी प्रेम :

केदारनाथ अग्रवाल के कुल तेईस काव्य संकलनों में से मुख्यतः चार काव्य संकलनों 'नींद के बादल'-1947, 'हे मेरी तुम'-1981, 'जमुन जल तुम'-1984 और 'आत्मगंध'-1984 में प्रेम संबंधी कविताएं प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। इन काव्य संग्रहों में मूलतः नर और नारी के बीच उपजने वाले प्रेम का स्वरूप मिलता है। भारतीय साहित्यिक परंपरा यह रही है कि कालिदास से लेकर आधुनिक युग के अधिकांश कवियों ने अपनी कविताओं में प्रेम को स्थान दिया है। क्यों न हो जिस प्रकार जीवन प्रेम के बिना ठूंठ है, वैसे ही साहित्य प्रेम रस के बिना सूखा है।

प्रश्न उठता है कि प्रेम क्या है? उसके विषय में प्रायः यह कहा जाता है कि 'नर और मादा जीवों के बीच एक दूसरे के प्रति सुखद अनुभूति और साहचर्य के भाव को प्रेम कहते हैं'। दूसरी परिभाषा प्रेम कि यह है कि 'संसार के सभी सजीव और निर्जीव जीव-जंतुओं और वस्तुओं

के प्रति उठने वाले अनुराग को प्रेम कहते है।' उपर्युक्त दोनों प्रेम की परिभाषाएं वैयक्तिक प्रेम, सार्वभौमिक प्रेम और सार्वजनिक प्रेम की व्यापकता को प्रकट करती हैं। युवाओं के लिए प्यार एक ऐसा खुबसूरत एहसास है, जिसमें अपने से ज्यादा दूसरे का ख्याल रखा जाता है। प्यार के बारे में लोकोक्ति है कि 'प्यार स्वार्थ रहित होता है'। कबीर दासजी प्रेम प्राप्ति के विषय में बहुत स्पष्ट और सटीक बात कहते हैं-

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।

राजा प्रजा जेहि रुचै, सीस दै लइ जाय।।[34]

इस प्रकार कबीर दासजी प्रेम में संपूर्ण समर्पण की भावना को अनिवार्य मानते हैं। अतः भारतीय परंपरा में प्रेम बहुत व्यापक शब्द है जिसका विस्तार जगत के प्रति, ईश्वर के प्रति, जीव-जंतुओं के प्रति, सजीव-निर्जीव के प्रति, बाल-बच्चों के प्रति, जाति-देश के प्रति और समाज-संस्कृति के प्रति आदि के लिए सुखद अनुभूति और उसके प्रति समर्पित होने की भावना ही प्रेम है। यही व्यापक प्रेम जब एकांतिक या सीमित हो जाता है जैसे- देश के प्रति, बाल-बच्चों के प्रति, नर-नारी के प्रति, धर्म के प्रति तो इसे देश प्रेम, वात्सल्य प्रेम, प्यार-मोहब्बत, जातीय प्रेम और धार्मिक प्रेम कहते हैं। परंतु नर-नारी के अतिरिक्त अन्य प्रेम एक रेखीय है। अर्थात प्रेमकर्ता प्रेम या लगाव रखने के लिए पूरी तरह से स्वयं पर निर्भर होता है। इस प्रकार के प्रेम में प्रेमी जिस किसी जीव या वस्तु से प्रेम कर्ता है, बदले में उससे समान रूप से प्रेम पाने की अपेक्षा नहीं रखता है। साहित्यिक भाषा में कहें तो प्रेमी प्रेम-वस्तु के प्रति सक्रिय होता है जबकि प्रेम-वस्तु प्रतिक्रिया करने में अक्रिय होती है। इस प्रकार के प्रेम सार्वजनिक, सर्वव्यापी और सामूहिक होता है। अतः इस प्रकार के प्रेम, प्रेम के व्यापक स्वरूप के अंग हैं।

किंतु जिसे प्यार, मोहब्बत, लव आदि नामों से जाना जाता है। वह नर-मादा अथवा स्त्री-पुरुष के बीच उत्पन्न होने वाला प्रेम है। वास्तव में स्त्री और पुरुष के बीच पाने-चाहने की सुखद अनुभूति को ही प्रेम कहते हैं। नर-नारी के बीच उत्पन्न होने वाला यह प्रेम एकांतिक और दो-रेखीय होता है। इस प्रकार का प्रेम व्यापक प्रेम से भिन्न होता है। इसमें प्रेम-कर्ता और प्रेम-वस्तु दोनों प्यार के हेतु एक दूसरे के पूरक होते हैं। जैसी क्रिया प्रेमी द्वारा प्रेमिका के प्रति की जाती है, वैसी ही प्रतिक्रिया प्रेमिका प्रेमी के प्रति भी करती है, इसे संकीर्ण प्रेम या पूरक प्रेम कह सकते हैं। साहित्यिक भाषा में कहें तो यहां पर आश्रय और आलंबन दोनों में प्रेम उत्पन्न होता है, दोनों में क्रिया-प्रतिक्रिया से यह प्रेम आगे बढ़ता है। दो युगलों के बीच सुखद अनुभूति का यही संचार वास्तव में प्रेम, मुहब्बत आदि कहलाता है। यही प्रेम आगे बढ़कर शारीरिक संबंधों तक पहुंच कर चरमानंद को प्राप्त करता है।

स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम उत्पन्न होने के कई कारण उद्दीपन के रुप में कार्य करते हैं, जैसे- संभोग की इच्छा, शारीरिक आकर्षण, चारित्रिक सौंदर्य और धन-दौलत आदि। इसमें तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करने वाला प्यार आवश्यकता की समाप्ति के साथ समाप्त

हो जाता है। यह प्यार व्यापार की श्रेणी में आता है, ऐसे प्यार से सुख तो मिलता है किंतु आनंद का अभाव बना रहता है। इस प्रकार के प्रेम को अधम कोटि का प्यार कहते हैं। इसके अतिरिक्त गुण, सौंदर्य, भाव और निःस्वार्थ के आधार पर उपजा प्रेम उच्चकोट का प्रेम होता है। जिसमें स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक होते हैं। एक के सुख-दुख में दूसरे को सुख-दुख की अनुभूति होती है। साहित्य में प्रेमी-प्रेमिका का समर्पित दोतरफा प्यार, मुहब्बत को प्रेम कहा जाता है। इसके दो रूप होते हैं-

1. स्वकीया
2. परकीया

स्वकीया प्रेम का संबंध सामाजिक, धार्मिक विधि-विधानों और मान्यताओं पर आधारित होता है, इसे परिवार की सहमति मिली होती है। परकीया प्रेम ऐसा प्रेम होता है जिसे सामाजिक, धार्मिक मान्यताएं नहीं मिली होती हैं। इस प्रकार के प्रेम में परिवार की सहमति भी नहीं होती है। समाजिक रूप से परकीया प्रेम स्वीकृत नहीं होता है। जहां तक भारतीय साहित्य की बात है तो इसमें स्वकीया प्रेम की तुलना में परकीया प्रेम पर कवियों और लेखकों ने अपनी कलम ज्यादा तोड़ी है। अतः इस प्रकार के स्त्री संबंधित प्रेम को नारी प्रेम के अंतर्गत रखा जाता है। केदार के काव्य का आरंभ ही नारी सौंदर्य के चित्रण से होता है। 'नींद के बादल' संग्रह में संगृहीत कविताएं इस बात का प्रमाण हैं कि कविता की मूल प्रेरणा उन्हें नारी से ही प्राप्त हुई है। कवि स्वयं स्वीकार करता है कि-

क्यों आते हैं भाव न जिनका
मैं अधिकारी?
क्यों आते हैं शब्द न जिनका
मैं व्यवहारी?
कविता यों ही बन जाती है
बिना बनाए,
क्योंकि हृदय में तड़फ रही है
याद तुम्हारी।[35]

कवि की शुरुआती रचनाओं में नारी सौंदर्य के अनेक भाव-पूर्ण चित्र अंकित हुए हैं। नारियों में उन्हें प्रेयसी और श्रमशील नारी का सौंदर्य उन्हें अधिक आकर्षित किया है। उनके यहां प्रेयसी कोई परकीया नारी नहीं है बल्कि उनकी विवाहिता है। जिसके सौंदर्य से अभिभूत होकर वे नाना प्रकार की कल्पनाएं करते हैं-

मेरी प्यारी सबसे सुंदर
रवि से सुंदर, निशि से सुंदर
सुंदरतर रवि-शशि से सुंदर

मेरी प्यारी सबसे सुंदर।[36]

नारी के सौंदर्य चित्रण में कवि की दृष्टि नख-शिख वर्णन में कम जमती है बल्कि वह नारी के यथार्थ पर ज्यादा टिकती है ताकि वह नारी के स्वतंत्र सौंदर्य का प्रभाव चित्रित कर सकें। काव्य रचना के आरंभिक दिनों में कवि रीतिकालीन और छायावादियों के प्रभाव में था, जिसके कारण उनकी कुछ प्रारंभिक रचनाओं में जिज्ञासा मूलक रहस्यात्मकता दृष्टव्य होती है। जैसे-

अयि रूपसि अनजान !
दिखलाती हो अरूणोदय में बिंबाधर मुस्कान,
संध्या में जावक, रजनी में उडुयुत केश-वितान,
हिमकर में, मैंने अवलोका तव-मुख आभावान,
किंतु कहां उसमें बतलाओ अधर-प्रवाल समान?[37]

उक्त पंक्तियों में कवि ने प्रकृति के विविध उपमानों के सहारे किसी अनजान रूपसि के दर्शन किए हैं। वे चंद्र में आभावान रूपसि की कल्पना तो करते हैं किंतु उसके होठ के प्रवाल रूप पर प्रश्न भी उठाते हैं। वे पद-नख से लेकर उसके घनेकेश तक की संपूर्ण छवि देखने के लिए लालायित दिखाई पड़ते है। 'नींद के बादल' काव्य संग्रह के गीत कवि की ओजस्वी तरुणाई के गीत हैं, जिसे कवि ने मस्ती में गाया है। उनमें छायवादी कल्पनाएं भरपूर पाई जाती हैं। कवि स्वप्न लोक का राजा होने की कल्पना में डूब जाता है तथा राजा की तरह दास-दासियों से घिरा होता हैं, मधुर राग-रागिनी और किन्नरियों का गुंजन और नर्तन उन्हें आनंद के सागर में डुबोए रहता है तथा उसके मन मस्तिष्क में प्रेम का खुमार छाया रहता है-

अनायास चकमक चकमक छवि बिछ जाती है।
चंद्र-चांदनी दोनों मिलकर मुस्काते हैं,
सुधा-सुधा ही बरसाते हैं।
मैं अतृप्त भी तृप्त सुधा से हो जाता हूं।
मेरे लिए पलंग बिछता है,
दास-दासियां प्रकटित होती हैं सेवा को।
मैं अधमूंदी आंखों से देखा करता हूं,
मधुर रागिनी छिड़ जाती है किन्नरियों की।
नूपुर ध्वनि गूंजा करती है,
मैं मधु में डूबा रहता हूं।[38]

स्वप्न लोक की ऐसी कल्पनाएं एक तो तरुणाई और दूसरी संपन्न परिवार के होने के कारण स्वाभाविक थी। तरूण कवि स्वयं को किसी किन्नर राजा से कम नहीं समझता परंतु

कालांतर में मॉर्क्सवाद से जुड़ाव के कारण ये काल्पनिक सपने यथार्थ की भूमि में तिरोहित हो गए।

मॉर्क्सवादी चेतना के परिणाम स्वरूप कवि के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया अब उनकी प्रेमवादी दृष्टि किन्नरों का राज छोड़कर श्रमिकों और किसानों की गलियों और घरों में नारी का सौंदर्य ढूंढ़ने लगी। श्रमशील नारियों की तलाश में उन्हें नारी की वास्तविक जिंदगी के दर्द और वेदना की अनुभूति हुई। यही नारी संवेदनाएं आगे चलकर उनके काव्य सृजन का आधार बनी। नारी की यथार्थ स्थिति की पहचान होने पर उनका मन क्षोभ और शर्म से भर गया। उन्हें समझ में आ गया कि सीता और दुर्गा के देश में नारी की दुर्गति कैसे होती है। परिणाम स्वरूप कवि श्रमशील नारियों को अपने काव्य का विषय बनाने लगा और उसके सामाजिक और पारिवारिक योगदान को सम्मान से स्मरण करने लगा। अतः इस मुहाने पर पहुंचने के बाद केदार ने नारी के श्रम-श्लथ सौंदर्य के प्रति आकर्षित हुए और उसके इस रूप-सौंदर्य का मार्मिक चित्र, अपने काव्यों में चित्रित कर नारी का स्थान हमेशा के लिए ऊंचा कर दिए। अतः उनकी कल्पना में प्राचीन काल से वर्तमान तक का नारी इतिहास भौतिकवादी दृष्टि से दिखाई पड़ने लगा, परिणाम स्वरूप उनका मानस नारी जाति के प्रति प्रेममयी संवेदना से सराबोर हो गया। इसलिए वे नारी की यथार्थ स्थिति को प्रकट करने के लिए उसका वास्तविक चित्रण करने लगे-

चिकट गंदी निरी उटंगी
चिथड़ी धोती लिपटी है।
हड्डी, पसली, चमड़ी, पिंडुलि,
दुनिया भर को दिखती है....।
कौड़ी मोल नहीं रखती है,
आंखें भर कर रोती है।
धरती माता की गोदी में,
सीता चुपके सोती है।[39]

उक्त पंक्तियां नारी के दुख के प्रति मर्म और करुणा पैदा करती हैं, जिसने नारी के प्रति समाज में सदयता पैदा किया और कवि का अभीष्ट परिपूर्ण होता है।

केदार ने बहुत कम जगहों पर नारी को केवल काम की दृष्टि से देखने वाले बोध को प्रकट किया है। किंतु उनका यह बोध यथार्थ सत्य है कि नारी से प्यार जताने के पीछे की भावना उसके रस-रूप का पान करना भी होता है। नारी में भी यह रति-भाव, कभी-कभी तीव्र होकर उसे पुरुष के बाहु पाश में भर जाने देता है। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है कि उनके "कुएं पर पानी भरने वाली युवतियां रूप कमान की दृढ़ टंकार करती थीं।"[40] जिससे पक्षी घायल हो जाता था और उनके सांवले रूप-रस का पान करने की कामना करता था। इस भाव को व्यक्त करते हुए कवि लिखता है। -

बंद घरों की ऊंची दीवारों पर चढ़कर,
एक प्रेम की डोर पकड़कर,
रोज-रोज जाया करता था पास उन्हीं के,
दिन में जिन्हें कुमारी कहता और रात में प्रेमिका;
जिन्हें अकेला सोता पाकर,
मैं बाँहों में कस लेता था,
ओठों और कपोलों का चुंबन लेता था,
अपना नाम कूचों पर जिनके,
मीठे चुंबन से लिखता था।[41]

दांपत्य प्रेम :

केदारनाथ अग्रवाल की प्रेम-कविताएं मूलतः उनके दांपत्य जीवन से जुड़ी हुई हैं। दांपत्य प्रेम की जितनी सघन मार्मिक अनुभूति केदार के काव्य में मिलती है वैसी हिंदी साहित्य के इतिहास में देखने को विरल ही मिलती है। हमारे देश में कवियों द्वारा ज्यादातर कविताएं प्रेमिकाओं पर लिखी जाती है, प्रायः वे काल्पनिक और भाववादी होती हैं। भारत में एक कवि प्रेमिकाओं के बारे में कितना जानता है, यह तथ्य की सच्चाई प्रेमी कवि स्वयं जानता है? क्योंकि हमारी संस्कृति में वैवाहिक संबंधों के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के जैविक संबंधों की मान्यता नहीं है। दांपत्य प्रेम वर्णन की परंपरा भारतीय साहित्य में अत्यल्प है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में महाराजा अज से अपनी पत्नी इंदुमती के आकस्मिक निधन पर मार्मिक विलाप कराया गया है। अज-विलाप के उद्गार में दांपत्य प्रेम के विछोह की गरमी महसूस होती है। इस परंपरा की दूसरी कोशिश जयशंकर प्रसाद के 'आंसू' काव्य में दिखाई पड़ती है। कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की काव्य रचना 'उर्वशी' में पुरुरवा और उर्वशी के द्वारा प्रेम और सौंदर्य का दार्शनिक पक्ष निखरा है किंतु वह दांपत्य प्रेम के खांचे के बाहर का प्रेम है। केदारनाथ अग्रवाल 'उर्वशी' के संवाद पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "दो दार्शनिक, दो वकील, दो बौझक, दो मंत्री एक दूसरे से बाजी मार ले जाना चाहते हैं।"[42] अतः 'उर्वशी' का प्रेम संवाद यथार्थ दांपत्य प्रेम से परे है। इसके अलावा दांपत्य प्रेम पर कविताएं सिर्फ केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में ही दिखाई पड़ती हैं। केदार के समकालीन कवियों में शमशेर ने प्रेम पक्ष पर कविताएं लिखी हैं। किंतु केदार का प्रेम शमशेर के प्रेम की तुलना में व्यापक और यथार्थ है। केदार की प्रेमिका उनकी पत्नी हैं, वे दांपत्य प्रेम के आश्रय पत्नी में ही प्रेमिका का चेहरा देखते हैं। अतः केदार के प्रेम में पत्नी और प्रेमिका दो चेहरे नहीं बल्कि दोनों एक ही हैं, जबकि अन्य कवियों में अलग हैं।

स्वकीया प्रेम जो सामाजिक, धार्मिक और पारंपरिक मान्यताओं से मान्य होता है तथा वैवाहिक विधि-विधान से संपन्न होता है, ऐसे संबंधों से जुड़े स्त्री-पुरुष को पति-पत्नी या दंपति कहते हैं। विवाह के उपरांत जब दोनों प्रेमी या जीवन साथी जीवन की रपटीली, उबड़-खाबड़ सड़क पर, एक दूसरे का सहारा बनते हुए सुख और आनन्द देते हुए चलते रहते हैं तो इस प्रकार के जीवन को दाम्पत्य जीवन कहते हैं। दाम्पत्य जीवन में उपजने वाले प्रेम को दाम्पत्य प्रेम कहते हैं। केदारनाथ अग्रवाल के साहित्य में इस दाम्पत्य प्रेम के मीठे तीखे भावों की बहुत सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। दाम्पत्य प्रेम की श्रेष्ठता तो पूरे देश में स्थापित है किंतु अवध प्रदेश में दाम्पत्य जीवन का विशेष महत्व है इसका कारण भगवान रामचंद्र जी के पुरुषोत्तम जीवन का आदर्श है। इसी कारण अवधी लोक संस्कार में दाम्पत्य प्रेम को ही आदर्श प्रेम के रूप में स्वीकारा गया है। इसी अवधी जनपद के कवि केदारनाथ अग्रवाल है जो इस लोकादर्श प्रेम को अपनी कविता के माध्यम से प्रकट किया है-

हे मेरी तुम!
कटु यथार्थ से लड़ते-लड़ते
अब न लड़ा जाता है मुझसे
हे मेरी तुम
अब तुम ही थोड़ा मुसका दो
जीने का उल्लास जगा दो।[43]

केदारनाथ अग्रवाल दाम्पत्य प्रेम की शक्ति महसूस किए थे। उसे ही अपने काव्य का आधार बना कर मानव के सामने आदर्श रूप में उपस्थित किया है। परिवार समाज और देश का उत्थान दाम्पत्य प्रेम पर ही आधारित है। विशेषकर यह दाम्पत्य प्रेम छोटे-छोटे लोगों के जीवन को सुख देता है, उनमें संघर्ष करने की शक्ति पैदा करता है, जीने की मधुर लालसा से जीवन को ओत-प्रोत करता रहता है। इसी दाम्पत्य प्रेम की स्थापना महाकवि तुलसी दास ने रामचरित मानस में किया है। यही महाभारत और रामायण में किसी न किसी रूप में प्रकट हुआ है। यही प्रेम भारत के जन-जीवन की परंपरा भी है। इस दाम्पत्य रस की महत्ता अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'वैदेही वनवास' नामक कविता में इस प्रकार की है -

उसमें है सात्वित-प्रवृत्ति-सुमनावली।
उसमें सुरतरु सा विलसित भव-क्षेम है।।
सकल-लोक अभिनन्दन-सुख सौरभ-भरित।
नन्दन-वन सा अनुपम दंपति-प्रेम है।।[44]

कवि केदारनाथ अग्रवाल के सामने नारी की स्वतंत्र-अस्मिता की स्थापना जन-जन में स्थापित करने का बहुत बड़ा प्रश्न था। देश में सड़ी गली परंपराओं को तोड़ना जो स्त्री को एक भोग्य वस्तु से अधिक नहीं समझती थीं। नारी को स्वतंत्र और पुरुषों के समान बनाने तथा

उसे जन-जन में स्थापित करने का महान प्रश्न था। अतः उक्त साध्य के लिए केदार ने दाम्पत्य-प्रेम को सर्वोपरि सत्य माना है। दाम्पत्य जीवन जहां पति-पत्नी के बीच बराबरी का संबंध हो, पत्नी जहां आश्रिता नहीं बल्कि एक साथी और सहभागी के रूप में मान्य है। दाम्पत्य प्रेम एक बंधन नहीं बल्कि अभूतपूर्व संभावनाओं का द्वार है। यही कारण है, जहां अधिकतर तत्कालीन कवि अपनी प्रेमिकाओं के प्रति अनुभूतियों और विविध सौंदर्य छवियों को अभिव्यक्ति कर आत्मगौरवान्वित होते हैं। उसी समय केदार स्वयं को पत्नी प्रेमी घोषित करते हैं। "मैं मूलतः पत्नी प्रेमी रहा हूं और मेरी प्रेम की कविताएं उन्हीं के प्रेम और सौंदर्य की कविताएं हैं।"[45] यहाँ पर यह कहना उचित होगा की केदार के अग्रणी और आदरणीय कवि निराला भी अपनी पत्नी के प्रेम पर लट्टू हैं। किंतु जहां केदार दाम्पत्य जीवन को प्रगतिशील जीवन के आदर्श के रूप में स्थापित करते हैं वहीं निराला लोक जीवन की छवि प्रस्तुत करते हैं-

रँग गई पग-पग धन्य धरा
हुई जग जगमग मनोहरा।[46]

केदार कृषक, मजदूर और प्रकृति के जितने निकट हैं, उतने ही गृह जीवन के भी निकट हैं। उनकी कविता में पत्नी के प्रति उत्कट प्रेम की सहज अभिव्यक्ति के साथ बच्चों के प्रति भी उनकी सहज वत्सलता प्रकट हुई है। यद्यपि इस प्रकार के भाव सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की लम्बी कविता 'सरोज स्मृति', बाब नागार्जुन पुत्र के जन्म पर लिखी कविता 'दंतुरित मुस्कान' और त्रिलोचन आदि तत्कालीन कवियों के द्वारा लिखी गई हैं, किंतु केदार जी की कविताओं में गांव का जो सोंधापन है वह अन्यत्र कहां मिल सकता है। बेटी के जन्म पर केदार कहते हैं-

नवल अंग नन्हा-सा तेरा
तितली-सा दिखलाता है।
पानी की मछली-सा चंचल
तब स्वभाव मन भाता है
अहा, तुझको प्यार करूँ,
बिटिया तुझे दुलार करूँ।[47]

केदार का जीवन आम आदमी की तरह है। उनका प्रेम आम आदमी के प्रेम का आनंद बरसाने वाला है। उनकी दृष्टि में उनकी पत्नी-प्रिया के रूप और सौंदर्य में जितनी मिठास है वैसी मिठास, वैसा माधुर्य न गीतों में है, न कविता में। धर्म-कर्म में वह मिठास असंभव है। पत्नी जो सुखों में साथ दे या नहीं किंतु दुख हरने के लिए सदैव तत्पर रहती है। गांव या शहर के सामान्य जन के लिए उनकी पत्नी ही उनकी शक्ति होती है, वही मनोरंजक होती है, वही कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाली साथी होती है। उसी पत्नी की स्वतंत्र, सुखद और सहचरी रूपों के आनंद को केदार धर्म-फल के आनंद से उत्तम मानते हैं। क्योंकि हिंदू समाज में बहुत से ऐसे कर्मकांड है जिसको निभाने के लिए पत्नी को दूर रखना पड़ता है। इस लिए केदार स्त्री

के पत्नी रूप को धर्म-फल से ऊपर सिद्ध कर समाज को अंधविश्वासों से मुक्त करना चाहते हैं तथा स्त्री की सच्ची और सहयोगी शक्ति को स्थापित करना चाहते है।

है न इतना गीत में रस
है न इतना काव्य में रस
रूप में जिताना तुम्हारे
प्राण प्यारी, है भरा रस।
धर्म फल फीका बहुत है
कर्म फल फीका बहुत है
फिर चखाओ प्राण प्यारी।
प्रेम फल मीठा बहुत है।[48]

केदार के लिए पत्नी शक्ति दायनी है, प्रेम स्वरूपा और आनन्दी है। पत्नी प्रिया की अनुपस्थिति में चांदनी, फूल तथा पेड़-पौधे की हरियाली मन के अंधकार और सूनेपन को दूर नहीं कर पाते। क्योंकि पत्नी प्रेम और सौंदर्य ही कवि में प्राणों का संचार करने वाले होते हैं। उसी के कारण प्राकृतिक उपादान भी सुखकर लगते है। उसके संतप्त जीवन में विद्रोह की तरंगें भरते हैं। उसकी मुस्कान ही शोषण को जलाकर राख करने की प्रेरणा देती रहती है। वास्तव में केदार लोक के कवि है और वह लोक परंपराओं में आधुनिकता की धार ला कर आम आदमी के सामने सुष्ठ और सकारात्मक मार्ग प्रदर्शित करते हैं जिससे आम आदमी पत्नी और परिवार की शक्ति पर भरोसा और विश्वास कर सके। इस प्रकार आम आदमी निराशा, डर और कठिनाइयों के बीच रास्ता सहजता से खोज सकता है और आत्मविश्वासी बना रह सकता है। इसलिए केदार जी कहते हैं-

प्राणमयी मुस्कान तुम्हारी,
जब कूलों को पार करेगी।
दीन-दुखी मेरे जीवन में,
तब विद्रोही ज्वार भरेगी।
ज्वालामयी मुस्कान तुम्हारी,
जब शोषण को क्षार करेगी।
पर पीड़ित मेरे जीवन में,
तब आशा-उद्गार भरेगी।[49]

कवि अपनी पत्नी-प्रिया की इस मुस्कान को हृदय से महसूस करता है। इसी मुस्कान की शक्ति से वह संसार की विपत्तियों से लड़ने का हौसला रखता है। पत्नी द्वारा माथे पर लिया गया चुंबन तिलक के समान है, जो उसे जीवन के घमासान में अडिग रहने की प्रेरणा देता है। भारतीय संस्कृति है कि जब माता अपने पुत्र को रण-क्षेत्र में भेजती है तो माथे पर

चुंबन का तिलक लगाती है। मां का चुंबन पुत्र को युद्ध क्षेत्र में आये घनघोर संकट में शक्ति देता है और उसका पुत्र विकट परिस्थितियां होने पर भी विजय प्राप्त करता है। उसी प्रकार जीवन के युद्ध में जाते समय पत्नी की मन्नतें और उसका गहरा विश्वास विकट परिस्थितियों में भी पति को जीवन के युद्ध क्षेत्र में लड़ते रहने की शक्ति और सफल होने की आशा देता रहता है। इसे दंपति जीवन की शक्ति कह सकते हैं जिसके सहारे ही जीवन की नइया सफलता से पार होती है। आशा ही जीवन है, आशा रहित होने पर जीवन समाप्त हो जाता है। किंतु कवि के जीवन में पत्नी की प्रेरणा और आशा है इसलिए शरीर की पराजय भले हो जाय किंतु मन नहीं हारता है-

मैं रणोद्यत हुआ
माथे पर लेकर चुंबन तुम्हारा
घमासान संघर्ष में पड़ा
हाथ हारे-पाँव हारे
मैं न हारा
माथे में चुंबन लिए जीता रहा।[50]

भारतीय परंपरा है कि पति-पत्नी एक दूसरे का नाम नहीं लेते हैं। बुलाने के लिए वे सांकेतिक नाम रखते हैं। इस सांकेतिक नाम की पुकार में बहुत गहरा अपनापन होता है। केदार भी अपनी पत्नी-प्रिया को हे! संबोधन से पुकारते हैं। इस संबोधन से गहरा दाम्पत्य प्रेम और घरेलूपन प्रकट होता है। इसे नाम फेरना कहते हैं। नाम रखने के पीछे दोनों की गहरी प्रेम भावना और अपनापन निहित होता है। इसी कारण केदार अपनी पत्नी प्रिया को 'हे मेरी तुम' कह कर संबोधित करते हैं।

केदार अपनी पत्नी-प्रिया का जितना खुला वर्णन करते हैं। शायद ऐसा वर्णन दूसरी प्रेमिका के लिए तो कवियों ने किया है, किंतु अपनी पत्नी के लिए किसी ने नहीं किया है। केदार एक प्रकार से स्त्री को समानता और स्वतंत्रता से बढ़कर उसे एक स्वतंत्र मानव के रूप में स्थापित करते हैं। उसकी अस्मिता और सौंदर्य को गरिमा प्रदान करते हैं। खोखले दोहरे आदर्शों को तोड़कर सच्चे सौंदर्य को स्थापित करते हैं तथा पत्नी और प्रिया में कोई संवेदनात्मक और रूपात्मक अंतर नहीं करते हैं। वे अपनी पत्नी के सौंदर्य पर वैसे ही रीझते हैं जैसे कोई अपनी परकीया प्रेमिका पर-

हे मेरी तुम
जब तुम अपने केश खोलकर
तरल ताल में लहराओगी
और नहा कर
चन्दा सी बाहर आओगी

दो कुमुदों को ढँके हाथ से
चकित देखती हुई चतुर्दिक
तब मैं तुमको
युग्म भुजाओं से भर लूँगा
और चाँदनी में चूमूँगा तुम्हें रात भर
ताल-किनारे।[51]

प्रेम वास्तव में अन्दर और बाहर दोनों तरफ से जोड़ता है। यही एक ऐसा भाव है जिसके अभाव में मानव वास्तव में मानव नहीं रहता है। यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना रोकर और हँसकर दोनों रूपों में की जाती है। जो जितना प्यार पाता है, वह उससे ज्यादा देना चाहता है। दांपत्य जीवन का प्यार ज्वार की तरह नहीं होता। वह तो बहार की तरह होता है, जो सम्पूर्ण जीवन को आनंदित करता है। सुख-दुख में दोनों को बाँधे रखता है। जीवन अपनी गति से बहता है और घर-परिवार अपनी गति से बढ़ता रहता है-

हे मेरी तुम
खेल-खेल में खेल न जीते
जीवन के दिन रीते बीते
हारे बाजी लगातार हम
अपनी गोट नहीं पक पाई
मात मुहब्बत ने भी खाई
हे मेरी तुम!
आओ बैठो इसी रेत पर
हमने-तुमने जिस पर चलकर
उमर गँवाई।[52]

साथ-साथ जीवन भर चलने की खुशी सभी अभिमानी हार जीत से परे है। केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में स्वकीया प्रेम का दांपत्य जीवन भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक लोक परम्परा की अवधारणा को स्थापित करने का एक सफल प्रयास है। जिसमें नारी की अस्मिता, स्वतंत्रता और गौरव अक्षुण्ण बना रहता है। स्त्री पुरुष के समान उसकी साथी व सहचरी है। दोनों के समान और सहचर योग के द्वारा शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक सफलता आसानी से प्राप्त की जा सकती है। मध्ययुगीन भक्तिकालीन कृष्ण भक्त कवि रसखान ने परकीया प्रेम की अनुभूति के बाद भी जीवन के लिए दांपत्य प्रेम को शुद्ध प्रेम कहते हैं-

दंपति सुख अरु विषय रस पूजा निष्ठा ध्यान।
इनते परे बखानियै शुद्ध प्रेम रसखानि ।।[53]

केदार में दंपति प्रेम की यह जो निष्कुंठ अभिव्यक्ति है, प्रेम की जो ललक, प्यास, आसक्ति है। वह कवि के रूप में और मनुष्य के रूप में उन्हें बराबर जिंदगी से जोड़े रहती है। उनके कवि में जो ऊर्जा है उसका यह सबसे बड़ा श्रोत है। प्रेम की यह पीर और यह सौगात जो केदार को मिली है, यह शहरी नहीं है। यह ठेठ उनकी किसानी संवेदना से उपजी है। यह सहज, सरल, निश्चल मन की प्यास पुकार और पूंजी है। इसी संपदा के बल पर केदार वृद्धा अवस्था में भी अपने अस्तित्व को फुलाए रखने में सफल हुए हैं-

फिर मुसकाईं
प्रिया पोपले मुख से अपने
कई दिनों के बाद,
बड़े सबेरे;
हर्ष-हर्ष से
फूल उठा मेरा अस्तित्व;
मैं हो गया निहाल।[54]

दांपत्य जीवन में व्यक्ति के ऊपर बहुत सी जिम्मेदारियां होती हैं, उन जिम्मेदारियों के निबाह के लिए धन की आवश्यकता होती है। धन कमाने के लिए ईमानदारी से कितना भी प्रयास किया जाय, उससे केवल रोटी और दाल का ही जुगाड़ हो पाता है। वहीं दूसरी ओर भ्रष्टाचारी और सिद्धांतहीन व्यक्तियों की चांदनी समाज में देखने को मिलती है। लेकिन एक कवि के लिए अपने सिद्धांतों के साथ समाज में जीना बहुत मुश्किल हो जाता है। समाज का चरित्र इतना पतित हो गया है कि वह व्यक्ति की कीमत उसके धन-दौलत से ही लगाता है। वास्तव में व्यावहारिक जीवन में लोगों का चारित्रिक पतन हो चुका है। स्वतंत्रता के बाद यह चारित्रिक पतन और तेजी से गिरा है। जिसे लक्ष्य करते हुए कवि नवंबर 1955 ई. में लिखता है-

चौतरफा है भ्रष्टाचार
लम्बे चौड़े खोले द्वार
देशी और विदेशी यार
काट रहे मुफ्ती कलदार।[55]

ऐसे में कभी-कभी सिद्धांत, चरित्र और नैतिकता केवल किताबी आदर्श बन जाते हैं। समाज के लिए अपना सब कुछ अर्पित कर देने वाले के साथ भी समाज कभी खड़ा नहीं होता है, ऐसा प्रायः देखने को मिलता है। अपनी वृद्धावस्था में कवि को इसकी अनुभूति अवश्य हो रही थी। किंतु समाज के चरित्र और सिद्धांत के द्वंद्व में कवि अपनी विचारधारा पर दृढ़ता से डटा रहा है। दुनियादारी की यह सच्चाई उसे उदास तो करती है पर पत्नी का प्रेम फिर उसे उल्लास से भर देता है। कवि अपने चरित्र को ही पत्नी का उसके प्रति प्रेम और विश्वास का

करण मानता है। इस प्यार और विश्वास को पाने के कारण स्वयं को दुनिया का शहंशाह अर्थात सुखी प्राणी समझता है। अतः कवि कहता है-

हे मेरी तुम!
'गठरी चोरों' की दुनिया में
मैंने गठरी नहीं चुराई;
इसलिए कंगाल हूं;
भुक्खड़ शहंशाह हूं;
और तुम्हारा यार हूं;
तुमसे पाता प्यार हूं।[56]

रूप और सौंदर्य को केदार ने शारीरिक और मानसिक स्तरों पर पीया और जिया है, निष्कलुष आंखों से निहारा है और वर्जनाहीन मन से पीया है। इस मुक्त रूप-सौंदर्य पान में इंद्रियों ने सहज और कुंठा रहित होकर पोर-पोर को निहारा और पूरे स्वाद से सुंदरता को पीया है। अब पीने और निहारने के लिए उससे बेहतर कुछ बचा ही नहीं, इसलिए कवि की आंखें और मन उससे बेहतर सौंदर्य की रचना और तलाश में रहता हैं। कवि जगत को उसी सौंदर्य की ऊंचाई पर ले जाना चाहते हैं। प्रेम की यह शाश्वत अनुभूति कवि को संसार में पूर्णता की छवि देखने के लिए लालायित किए रहता है। केदार आजीवन इसी छवि को निहारते रहे, अपनी प्रिया के जीवन में भी और जीवन के बाद भी। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे व्यक्ति को सहारे की आवश्यकता बढ़ती जाती है। वृद्धावस्था में पत्नी ही व्यक्ति के सुख-दुख का ख्याल करने वाली और सहारा देने वाली होती है। किंतु केदार के साथ इसके विपरीत हुआ और उनकी पत्नी उनसे पहले ही बीमार रहने लगीं और कवि स्वयं अपने हाथों से उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। पत्नी की मृत्यु के पश्चात केदार को उनकी पत्नी की स्मृतियां सहारा बनी हैं। उसी से वे ऊर्जा पाते हैं और मरते दम तक उन्हें अपने चित्त में, काव्य में जिलाए रखना चाहते हैं। इस प्रकार उनके होने का एहसास इस धरती पर अपने साथ बनाए रखते हैं। इस एहसास को वे पत्नी की मृत्यु के बाद की कविता 'जीने को जिऊंगा अब भी' में इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

जीने को जिऊंगा अब भी
मरते दम तक,
बिना तुम्हारे,
प्रिया प्रियम्बद!
दारुण, दाही एक-एक दिन-रात काटते;
प्रेम-योग से
कर्म-योग से सिद्धि साधते,
लेकिन, तब भी,

तुम्हें काव्य में
किए प्रतिष्ठित
मूर्ति तुम्हारी किया करूंगा बिम्बित
चेतन चित में
पूरी तरह जिलाए,
मृत्यु लोक में अमर बनाए।[57]

केदार के प्रेम पर टिप्पणी करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा का कथन है कि "जवानी में एक रूमानी लहर की तरह यह भाव आता है और चला जाता है। केदार की रचनाओं में यह भाव स्थायी है। प्रेम पर, विभिन्न वर्षों में, उन्होंने बहुत सी छोटी-छोटी कविताएं लिखी हैं। इनमें आंतरिक संबद्धता है, इनके मेल से एक सिम्फोनी तैयार होती है। शेक्सपियर के नाटक की एक पंक्ति Ripeness is all कीट्स को बहुत प्रिय थी। उनकी 'ओड टु आटम' कविता में राइपनेस का संगीत पकी फसल, पके फल, डूबते सूरज का गहरा सुनहला प्रकाश–सारी प्रकृति में जैसे व्याप गया है। केदार की कविता में पके फल का स्वाद है, धरती आकाश के बदले दो व्यक्तियों के अस्तित्व की ऐसी अनुभूति है जिसमें मिलने की जरूरत नहीं, कुछ कहने की जरूरत नहीं"[58] जहां दो आत्माएं एकमेव हो जाती हैं, दुख-सुख के सभी एहसासों को समेटे हुए अविखंडित अखंड-

हे मेरी तुम !
हम मिलते हैं
बिना मिले ही
मिलने के एहसास में
जैसे दुख के भीतर
सुख की दबी याद में।
हे मेरी तुम !
हम जीते हैं
बिना जिए ही
जीने के एहसास में
जैसे फल के भीतर
फल के पके स्वाद में।[59]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि केदार ने जहां नारी को जकड़ और बंधन से मुक्त कर उसे शक्तिशाली ओर स्वतंत्र बनाए हैं, वहीं प्रेम की दमित इच्छाओं से उसे मुक्त कर सच्चे प्यार की अधिकारिणी भी बनाए हैं। इसके अलावा प्रेम को चोरी, अपराध, पाप आदि अंधविश्वासों से मुक्त कर उसे सम्माननीय और मर्यादित करते हैं। अतः कहा जा सकता हैं कि कवि 21वीं

सदी के युवाओं के लिए अपने प्रेम की कविताओं के माध्यम से दंपति-प्रेम के रूप-सौंदर्य के आदर्श का धरातल तैयार किया है।

प्रकृति प्रेम :

केदार के काव्य में प्रकृति-प्रेम उसी प्रकार प्रकट हुआ जैसे उनके जीवन में नारी प्रेम व्यंजित हुआ हो। कवि के प्रेम का आधार कोई अमूर्त भावना नहीं है बल्कि वस्तुजगत, रूपात्मक जगत, अनंत प्रकृति और मनुष्य का सौंदर्य उनके प्रेम का विषय हैं। कवि का जीवन अनुभव जैसे-जैसे बढ़ता गया है वैसे-वैसे उसका प्रेम व्यापक और सार्वभौमिक होता गया है। कवि का नारी प्रेम दांपत्य जीवन में तो बदलता ही है, साथ में वह प्रकृति से भी घुल मिल जाता है। व्यक्तिगत प्रेम का जो औदात्य-रूप चित्रण केदार ने किया है, उसे हिंदी साहित्य में नए सौंदर्य की स्थापना कही जा सकती है। विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं कि "केदार का व्यक्तित्व बहुत साफ-सुथरा था। मन की बात न छिपाते थे न छिपा पाते थे। व्यावहारिक काम भर को ही थे। उनकी शिष्टता, उनका संकोच और दूसरों का ध्यान रखने का शील स्वभाव उनकी कविताओं में सुरक्षित है।"[60] इस लिए कवि नदी की उदासी को महसूस कर उसे नहीं छेड़ता है, बल्कि दबे पांव वापस आ जाता है-

आज नदी बिलकुल उदास थी,
सोई थी अपने पानी में,
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था।
मैंने उसको नहीं जगाया,
दबे पांव घर वापस आया।[61]

अनजाने में ही उसकी नींद टूट न जाए, उदासी गहरी होगी। इसलिए उसे शांत हो जाने दो, उसे अशांत करना उसकी पीड़ा को बढ़ाना है अतः कवि किसी भी हालात में उसे प्रसन्न ही देखना चाहता है। यहां नायक और नायिका के संबंधों के बदलाव को प्रगतिशीलता की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। नायक नायिका की स्वतंत्रता और इच्छा की रक्षा करता है, उसे समानता और गरिमामय स्थान देता है। नारी के दैनिक जीवन को स्वावलंबी और गरिमामय बनाने का कवि का प्रयास है। कवि की यह सूक्ष्म अनुभूति प्रकृति को छायावाद की कलात्मकता से ऊपर उठाकर उसे दैनिक जीवन से जोड़ देती है, जो कवि की विशिष्टता है। किंतु निराला का नायक नारी को झकझोर कर जगाता है, वह उसकी इच्छा का जरा भी भान नहीं रखता है-

सोती थी, सुहाग-भरी-स्नेह स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी जूही की कली
जाने कहो कैसे ? प्रिय आगमन वह !

.....

इस पर भी जागी नहीं

निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की

कि झोंकों की झाड़ियों से

सुंदर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली

मसल दिए गोरे कपोल गोल।[62]

कवि केदार की प्रकृति में प्रेम नदी, जल और रेत के माध्यम से मुखरित हुआ है। कवि केदार की प्रेम भावनाएं समय के साथ उदात्त और मर्यादित होती जाती है। प्रौढ़ कवि केदार के लिए नारी शृंगार का साधन नहीं बल्कि सुख-दुख की सहचरी बन जाती है। उसका प्रेम यौन संबंधों से ऊपर उठ कर जीवन का स्थाई सुख-साधन बन जाता है। प्रेम की इस दशा में पहुंचकर कवि को सांसारिक दुख-द्वंद्वों से राहत मिल जाती है और वह प्रेम की गहराई में इतना डूबता है कि काल देवता को भी चुनौती देने लगता है-

रेत मैं हूं–जमुन जल तुम !

मुझे तुमने

हृदय तल से ढंक लिया है

और अपना कर लिया है

अब मुझे क्या रात-क्या दिन

क्या प्रलय–क्या पुनर्जीवन

रेत मैं हूं–जमुन जल तुम !

मुझे तुमने

सरस रस से कर दिया है

छाप दुख-दव हर लिया है

अब मुझे क्या शोक-क्या दुख

मिल रहा है सुख-महासुख ![63]

कवि जैसे-जैसे प्रौढ़ होता है उसकी अभिव्यंजना में भी प्रौढ़ता आ जाती है और वह अपनी प्रेम भावना को प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने लगता है। पत्नी की मृत्यु के बाद उनके एहसासों को वे हर जगह महसूस करते हैं, उनकी छुअन और स्वयं की अनुभूति की संवेदना को प्रकृति और प्रतीकों के सहारे व्यक्त करते हैं-

खूबसूरत बल्लरी के वेश में

और मेरी देह से लिपटी रही,

वह प्रिया है पेड़ हूं मैं नीम का

प्रमुदित हुआ।[64]

उक्त कविता में कवि ने अपनी प्रेम भावनाओं को बल्लरी, हवा और नीम के सहारे व्यक्त किया है जिसमें लक्षणा अर्थ में इन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है।

कवि केदार अपने प्रेम को अमूर्त भावों में नहीं व्यक्त करते बल्कि उसे वस्तुगत स्वरूप देकर स्पष्ट कर देते हैं। केदार भाग्यशाली हैं कि उन्हें जीवन में सच्चा प्रेम मिला है। इस प्यार ने उन्हें जीवन के वास्तविक अर्थ समझने में मदद की। कवि महसूस करता और मानता है कि यदि उसे जीवन में प्यार नहीं मिला होता तो वह किसी काम का नहीं होता। इस प्रकार इस लोकोक्ति को कवि की स्वीकारोक्ति पुनः विभव से भर देती है कि 'किसी भी पुरुष की सफलता में किसी न किसी नारी का हाथ होता है।' अपनी कविता में कवि ने उसके जीवन में प्रेम के व्यापक प्रभाव का चित्र खींचा है और तुलना भी किया है कि यदि उसे प्यार नहीं मिला होता तो उसकी स्थिति क्या होती। कवि इस प्रकार सोचता है-

प्यार न पाता
तो क्या होता ?
घास-फूस की झाड़ी होता
बेपेंदे की हांड़ी होता
बिना सूत की आंड़ी होता
मूसर होता
कांड़ी होता
बेपहिए की गाड़ी होता
सबसे बड़ा अनाड़ी होता
गूंगी खड़ी पहाड़ी होता
बंगाले की खाड़ी होता ![65]

उक्त कविता में कवि ने प्रेम के अभाव की दशा में अपनी स्थिति की संभावना को प्राकृतिक उपादानों के प्रयोग से ही स्पष्ट किया है। अतः स्पष्ट है कि जीवन में प्यार बहुत नसीब वालों को मिलता है। जिसे मिलता है उसे चारों ओर प्रकृति में प्रेम-लीला ही दिखाई पड़ती है और उसका जीवन सार्थक हो जाता है। शेष बचे बेनसीब वाले, जिन्हें प्राकृतिक प्यार में खोट निकाल कर उसे अपनी कमियों के बराबर करने से अवकाश नहीं मिलता है।

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का कथन है कि "प्रकृति को केदारनाथ अग्रवाल ने अनेकानेक रूपों में देखा है। प्रकृति और मनुष्य का ऐसा विविध रूपी संबंध शायद ही किसी अन्य हिंदी कवि ने देखा है। लेकिन प्रकृति में कुछ ऐसा भी है जो गुप-चुप चलता रहता है, जिसे हम देख नहीं पाते हैं और उस प्रच्छन्न अनालोकित निरंतर क्रिया का पता तब चलता है जब उसका परिणाम घटित होता है। ऐसी कविताओं में इस निरंतर अनालोकित नेपथ्य में चल रही क्रिया के साथ-साथ काल-दीर्घता का भाव-बोध भी व्यंजित होता है, क्योंकि परिणाम दीर्घकाल के

उपरांत ही प्रकट होता है। 'प्यास जाने कब बुझेगी' के 'कब' में वह बात निहित है।"[66] कवि की प्रकृति प्रेम की प्यास तो कभी नहीं बुझने वाली है क्योंकि उसने उस असीम प्यार को पढ़ लिया था जो अनालोकित है। जिसे देखने के लिए प्रेम-लोचन चाहिए, जो सृष्टि की निरंतरता बनाए हुए है।

वात्सल्य प्रेम :

प्रेम अपने सीमित अर्थ में रति-क्रीड़ा का पर्याय है परंतु अपने व्यापक अर्थ में वह समस्त मानवीय संवेदनाओं को लेकर चलता है। कवि 'आत्मगंध' की भूमिका में प्रेम को इसी व्यापक अर्थ में ग्रहण करता है। वे लिखते है कि "मैं प्रेम को जीवन का मूल मानता हूं। प्रेम है क्या? यह एक का दूसरे से संबंध होना है। दो आत्मीय इकाइयों का एकात्म होना है ..... इतना ही नहीं प्रेम मानवीय चेतना की परम उपलब्धि है जिसे पाकर आदमी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है।"[67] प्रेम की इस उदात्त दृष्टिकोण के कारण कवि केदार ने वैयक्तिक प्रेम-चित्रण के साथ-साथ प्रेम के व्यापक स्वरूप का भी चित्रण किया है। जिसमें वात्सल्य-प्रेम महत्त्वपूर्ण है। प्रेम का अत्यंत निर्मल एवं निःस्वार्थ रूप वात्सल्य है जो एक छोटे बालक के प्रति उत्पन्न होता है। साधारणतः वात्सल्य छोटी-वय के सुंदर बालक व बालिका को देखकर उत्पन्न होता है किंतु इसके अपवाद भी हैं। माता-पिता का वात्सल्य भाव अपने बच्चों के प्रति सदैव बना रहता है चाहे वह सुरूप हो या कुरूप हो। हेवलाक ऐलिस ने प्रेम के इस रूप को यौन-प्रेम से जोड़ा है। उसका कहना है "पूर्ण यौन-विकास के बाद ही प्रेम ऐसे मिलते-जुलते आवेगों से पुष्ट होता है जिसे वात्सल्य कहेंगे। उसके बाद स्त्री का यौन-प्रेम बच्चों के प्रति स्नेह तथा धैर्य की भावना से और पुरुष का प्रेम उनकी रक्षा करने और उनपर पहरा देने की भावना के साथ मिल जाता है।"[68]

फिर भी इस तथ्य में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि वात्सल्य प्रेम प्रायः नन्हें बच्चों जैसे स्तनपायी-अबोध, तोतली बोली बोलने वाले, किलकारी मारने वाले, घुटनों के बल रेंगने वाले, नितांत छोटे बच्चों के प्रति उपजता है। इस प्रेम में बालक की आह्लादकारी चेष्टाएं उद्दीपन का कार्य करती हैं। बालकों के प्रति उत्पन्न इस प्रकार के प्रेम को वात्सल्य प्रेम कहते हैं।

केदार जब छोटे-छोटे को हंसते-गाते देखते हैं तो उनका हृदय प्रसन्नता से मयूर की तरह नाच और गुलाब की तरह खिल उठता है। वे अपनी उम्र का ख्याल किए बिना बच्चों के साथ बच्चा बन जाते हैं। उनका वात्सल्य प्रेम अपने बच्चों के साथ 'कल्पलता सी सुघर सलोना' और 'कोमल कुसुम से भी' कविताओं में अपने पुत्री और पुत्र पर वात्सल्य-प्रेम की वर्षा करते नहीं अघाते हैं तो वहीं बेटी किरण के पुत्र की पुलकन देखकर उसके पति के सुरधाम जाने का दुख भूला देते हैं-

किरन गोद में लिए खड़ी है वत्स शिशिर को,
जो उसके ही तरूण अंग का अरूण अंग है,
जो उसके सुरधाम-सिधारे-
पति महेश की प्रमुदित छवि है,
जो उसके सस्मित शैशव की,
प्रेम-प्रणय की मदिर महक है,
जो अब उसके पंकिल जीवन का पंकज है।[69]

केदार का प्रेम व्यापक संदर्भ को लिए हुए अभिव्यक्त हुआ है जहां वे अपने बच्चों को देखकर उनपर मोहित होते है और वात्सल्य रस से उन्हें सिंचते हैं, वहीं वे गली, कूचे और विद्यालय से निकलते बच्चों पर भी अपने प्रेम रस की बारिश करने से नहीं थकते हैं। बच्चों के प्यार में वे अपनी उम्र को भी भूल जाते हैं। वात्सल्य रस का लोकधर्मी स्वरूप केदार की इन कविताओं में देखने को मिलता है-

छुट्टी का घंटा बजते ही कक्षाओं से
निकल-निकल आते हैं जिते-जगते बच्चे,
हँसते-गाते चल देते हैं पथ पर ऐसे
जैसे भास्वर भाव वहीं हों कविताओं के
बंद किताबों से बाहर छंदों से निकले
देश-काल में व्याप रही है जिनकी गरिमा।
मैं निहारता हूं उनको, फिर-फिर अपने को,
और भूल जाता हूं अपनी क्षीण आयु को।[70]

देश प्रेम :

देश प्रेम की भावना एक अत्यंत उच्चकोटि की उदात्त भावना है। हमारी भारतीय संस्कृति में जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी ऊंचा स्थान प्राप्त है। देश-प्रेम में मतवाला व्यक्ति देश के सागर, पहाड़, नदियां, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, ऋतुएं, वर्षा, गर्मी, ठंडी, खेती-फसलें, बोली-भाषा, राग-रागिनी को देखकर आनंद से झूम उठता है। हमारा देश बहुत बड़ा है तथा इसमें विविध धर्म एवं संस्कृतियों के लोग रहते हैं। इतने बड़े देश के प्रति और उसकी विविधता के प्रति प्रेम रखना देश प्रेम का द्योतक है। भारत में इस देश प्रेम की सुंदर विवेचना अथर्ववेद के मंत्रों में तथा महाकवि कालिदास के ग्रंथों में मिलती है।

कवि केदार का हृदय पूरी तरह से देश-प्रेम से लबालब है। उनके सामाजिक एवं राजनीतिक व्यंग्य भी देश प्रेम की भावना से उपजे हैं। जो बातें उनको देश हित में सही नहीं लगती, उनका वे खुलकर विरोध करते हैं। इस विरोध के पीछे कवि का देश और लोक प्रेम ही

मुख्य प्रेरक है। वास्तव में देश की जनता और वहां की प्राकृतिक परिवेश के प्रति गहरी आत्मीयता की अनुभूति ही सच्चा देश-प्रेम है। एक सच्चा देश-प्रेमी अपने देश की जनता के जीवन स्तर को निरंतर सुधारने और विकसित करने का प्रयास करता है। वह वहां की बोली-भाषा, रीति-रिवाजों और खान-पान के प्रति गहरा लगाव रखता है तथा उसके प्रति संवेदनशील होता है।

केदार ने सच्चे अर्थों में देश के प्रति प्रेम का अनुभव किया है। इसलिए वे देश के लोगों और उनकी समस्याओं को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित करते हैं। उनकी अनेक कविताएं ऐसी हैं जिनमें वे सीधे-सीधे देश के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति की है। मातृभूमि के प्रति अपने प्रेम का उद्‌घाटन करते हुए उन्होंने लिखा है कि–

तीन हाथ का यह मेरा तन
सागर-धरती-
और गगन-सा यह मेरा मन;
मेरे शोणित का यह तर्पण,
सब मेरा;
मेरे जीवन का एक-एक प्रण
मातृभूमि के लिए समर्पण !!
आज मुझे सुख है अगाधतम !
हमीं देश को
बना रहे हैं अब स्वर्गोपम,
रंग-रूप देकर सर्वोत्तम।
सुंदर है
यह निर्माणों का नया उपक्रम
कोटि भुजाओं का यह विक्रम !![71]

केदार को अपने देश के प्रति इतना लगाव है कि वे इस जीवन में ही नहीं, अपितु मरने के बाद भी पुनर्जन्म लेकर देश की मिट्‌टी से लिपटे रहने की कामना करते हैं। वे देश को विकास और निर्माण की दिशा में आगे बढ़ाकर सोने जैसा चमका देना चाहते हैं। लोकधर्मी संवेदना के कवि होने के कारण वे देश के विकास का मतलब देश की जनता के जीवन में उन्नति लाना चाहते हैं। जिसके लिए वे पूरी तरह आश्वस्त होकर आश्वासन देते हैं-

मर जाऊंगा तब भी तुमसे दूर नहीं हो पाऊंगा
मेरे देश तुम्हारी छाती की मिट्‌टी मैं हो जाऊंगा
मिट्‌टी की नाभी से निकला मैं ब्रह्मा होकर आऊंगा
गेहूं की मुट्‌ठी बांधे मैं खेतों-खेतों छा जाऊंगा

और तुम्हारी अनुकंपा से पककर सोना हो जाऊंगा

मेरे देश तुम्हारी शोभा मैं सोना से चमकाऊंगा ।[72]

कवि केदार लोकधर्मी संवेदना के कवि हैं, उनका लक्ष्य लोक-जीवन और लोक साधनों में तरक्की द्वारा लोक का कल्याण करना है। उनका देश-प्रेम प्रकारांतर से छोटे-छोटे व्यवसायों में उन्नति कर, कृषि-कार्य और उत्पादन में समृद्धि कर, आम जनता के जीवन स्तरों में सुधार करना, श्रम के महत्व की पहचान कराना, इस देश की प्रकृति, हवा, पानी, खेत-खलिहान की उन्नति करना, लोगों की जीवन दशाओं में सुधार करना देश प्रेम है। वस्तुतः कवि केदार का देश-प्रेम मात्र भावनात्मक उफान नहीं है बल्कि ठोस धरातल पर देशवासियों के जीवन में सुख-समृद्धि और उन्नति लाना है।

कविता और भाषा प्रेम :

आत्माभिव्यक्ति मनुष्य का अप्रतिम गुण है। मानवीय अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ माध्यम भाषा है। किसी विशिष्ट व्यक्ति या जन-समूह द्वारा अपने भाव, विचार आदि प्रकट करने के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले शब्द तथा उनके संयोजन का एक व्यवस्थित क्रम है, जिसे भाषा कहते हैं और इसी भाषा का व्यापकतत्व साहित्य कहलाता है।

भाषा और साहित्य के विकास का आधार संस्कृति होती है और संस्कृति के विकास और प्रसार का माध्यम भाषा है। संस्कृति के सभी उपजीव्य, तत्वदर्शन, धर्म, नीति, पौराणिकता, साहित्य, कलाएं, शासन, प्रशासन, सौंदर्य, भावना, प्रेम आदि की कुशल अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही होती है। भाषा से अधिक सशक्त भावाभिव्यक्ति का माध्यम कोई दूसरा नहीं है अर्थात भाषा की अर्थ वहन-क्षमता दूसरे माध्यमों की अपेक्षा अपरिमित है। भाषा की इस क्षमता की ओर संकेत करते हुए डॉ. देवराज लिखते हैं कि-

"जिस जाति के पास समृद्ध एवं शक्तिशाली भाषा का माध्यम है, वही कला तथा चिंतन के क्षेत्रों में बहुत विस्तृत उपलब्धियां प्राप्त कर सकती है।"[73]

भारतीय सांस्कृतिक विरासत को सतत प्रगामी और प्रगतिशील बनाए रखने के उद्देश्यों को ध्यान में रख कर आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक और पुरोधा कवि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने अमर भाषा-प्रेम के दोहे से ललकारा था-

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

बिन निज भाषा-ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।।

विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।

सब देसन से लै करहूं, भाषा माहि प्रचार ।।[74]

कवि केदारनाथ अग्रवाल भारतेंदु हरिश्चंद्र को अपने पूर्वजों में समादृत करते हैं और किसी न किसी रूप में उनकी धरोहर को आगे ले जाने का आजीवन भगीरथ प्रयत्न करते रहे।

केदार को हिंदी भाषा और हिंदी कविता से बहुत प्यार था। वे लिखते हैं कि "कविताओं ने मुझे आदमी बनाया कि मैं संसार में रहूं और जीऊं और उसके द्वंद्व और संघर्ष को झेलूं और मानवीय मूल्यों के सत्य को पकड़ूं और वही-वही लिखूं-रचूं, सृष्टि करूं जो अंदर और बाहर के यथार्थ को बेधे–सत्य की अभिव्यक्ति हो–और लोक को आलोक देकर सृजन की मानवीय सार्थकता सिद्ध करे। यही है मेरी रचना-धर्मिता का आधार जिसे मैंने पूरे मनोयोग और बुद्धि विवेक से अपनाया है और अपनाये हूं।"[75] कविताओं से आदमी बनने वाला कवि स्वयं कविताओं से कितना प्रेम करता है वह उनकी इस कविता से व्यक्त होता है-

दुख ने मुझको,
जब जब तोड़ा,
मैंने,
अपने टूटेपन को
कविता की ममता से जोड़ा,
जहां गिरा मैं,
कविताओं ने मुझे उठाया।[76]

केदार का काव्य प्रेम उनके स्वयं के जीवन से प्रेम करने के समतुल्य है, उन्होंने आजीवन कविता को लोक में आलोक फैलाने का माध्यम बनाए रखा और लोक में वे अपनी कविताओं के साथ हमेशा के लिए अमर हो गए हैं।

केदार हिंदी भाषा से बहुत प्रेम करते थे, वे अपने को हिंदी कवि कहलाने में गर्वान्वित होते थे। राष्ट्रभाषा को पूरे राष्ट्र से जोड़ने में उनकी कविताओं का महत्त्वपूर्ण योगदान सदा बना रहेगा। परंतु वे जब अपने पुत्र अशोक के पास ऊटी (तमिलनाडु) जाते थे तो नीलगिरी पर्वत के सौंदर्य और चेन्नई के समुद्रीय किनारों तथा वहां की महत्त्वपूर्ण वस्तुओं पर हिंदी में कविता रचकर हिंदी भाषा की राष्ट्रीय पहचान को समृद्ध किया है। हिंदी भाषा की उनकी सेवा अमूल्य है। हिंदी दिवस को याद करते हुए सन 1993 में वे हिंदी के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करते हुए वृद्धावस्था में यह कविता लिखी है-

हिंदी-दिवस है आज
चौदह सितंबर को।
नहा धोकर, स्वच्छ होकर,
कमरे में बैठकर
मातृभाषा हिंदी के
जाने-माने, नए पुरानों को
उनके योगदान के लिए
ससम्मान याद किया

मैंने उन्हें हार्दिक धन्यवाद दिया।[77]

वास्तव में केदारनाथ अग्रवाल भारतीय जातीय संस्कृति, साहित्य और संवेदना के पुरोधा हैं। उनका काव्य भारतीय जनता की वास्तविक संवेदनाओं की चित्रात्मक कथा है। केदार की कविता भारतीय जीवन परंपरा की रसीली सरिता है जिसमें प्रेम, प्रकृति, मानवता, संस्कृति, लोकधर्मिता एवं परंपरा का गौरव तथा देशी काव्य और भाषा का गर्व प्रवाहित होता है। उनका यह सच्चा, लोकवादी, देश-प्रेमी तथा स्वाभिमानी स्वभाव 'न चारण हूं' कविता में बोल उठता है-

गांव से आया गांव का संस्कार लिये;
जातीय जन-जीवन की,
भाषा स्वीकार किये
.....
सत्य को सदैव संप्रेषित करता हूं
अतिरिक्त, और जो कुछ लिखता हूं,
उसे भी सारवान सार्थक समझकर
कलात्मक अभिरुचि से
लिखता हूं
भाव भाषा और सिद्धांत के प्रति
पूर्णतया कटिबद्ध दिखता हूं।[78]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भक्तिकाल में जिस मानव प्रेम की खोज शुरू हुई थी। वह भारतेंदु से पुनः उठकर छायावाद तक नई परिणति प्राप्त करती रही है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताएं भी समय के धरातल पर उस मानव प्रेम को समृद्ध करती हैं। इसलिए उनकी रचनाएं जहां एक ओर भक्तिकाल की मानवीय ओजस्विता से लबालब हैं वहीं दूसरी ओर छायावादी कोमल भावनाओं से अभिप्रेरित भी हैं। उनकी कविताएं अपने युग के सच को उजागर करती हैं तथा लोक का आलोक बन गई हैं। इसलिए उनकी कविताओं में पारंपरिक प्रेम व्यापक होकर मानवता के विशाल चादर के तले जड़-चेतन का रक्षण करता है।

*****

संदर्भ श्रोत

1. डॉ. वीरेद्र सिंह यादव, वेलंटाइन-डे की सार्थकता, साहित्य कुंज, वेब पत्रिका, 5/4/2012
2. रामनरेश त्रिपाठी, पथिक, आरोह-1 एनसीइआरटी, पृ. 143
3. डॉ. वीरेद्र सिंह यादव, वेलंटाइन-डे की सार्थकता, साहित्य कुंज, वेब पत्रिका, 5/4/2012
4. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, अध्याय तीन, पृ. 176
5. रामधारी सिंह 'दिनकर', उर्वशी, लोकभारती प्रकाशन, पृ. 11
6. वही, पृ. 11
7. वही, पृ.11
8. जेम्स होस्टिंग्स, इंसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजंन एंड एथिक्स वॉलूम-1, पृ. 103
9. डॉ. दीप्ति गुप्ता, प्रेम, साहित्य कुंज वेब पत्रिका, 2/4/2012
10. आचार्य वात्स्यायन, कामसूत्र, श्लोक सं. 1/2/11
11. सुनीताबेहन अ. पांडे, यशपाल के उपन्यासों में प्रेम और विवाह की समस्याएं, शोधग्रंथ, पृ. 53
12. वही, पृ. 55
13. वही, पृ. 55
14. वही, पृ. 55
15. वही, पृ. 55
16. वही, पृ. 55

17. पुष्पा देबी, प्रो. हरिशंकर आदेश के काव्य में प्रेम और सौंदर्य चित्रण, पृ. 2
18. वही, पृ. 2
19. वही, पृ.3
20. सुनीताबेहन अ. पांडे, यशपाल के उपन्यासों में प्रेम और विवाह की समस्याएं, शोधग्रंथ, पृ. 60
21. डॉ. वंदना शर्मा, मध्यकालीन संत-काव्य में प्रेम तत्व, पृ. 5
22. वही, पृ. 6
23. वही, पृ. 4
24. डॉ. प्रदीप श्रीधर; प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति, पृ. 16
25. वही, 16
26. वही, 16
27. वही, 17
28. डॉ. रामकुमार खंडेलवाल, पृ. 18

29. डॉ. अशोक त्रिपाठी, केदारनाथ का प्रेम कुछ अलग है, बीबीसी हिंदी दिनांक: 6/3/2011
30. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 74
31. केदारनाथ अग्रवाल, आग का आइना, पृ. 39
32. सारदा बनर्जी, महिला जगत, प्रवक्ता.कॉम, 10/4/2013
33. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 61
34. कबीर दास, कबीर के दोहे, कविताकोश.कॉम, अंतरजाल
35. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 73
36. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 77
37. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 94, 95
38. वही, पृ 110, 111
39. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, पृ. 150
40. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील काव्यधार और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 69
41. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, पृ. 62
42. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, पेड़ के हाथ, पृ. 12
43. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 68
44. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', वैदेही वनवास, चतुर्दश सर्ग, छंद 89
45. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, पृ. 15
46. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', गीतिका, पृ. 17
47. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, पृ. 21
48. वही, पृ. 67
49. वही, पृ. 75
50. वही, पृ. 126
51. वही, पृ. 111
52. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 19
53. रसखान, भक्तिकाल, दोहा, हिंदीसमय.कॉम
54. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 19
55. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, पृ. 115
56. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, पृ. 73
57. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 31
58. प्रगतिशील साहित्य और केदारनाथ अग्रवाल, सं. डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 73
59. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, 42
60. डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी, पेड़ का हाथ, पृ. 19
61. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 47
62. सं. रामविलास शर्मा, रागविराग, पृ. 48, 49

63. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, पृ. 121
64. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 102
65. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ. 45
66. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, पेड़ का हाथ, पृ. 22
67. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, पृ. 4
68. हेवलॉस एलिस, अनुवादक मन्मथनाथ गुप्ता, यौन मनोविज्ञान, पृ. 254, 255
69. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, पृ. 100
70. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 100
71. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, पृ. 119
72. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, रंग बोलते हैं; पृ. 103
73. सुनीताबेहन अ. पांडे, यशपाल के उपन्यासों में प्रेम और विवाह की समस्याएं, शोधग्रंथ, पृ. 71
74. भारतेंदु हरिश्चंद्र, निज भाषा उन्नति अहै..., दोहा, हिंदी विकीपीडिया.कॉम
75. केदारनाथ अग्रवाल, अनहारी हरियाली, पृ. 6
76. केदारनाथ अग्रवाल, बोले बोल अबोल, पृ. 122
77. वही, पृ. 140
78. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, पृ. 74

*****

पंचम अध्याय

केदार अग्रवाल के काव्य की प्रगतिशीलता

प्रगतिशीलता : अवधारणा एवं स्वरूप

'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशीलता' दोनों शब्दों का अर्थ लगभग एक ही होता है। किंतु साहित्य में प्रगतिवादी साहित्य को प्रायः मार्क्सवादी साहित्य या साम्यवादी साहित्य के रूप में प्रचारित किया जाता रहा है। मार्क्सवाद एक विचारधारा है, जो सामंती मूल्यों तथा पूंजीवादी सोच के विरुद्ध सामान्य नागरिकों, विशेष कर किसानों और श्रमिकों के पक्ष में कार्य करती है। यह विचारधारा पूरी तरह ऐतिहासिक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का पालन करती है। जिसका तात्पर्य होता है कि दुनिया की सभ्यता एवं संस्कृतियों का विकास आवश्यकता की पूर्ति के लिए किए गए संघर्ष से हुआ है, न कि किसी दैवीय शक्ति द्वारा रचा गया है। इस विचारधारा का विकास विदेशी भूमी में होने के कारण प्रायः लाभ प्राप्त वर्ग अपने सामंती, पूंजीवादी, जातीय तथा धार्मिक हितों की रक्षा हेतु सदैव इसका विरोध करता रहा है। अतः मार्क्स-दर्शन से प्रभावित दृष्टिकोण को आगे बढ़ाने वाली भारतीय धारा को प्रायः विद्वान हिंदी साहित्य में प्रगतिशील धारा के नाम से अभिहित करते हैं, इससे प्रभावित साहित्य को प्रगतिशील साहित्य कहा जाता है। यह विचारधारा भारतीय साहित्य में सन 1936 ई. को लखनऊ में मुं. प्रेमचंद की अध्यक्षता में संपन्न प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन से एक स्वरूप ग्रहण किया। उस समय से जो लेखन आम आदमी के हित में किया जाता है, उसे प्रगतिशील साहित्य के नाम से जाना जाता है।

यहां प्रश्न उठता है कि 'प्रगतिशील' और 'प्रगतिवाद' में क्या अंतर है? यह अंतर क्यों पैदा किया जाता है? इस अंतर का आधार क्या है? जो विचारणीय प्रश्न हैं, पर यह तो स्पष्ट है कि यह अंतर राजनीतिक मतवादों को लेकर किया जाता है जिसके कारण 'प्रगतिवादी' लेखकों को कम्युनिस्ट पार्टी से संबद्ध कर दिया जाता है। महेंद्र भटनागर का कथन है कि "प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवादी साहित्य में कोई तात्विक अंतर नहीं है।"[1] प्रतिक्रियावादी शक्तियां जनवाद और लोकतंत्र को कमजोर करने के लिए इस प्रकार के भेदों को बढ़ावा देती रहती हैं ताकि उसके आड़ में वे अपने हितों को सुरक्षित रख सकें। अतः वे प्रगतिवाद को प्रगतिशील कह कर उसकी धार को कमजोर करने की कोशिश करती रही हैं।

जिस प्रकार परिवर्तन काल का स्थायी गुण है। उसी प्रकार प्रगतिशीलता भी मानव के सोच, विचार और विकास का स्थायी तत्व है। 'प्रगतिशील' वह व्यक्ति या समाज होता है जो मानव के कल्याण के लिए वैज्ञानिक तथा तार्किक तरीकों से सोचता है। इतिहास में काल और परिस्थितियों के कारण अनेक प्रकार की विषमताएं जन्म ली हैं, जो धार्मिक, भाषाई, लैंगिक, जातीय, अंधविश्वास, रहन-सहन आदि भेदों के आधार पर स्थायी बनी रहती हैं। उसी से जीवन जीने की भिन्न-भिन्न शैलियां विकसित होती हैं। जिसके कारण सामाजिक, धार्मिक, और

आर्थिक आधारों पर शोषण का जन्म होती है। प्रारंभ में यह शोषण वैधानिक संस्कारों से अपने अमानवीय कृत्यों को आधार प्रदान करता है। किंतु जब जनता में शोषण इस स्तर पर फैल जाता है कि वह अन्याय लगने लगता है। तब समाज या समुदाय में उसके निवारण हेतु प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया का नेतृत्व प्रगतिशील विचार के लोग करते हैं। यदि सत्ता के संस्थानों पर रूढ़िवादी शक्तियां विराजमान रहती हैं, तो यह संघर्ष हिंसक एवं घृणित बन जाता है। हिंसा का परिणाम दोनों पक्षों के लिए हानिकारक होता है। अतः अहिंसक परिवर्तनकारी संघर्ष सभी पक्षों के लिए मध्यममार्ग के रूप में स्वीकार्य होता है। इस मध्यममार्ग का नेतृत्व प्रगतिशील लोग करते हैं। साहित्य में सभी प्रकार के शोषणों से मानव मात्र को मुक्त कर उसके मान, सम्मान और स्वतंत्रता की गौरवपूर्ण स्थापना करने वाली रचनाएं प्रगतिशील साहित्य कहलाती हैं। कविता के माध्यम से मानव मुक्ति की रचनाएं करने वाले कवि प्रगतिशील कवि कहे गए हैं तथा उनकी कविताओं को प्रगतिशील काव्य की श्रेणी में रखा जाता है। साहित्य और समाज का संबंध हमेशा ही अत्यंत गहरा रहा है। इसलिए वह एक दूसरे को प्रभावित, नियंत्रित और संचालित भी करते रहे हैं। साहित्य की इसी प्रवृत्ति के कारण प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को "जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब"[2] कहा है।

हम जिसे प्रगतिशील कविता कहते हैं, वह अकस्मात नहीं पैदा हो गई है। उसकी शुरूआत क्षीण रूप में ही बहुत पहले, चाहे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र या कला-साहित्य-संस्कृति क्षेत्र में हो चुकी होती है। जिसे लोक मंगल की भावना के नाम से भी संबोधित किया गया है। यह प्रगतिशील प्रवृत्ति एक समय में केंद्रीय प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ती है। जिसका विकास आगे चलकर व्यवस्थित और विस्तृत रूप में होता है। जिसे कभी कभी विद्रोह भी कहा जाता है, पर वास्तव में वह प्रकारांतर से परंपरा का विकास ही होता है।

भारतीय संदर्भ में प्रगतिशील कविता एकाधिकारी शोषक-शासक वर्ग के विरूद्ध जनमुक्ति का उद्घोष बन कर आई है। यह कविता सामंती, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी लूट तथा भ्रष्टाचार, अंधविश्वास, धार्मिक, जातीय, नस्ली, भाषाई तथा लैंगिक श्रेष्ठता के विरूद्ध सशक्त विरोध दर्ज करती है। इसके अतिरिक्त जनता का शोषण करने वाले रूपों, नियमों, कानूनों, अंधविश्वासों का यथार्थ चित्रण कर उनका पर्दाफाश करती है। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील कविता जनता को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने, उनकी क्षमता को बढ़ाने तथा उन्हें एक जुट हो कर मुक्ति के लिए जूझने, टकराने और संघर्ष करने की प्रेरणा भी देती है।

केदार के काव्य में प्रगतिशील तत्व

केदारनाथ अग्रवाल उस प्रगतिशील काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं, जो मार्क्सवादी विचार धारा तथा भारतीय भाव-धारा के मेल से जीवन दृष्टि प्राप्त की है। कवि की मानवतावादी दृष्टि वैदिक कालीन सोच "वसुधैव कुटुंबकम्" की भारती दृष्टि है, जो "मानवतावादी साहित्यकार 'रोमा

रोला' की रचना 'कोलासब्रेगनन' जो एक साधारण काम काजी आदमी को समर्पित है"[3], से मेल खाती है। ऐसी ही अखंड मानव जीवन दृष्टि की सर्वोत्तम निर्मित केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में हुई है। इसलिए वे लोक संवेदना और लोक सौंदर्य के सबसे बड़े प्रगतिशील कवि हैं। उनकी काव्य संवेदना निम्नलिखित पंक्तियों में उजागर होती है -

छोटे हाथ
सबेरा होते
लाल कमल से खिल उठते हैं,
करनी करने को उत्सुक हो
धूप हवा में हिल उठते हैं।[4]

उक्त पंक्तियों में 'छोटे हाथ' आम आदमी का प्रतीक है, जो सुबह-सुबह आशाओं से भरा होता है और कर्म करने के निमित्त उत्साहित होता है, जो धूप और हवा को सहते हुए कर्मरत होता है। ऐसे ही लोगों की प्रगति के लिए केदार का काव्य समर्पित है।

कवि जनता को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक शोषणों से मुक्त कराने हेतु अपनी कविताओं की रचना की है। उसकी कविताएं जन-मानस में परिवर्तन की हलचल पैदा करने के लिए की गई हैं। उसका मंतव्य काम करने वाले हाथों में दाम प्राप्त कराने का है अर्थात वह आर्थिक शोषण से जनता को मुक्त कराना चाहता है, उसके लिए जीवन जीने की स्थितियां पैदा करना चाहता है। कवि की इस चाहत में पूरी मानवता का कल्याण निहित है। अतः कवि अपने उद्देश्यों को स्वर देते हुए कहता है-

हमारी जिंदगी के दिन
बड़े संघर्ष के दिन हैं।
हमेशा काम करते हैं,
मगर कम दाम मिलते हैं।[5]

प्रगतिशीलता की परिभाषा करते हुए मुं. प्रेमचंद ने लिखा है- "वह सब कुछ, जो हमें अकर्मण्यता, अंधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है। वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं"।[6]

प्रगतिशील कवि आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार "प्रगतिशील साहित्य राष्ट्रीय स्वाधीनता, शांति और जनता के लिए संघर्ष का साहित्य है। प्रगतिशील साहित्य में देश में साम्राज्यवाद एवं सामंतवाद को हटाने के लिए संघर्ष करता है। प्रगतिशील साहित्य विभिन्न भाषावादी इलाकों की जनता में एकता कायम करता है और उनकी आपसी मित्रता एवं भाई चारे को सुदृढ़ करता है। प्रगतिशील साहित्य विज्ञान से प्रेम और कला जनता के लिए, इन दो

सिद्धांतों को मिलाकर चलता है।[7] उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रगतिशील साहित्य वह साहित्य है जो नवीन खोजों, विज्ञान और विवेक के आधार पर समय के साथ स्वयं को संगत बनाए रखता है। अतः प्रगतिशील काव्य में निम्नलिखित तत्व पाए जाते हैं-

1. सामाजिक संवेग
2. राष्ट्रीय स्वाधीनता
3. शांत तरीके से जनता के हित में संघर्ष
4. समान हितों के लिए संगठित होना
5. अंधविश्वास और भेदकारी रूढ़ियों का विरोध
6. लोक-जीवन का साहित्य और कला में प्रमुखता
7. मानव शोषण का विरोध और उसकी उन्नति का प्रयास

उक्त विशेषताएं केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में भरी पड़ी है, उनका पूरा रचना संसार आम आदमी के जीवन की दशाओं और उसके समाधान से भरा पड़ा है, जिसमें लोक जीवन की सुगंध, प्रकृति का सौंदर्य, सच्चे नारी प्रेम का सुख दीप्तिमान है। उन्होंने शिल्प के स्तर पर भी लोक भाषा में सरल वाक्य रचना कर, कविता को शास्त्रीय बंधनों से मुक्त कर, उसमें लोक-रंग का नया सौंदर्य खिलाया है, जिससे काव्य की संप्रेषणीयता का विस्तार हुआ है। उक्त सभी तत्वों का आगे सामाजिक संवेग तथा अन्य संवेग शीर्षकों के अंतर्गत विवेचन एवं विश्लेषण करने की कोशिश की गई है।

सामाजिक संवेग

समाज एक से अधिक लोगों के समुदाय को कहते हैं। समाज के लोग आपसी आचरण सामाजिक सुरक्षा और जीवन निर्वाह के उपाय आदि क्रियाओं के लिए प्रायः एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। इस समाज की निम्नतम संगठित इकाई जातियां हैं। भारत में जातियों के समूहों से वर्ण बने हैं। अतः जब तक जातियों में आंतरिक संवेग न पैदा हो, वे नियतिवादी बनी रहती है। जिसके कारण जाति के प्रगतिशील लोगों को भी जातीय परंपराओं, रूढ़ियों और अंधविश्वासों के पालन हेतु, बाहरी और भीतरी दबाव पड़ता है, जो जाति के लोगों को निराश, संकीर्ण और भाग्यवादी बनाए रखता है। इसके विपरीत पश्चिमी देशों में जाति और वर्ण की जगह समाज समुदाय और वर्ग के आधार पर संगठित होता है। समान कार्य करने वालों से समुदाय तथा समान आर्थिक हैसियत रखने वालों से वर्ग बनता है। कार्य कुशलता और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन से लोगों के समुदाय और वर्ग में बदलाव होता रहता है अर्थात किसी समाज का सदस्य होने के लिए व्यक्ति में कौशल का विकास और आर्थिक उन्नति करने की शर्त लागू होती है। जबकि भारत में जाति और वर्ण की सदस्यता की योग्यता जन्म आधारित है। जिस कारण से इस देश में काम को छोटा और बड़ा माना जाता है। जबकि पश्चिमी देशों में काम

लाभकारी और अलाभकारी माने जाते हैं। इसी कारण भारतीय उपमहाद्वीप में जातीय ऊंच-नीच की भावना देखने को मिलती है। जबकि पश्चिमी देशों में आर्थिक आधारों पर भेद-भाव किया जाता है- जैसे थ्री स्टार, फाइव स्टार, सेवन स्टार होटल आदि। किंतु भारतीय समाज में कौशल क्षमता के स्थान पर जाति-वर्ण का अधिक ध्यान दिया जाता है। इस कारण से कथित निम्नवर्णीय जातियां प्रगति की धारा से जुड़ नहीं पाईं। इस धारा से उन्हें जोड़ने के लिए उनमें आत्मविश्वास और आपसी सहयोग पैदा करने की अति आवश्यकता है। स्वतंत्रता आंदोलन और स्वतंत्रता पश्चात शिक्षा का प्रसार लोगों में जागरूकता पैदा किया है। यद्यपि यह शिक्षा सही माने में अभी भी लोगों तक नहीं पहुंच पाई है। किंतु इसकी वजह से सामाजिक हलचल पैदा हुई है। लोग जागरूक हो रहे हैं। परिणाम स्वरूप समाज से जड़ता दूर हो रही है। लोगों में वैज्ञानिक बोध पैदा हो रहा है। इसी सामाजिक गतिशीलता को सामाजिक संवेग कहते है। जैसे जैसे यह संवेग बढ़ता जाएगा वैसे वैसे आर्थिक और भौतिक उन्नति होती जाएगी। परिणाम स्वरूप वैज्ञानिकता, तकनीकी और संप्रेषण से मानव उच्च से उच्चतर बनता जाएगा।

इसी जातीय बोध को निराला की इन पंक्तियों में वर्गीय चेतना के कारण उत्पन्न संवेग के रूप में व्यक्त किया गया है-

आज अमीरों की हवेली,
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अंधेरे का ताला।[8]

अतः यह कहा जा सकता है कि इस जातीय बोध के कारण मार्क्सवादी वर्गीय चेतना भारत में बहुत हद तक कारगर साबित नहीं हुई। किंतु इस चेतना का विभिन्न स्तरों पर प्रगतिशील लोगों द्वारा भारतीय करण किया गया। केदारनाथ अग्रवाल का काव्य पूरी तरह से उसी मार्क्सवादी चेतना का भारतीयकरण है, जो समाज में विचार संचार के माध्यम से संवेग पैदा करने का सफल प्रयास है।

समाज में चमार (हरिजन) बेज़मीन खेत मजदूर होता है। प्रायः उसका शोषण जमींदारों या मालिकों द्वारा किया जाता है। उसके श्रम को उचित मान और मजदूरी प्राप्त नहीं होती है, इसके अतिरिक्त इन्हें सामाजिक रूप से अछूत और कमजोर माना जाता है। जिसके कारण पूरा समाज उसके प्रति हो रहे पाशविक अत्याचार का बोध नहीं कर पाता है। यह ऊंच-नीच एक ऐसी सीढ़ी है जिसमें ऊपर के डंडे पर बैठी जाति कहीं पर आ-जा सकती है, उसके ऊपर कोई भार नहीं होता है। किंतु नीचे के डंडे पर बैठी जाति को ऊपर के सभी जातियों का बोझ सहन करना पड़ता है। यदि वह ऊपर उठने की कोशिश करती है, तो ऊपर बैठे लोग उसे एक साथ दबा देते है और वह कुचली-सी पसर जाती है। केदारनाथ अग्रवाल इनमें जोश और संवेग शक्ति भरने का प्रयास करते हुए कहते हैं-

डंका बजा गांव के भीतर
सब चमार हो गए इकट्ठा।
एक उठा बोला दहाड़ के :
"हम पचास हैं,
मगर हाथ सौ फौलादी है।
सौ हाथों के एका बल बहुत बड़ा है।
हम पहाड़ को भी उखाड़कर रख सकते हैं।
जमींदार यह अन्यायी है।
कामकाज सब करवाता है,
पर पैसा देता है छै ही।[9]

केदार 'सत्यमेव जयते' जैसे भारतीय अवधारणा में पूरा विश्वास करते थे। इस लिए जनता में व्याप्त निराशा और हताशा दूर करने का सदैव प्रयास करते थे। छली, धोखेबाजी, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, घूस, सूद आदि समाज में व्याप्त दुष्प्रवृत्तियों के कारण परिश्रम करने वाला योग्य व्यक्ति हार जाता है। प्रायः भारत के किसान, छोटे-छोटे लोग, मजदूर आदि धर्म के उदात्त गुणों से इतने भरे होते हैं कि वे छल करना, धोखा देना, घूस देना आदि दुर्गुणों से दूर होते हैं, जिसके कारण उनका सत्य पराजित होता रहता है। इस पराजय से उनमें निराशा, अवसाद तथा कुंठा पैदा हो जाती है, जिससे वे यथास्थितिवादी बन जाते हैं। यही कारण है कि भारतीय समाज में नियतिवादी स्थिति प्राचीनोत्तर काल से मध्यकाल होते हुए स्वतंत्रता पूर्व तक बनी हुई थी। अतः कवि केदारनाथ अग्रवाल उन स्थितियों का अपनी कविता के माध्यम से यथार्थ चित्रण करते हैं, ताकि सभी पीड़ितों को समझ में आए और उनमें बदलाव का संवेग पैदा हो-

अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी का जीवन है,
संज्ञाहीन, अर्थहीन,
बेकार, चिरे-फटे, टुकड़ों सा पड़ा है!
देरी है- एक दिन, एक बार, आग के छूने की,
राख हो जाना है।[10]

केदारनाथ अग्रवाल सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कवि थे। इस लिए वह समाज में चेतना की आग जलाना चाहते थे, ताकि उनमें संवेग पैदा हो जाए। जिससे आम आदमी अपनी पीड़ा को दूर करने के लिए प्रयास करें। भारत देश का इतिहास ही गुलामी का रहा है। मुस्लिम शासकों से लेकर अंग्रेजों तक ने सदैव जनता को असामी बना के रखा था। देश की कृषक और श्रमिक जनता को यह जीवन दुख से पीड़ित मिला है। उसके पास कभी ऐसा अवसर नहीं

मिलता है कि वह खुशी से उल्लास कर सके। पूरा जीवन निराशा, डर, भय से भरा रहा है। पेट की भूख शांत करने के लिए ही वह हाड़तोड़ मेहनत करता रहा है। फिर भी कभी बचत का ढेर नहीं लगा पाया। आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हुई। ऐसा नहीं है कि इस देश का निवासी श्रम नहीं करता, उसे बचत करने नहीं आती है। वह खूब परिश्रम करता है, बचत भी करता है। किंतु जो शासन तंत्र है, वह उसकी बचत को लूट लेता है। इसलिए भारतीय जनमानस में इस संसार को भ्रम मानने की विचारधारा फैली हुई है। बार-बार हार जाने से लोग जीवन को नर्क मान बैठे हैं। उन्हें लगता है कि सिवा ईश्वर की कृपा के उनकी दशा में कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है। ऊपर से पूर्व जन्मों के दोषों के कारण उनकी यह दशा है, जैसे विचार के कारण अपराध बोध से भी ग्रसित रहते हैं। भारतीय लोक मानस में इस संसार के जीवन को सुंदर बनाने की कोई परंपरा नहीं दिखाई पड़ती है। वे पर्व-त्यौहार जो मनाते हैं, वह भी परलोक को सुधारने के लिए। सामुदायिक जीवन और उल्लास के ज्यादा प्रसंग नहीं मिलते हैं। इसलिए कवि उनमें से निराशा निकालने और इसी जीवन को बेहतर जीने की उम्मीद भरता है। कवि उन्हें भुजवीर कह कर संबोधित करते हुए संदेशा देता है कि इन्हीं हाथों से इसी जीवन को सुंदर, संतुष्ट और आन, शान भरा बनाओ। इसी जीवन को रसमय, सुखमय बनाओ और मनुष्य होने का अभिमान करो, इस लिए कवि कहता है-

हार न मानो,
और न हारो, जीना जानो।
वह जीवन की आन हमारी शान है,
और हमारे भुजवीरों की प्रान है।[11]

कोई समाज शांति से तभी आगे बढ़ सकता है जब वहां न्याय व्यवस्था कारगर हो किंतु भारत में सच्चे आदमी को शायद ही न्याय मिलता है। कचहरी में तो गरीब को कभी न्याय नहीं मिलता। प्रायः न्याय व्यवस्था का उपयोग गरीब को सताने के लिए होता है। केदार लोक संवेदना के कवि हैं, इसलिए उन्हें 'न्याय मिले तो कैसे' की चिंता सता रही है। अतः वे लोक में संवेग पैदा करने के लिए कटिबद्ध हैं, ताकि जनता को न्याय मिल सके। यदि न्याय की स्थापना नहीं होती है, तो जनता इसके लिए लड़े और न्याय सुनिश्चित कराए। किंतु देशी और विदेशी दोनों यहां पर एक हो गए है। जनता को लूटते रहने की साजिश कहीं बाहर न आ जाए, इसके लिए स्वतंत्रता के छः दशक बीत जाने के बाद भी उच्चतम न्यायालय में न्याय की भाषा अंग्रेजी बनी हुई है। यहां तक की देश की जनभाषा हिंदी को भी न्याय के मामलों में समान अधिकार नहीं प्राप्त हो पाया है। आखिर इस देश में अंग्रेजी शासन तो नहीं है, न न्यायाधीश अंग्रेज हैं। फिर यह भाषा कैसे न्याय की भाषा बनी हुई है? आखिर जनता की तरफ ध्यान इन बड़े-बड़े डपोरी विद्वानों का अभी तक क्यों नहीं जा रहा है। जब देश की जनता को कानून समझ में ही नहीं आएगा और न्याय सुनिश्चित ही नहीं होगा, तो किन आधारों पर लोगबाग

अन्याय के विरुद्ध लड़ेंगे। यही वह जड़े हैं जिससे भ्रष्टाचार फैल रहा है। देशी लोगों को न्याय पाना मुश्किल हो गया है, किंतु विदेशियों को न्याय हमारे देश में पाना बहुत आसान है। यहां तक कि धन और बल द्वारा न्याय को बदलवाना पहले भी आसान था, स्वतंत्रता के पश्चात भी वैसे ही है। न्याय और तटस्थता के अभाव में जनता निराश और परेशान जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त है। पारदर्शिता, तटस्थता और सहज न्याय अभी भी इस देश में असंभव है, अतः कवि केदार के काव्य-संवेदनाओं में लोगों के संघर्ष की पीड़ा पल-पल और जन-जन में दिखाई देती है-

चौतरफा है भ्रष्टाचार
लम्बे चौड़े खोले द्वार
देशी और विदेशी यार
काट रहे मुफ्ती कलदार[12]
x x x x
सच के पांव उखड़ते
झुठ के जब झंडे गड़ते,
सच जीते तो कैसे
न्याय मिले तो कैसे।[13]

कवि केदारनाथ अग्रवाल जीवन को प्रेममय, सौंदर्ययुक्त और उल्लास से भरा देखना चाहते हैं। उनकी कविताएं लोक रस से भरी हुई हैं। लोक रस पैदा करने के लिए वे ब्रज की रसात्मक पदीय परंपरा को अवध की लोक-गीतों की शैली में रचते हैं- जहां 'ओढ़नी' और 'घघरिया' लोक जीवन में उमंगों की सूचक है, जैसे कृष्ण के साथ निर्मल और स्वच्छंद राधा नाच रही हो- फागुन का महीना गेहूँ के खेत में उससे दो-ढाई फिट बड़ी सरसों पूरे खेत में नीलिमा बिखेरी रहती है, जैसे जवान होती बेटी पूरे घर को सुगंधित किए रहती है। बाद में सरसों में पीले-पीले फूल आते हैं, मानो पूरा घर दस-पंद्रह दिन हल्दी से रंगा, बेटी की शादी की तैयारी में जुटा हो। धीरे-धीरे पीले फूल झर जाते हैं और सरसों की बालियां गदराने लगती हैं और उसके पत्ते भी झर जाते हैं, केवल निराली सरसों के डंठल खड़े रहते है। जहां कवि सरसों के जीवन में नारी के सरस जीवन को आरोपित कर उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा बिखेरी है। वहीं उसने प्रकृति के उपादान सरसों का मानवीकरण कर, गांव की गोरी के रूपक की सरस व्यंजना की है। इन काव्य पंक्तियों में लोक रस का अनोखा परिपाक हुआ है। ऐसी सजीव यथार्थ व्यंजना केवल केदार जैसे कुसुम-हृदय प्राणी और लोहे जैसा कठोर-कलाकार ही कर सकते हैं। ऐसी सुंदर-सजीव काव्य रचना शायद ही किसी कवि ने किया हो-

चोली फटी सरस सरसों की
लहंगा गिरा फागुनी नीचे

चूनर उड़ी अकासी नीली,
नंगी हुई पहाड़ी देखो।[14]

केदारनाथ अग्रवाल समाज में संवेग, गतिशीलता और संचार पैदा करने के लिए अनेक तरह के अपने काव्य-रचना में प्रयास करते हैं। जिसके लिए वे सामाजिक, ग्रामीण और ग्राम्य-प्रकृति बोध के प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। 'बसंती हवा' और 'चंद्रगहना से लौटती बेर' उनकी महत्वपूर्ण कविताएं हैं। 'बसंती हवा' उस चंचल ग्राम्य किशोरी का प्रतीक है जो स्त्री की वैयक्तिक स्वतंत्रता तन-मन-कर्म से पाती है। इस प्रकार केदार नारी के उस रूप को सामने लाते हैं जिसमें वह हवा जैसी स्वतंत्र और स्वच्छंद है। सबको सुख देती है, सबका सुख हरती है और जरूरत पड़े तो लोगों की दिशा और दशा भी तय करती है। इस प्रकार कवि बंधनकारी मर्यादाओं को तोड़कर नारी के उन्मुक्त और उदात्त रूप को समाज के सम्मुख लाते हैं, ताकि समाज नारी की स्वतंत्रता को समझे और उसे 'बसंती हवा' जैसा बहने दें।

'चंद्रगहना से लौटती बेर' कविता में 'तीसी' और मुरैठा 'चना' के बीच तकरार स्वाभाविक रूप से किशोर भावनाओं के मनोविज्ञान को व्यक्त करती है। जिसे 'सरसो' जैसी- बड़ी बेटी, भाभी, बहन, साली आदि के रूप में परिवार के सदस्य का सदा सहयोग मिलता है। यह अवधी लोक परंपरा बहुत ही लाभप्रद है। इसमें किशोर, किशोरी एक दूसरे को अच्छी तरह से जान-बूझ कर संबंधों में मिठास लाते हैं। जिसे पारिवारिक सुरक्षा मिली होती है। ऐसी रीति से बने संबंधों में कभी दरार नहीं आती बल्कि समय के साथ वह अधिकाधिक मधुर और सुखकर हो जाता है।

केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी कविता में 'लोहा' शब्द का प्रयोग बार-बार किया है। यह प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीक के रूप में आया है। भारतीय समाज की कथित कमजोर जातियों की विडंबना यह है कि वे यह जानते हुए कि उनके साथ जो व्यवहार हो रहा है, वह गलत है, यहां तक की वह वैधानिक भी नहीं है, फिर भी वे उसके विरूद्ध जाना नहीं चाहती हैं। क्योंकि उनको इस बात का बोध होता है कि यदि वे अन्याय के खिलाफ लड़ाई लड़ेंगे तो कोई उनका साथ नहीं देगा। उनकी जातिगत कमजोरी यह होती है कि जाति के सभी लोग लगभग एक समान आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक दशा में होते हैं। जाति के सदस्य अपने आंतरिक सदस्यों के विरूद्ध, परंपराओं को बनाए रखने के लिए आवाज उठाते हैं, किंतु परंपराओं के विपरीत वे संगठित नहीं होते हैं। जिसका फायदा शोषक वर्ग उठाता है और इस प्रकार दमित करता है कि भविष्य में दूसरों की न्याय पाने की इच्छा मर जाती है। इस लिए केदार उन्हें शक्तिशाली और संगठित होने के लिए जागरूक करते हैं। 'लोहा' शब्द का प्रयोग उनकी कविताओं में बार-बार इसी संदर्भ में किया गया है। जिसकी व्यंजना समाज और उसमें रहने वालों को शक्तिशीली और सक्षम बनाने से होती है। इसके अलावा लोहा बाधाओं को हटाने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। केदार जानते हैं कि ये बहुसंख्यक निम्न जातियां शारीरिक और

बौद्धिक क्षमताओं में कहीं भी कमजोर नहीं हैं। किंतु वे हनुमान जी की तरह अपनी शक्ति स्वयं पहचानने में असमर्थ है। कवि अपनी कविताओं से लोगबाग में बैठी अज्ञान की ग्रंथियों को मिटाकर उनमें आकांक्षा के पेड़ उगाना चाहता है। कवि चाहता है लोग 'लोहे' जैसे कठोर और शक्तिशाली बने, ताकि वे उन परजीवी बल्लरियों को काट-छांट सके जो उसी के बल पर उसी को आच्छादित किए हुए है। नारी भी उसी प्रकार के शोषण की शिकार है, उसके कार्यों का महत्व परिवार और समाज में नगण्य माना जाता है। शोषित रहना उसकी नियति बना दी गई है। अतः कवि एक ओर अपने काव्य के माध्यम से शोषण के दुष्चक्रों पर प्रहार करता है, तो दूसरी ओर लोगबाग में 'लोहा' बनने की मानसिक क्षमता पैदा करता है-

मैंने उसको
जब जब देखा
लोहा देखा
लोहे जैसा-
तपते देखा-
गलते देख-
ढलते देखा
मैंने उसको
गोली जैसे
चलते देखा।[15]

× × ×

पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा
वह पत्थर जो राह रोक कर पड़ा हुआ है,
जो न टूटने के घमंड में अड़ा हुआ है,
जो महान फैले पहाड़ की
अंधकार से भरी गुफा का,
एक बड़ा भारी टुकड़ा है।[16]

अन्य संवेग

केदार जहां बाधाओं को तोड़ने और समर्थवान बनने के लिए स्त्रियों और ग्रामीणों को प्रोत्साहित करते हैं, वहीं उनकी कविता में उल्लास ग्राम्य-जीवन और ग्रामीण परिवेश से आया है। गांव के खेतों की हरियाली उनकी कविताओं में प्रसन्नचित्त बिखरी हुई है। उनकी कविता में किसानों द्वारा उगाई जाने वाली फसलें- गेहूं, धान, चना, तीसी, मटर, कपास, सरसों आदि हैं और हिरण, बैल, बकरी, सूअर, भैंस आदि पशु हैं। जिसके कारण गांव की संवेदना का दृश्य

खींचने में कवि पूर्णतः सफल हुआ है। इसके अलावा उनकी कविताओं में ग्रामीण संस्कार और रीति-रिवाजों का भरपूर समावेश है। जिससे उनकी कविता लोक-जीवन की कविता बन गई है। उनकी कविता में प्रकृति सौंदर्य पर टिप्पणी करती हुए डॉ. मधुछन्दा ने लिखा है कि "गांव की प्रकृति ने मानो केदारनाथ की कविताओं में अपना घूँघट खोल दिया है और उसके अजस्र सौंदर्य से केदार की कविताएं जगमगा उठी हैं"।[17]

केदार एक सच्चे प्रेमी है, उनका प्यार एकनिष्ठ प्यार है, वे अपने पत्नी प्यार के माध्यम से, समाज में स्त्रियों के प्रति बैठी कुदृष्टि और व्याभिचारिक सोच का विरोध करते हैं। वे नारी जाति को स्वतंत्र, समृद्ध और सशक्त दृष्टि से देखते थे। वे उसके पर लादी गई कुप्रथाओं और सामाजिक प्रतिष्ठा की जकड़ से मुक्त कर, उसे बंधन मुक्त और मर्यादा युक्त करना चाहते हैं। उनके आदर्शों की नारी "बसंती हवा" है, जो बावली, मस्तमौला, निडर, चंचल और आनंदी है। इसलिए वे अपनी पत्नी प्रिया को नारी के हर रूप में देखते हैं तथा उनके साहचर्य के सौंदर्य का मुक्त वर्णन करते हैं-

शिशिर में जब दूर का चाँद तक ठिठुरकर
ठंडा हो जाता है,
पास की चाँदनी तक सिकुड़कर
तुषार से ठोस हो जाती है, ...
तब भी तुम्हारे अंग-प्रत्यंग में
ग्रीष्म की ऋतु ही रहती है,
रूप का चाँद संपूर्ण सुंदर सविलास
हँसता ही रहता है,
यौवन का उद्दाम अकूल
महासिंधु लहराता ही रहता है,
कठोर कुचों पर रत्नहार के नक्षत्र
टिमकते ही रहते हैं,
और मैं अंगों की ग्रीष्म ऋतु में
बिहार करता ही रहता हूँ।[18]

केदारनाथ जिन गहरे मानवीय संवेगों को तीव्र ऐंद्रिक बिंबों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, वे ग्रामीण प्रकृति के अंग हैं। गांव के प्राकृतिक सौंदर्य से अभिभूत केदार लिखते हैं कि "जैसे हर सबेरा एक नए सौंदर्य का सबेरा होता है, वैसे मेरी हर कविता एक नए सौंदर्य की कविता है"।[19] प्रकृति में नारी-शरीर के सौंदर्य एवं साहचर्य की गहरी अनुभूत संवेदना केदार बिंब के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं-

हे मेरी तुम सोई सरिता !

उठो, और लहरों से नाचो
तब तक, जब तक
आलिंगन में नहीं बाँध लूँ
और चूम लूँ तुमको !
मैं मिलने आया बादल हूं !![20]

केदारनाथ अग्रवाल का सृजन सत्य, श्रम, सौंदर्य और सुख का निर्माण करने वाली काव्य रचनाएं हैं। अपनी रचनाओं के माध्यम से वे समाज में संवेग लाना चाहते हैं, ताकि संसार में मानव जीवन सुंदर और सुखकर बन सके। इसके साथ ही साथ कवि उन दोगले चरित्रों और दोहरे माप दंडों वाली विचारधारा का पूरी तरह विरोध करते हुए, जनता के सामने लाता हैं। यह दोहरा चरित्र शोषकों का चरित्र है, जिसे पराजित करने की सामर्थ्य ग्रामीणों में भरना चाहता हैं। कवि यह प्रश्न पूछता है, आखिर क्यों एक आदमी बहुत अमीर और दूसरी ओर उसके देश के अन्य लोग इतने गरीब है? क्या उन दोनों में कोई रिश्ता है? यदि रिश्ता होता तो अमीर भाई अपनी बहन के बारे में नहीं सोचता? इससे स्पष्ट है, वह मेरा देश भाई नहीं है, वह हमारा शोषक है, हमारा ही हिस्सा खा-खा कर वह इतना ऊपर उठा है, जितना वह अमीर बन रहा है, उतना ही हम गरीब बन रहे हैं। इस प्रकार केदार जर, जमीन, हवा, पानी पर सभी मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार की वकालत करते हैं। साथ ही साथ वैषम्य पैदा करने वाली जड़ो को भी उघारते हैं। भविष्य के प्रति आशान्वित हैं कि जल्द ही यह स्थिति बदलेगी और लोकोन्मुख जनतंत्र आएगा-

रनिया मेरी देस बहिन है
अति गरीब है - अति गरीब है।
मैं रनिया का देस बंधु हूं,
अति अमीर हूं - अति अमीर हूं।
x x x x
किंतु आज मेरे विरोध में
पूरा हिंदुस्तान खड़ा है।
अब रनिया के दिन आए हैं,
जग उसके माफिक बदला है।[21]

वर्तमान समय में कथित रूप से प्रचारित किया जा रहा है कि प्रगतिशील शक्तियां समाप्त हो रही हैं। यह पूरी तरह तथ्यहीन और मूर्खतापूर्ण लगता है। प्रगतिशीलता जिसका बीजारोपण केदारनाथ अग्रवाल जैसे महान कवियों ने किया था, वह जनता में अपना संवेग पैदा कर चुकी है। चारों ओर लोग संगठित होने लगे हैं, जीवन स्थितियों में सुधार की मांग बढ़ गई है। भ्रम और निराशा फैला कर अब शासन ज्यादा समय तक नहीं किया जा सकता है। सरकारों

का आना जाना उसकी लोकोन्मुख नीतियों पर निर्भर करने लगी है। यह जरूर अधूरा है कि इस लोकतंत्र में अभी भी पूरी तरह लोक शामिल नहीं हो पाये हैं। जड़तावादी शक्तियां अभी भी अपने चंगुल से जन-विकास में अवरोध पैदा करती रही हैं, किंतु दिन-प्रतिदिन उनका पतन होना शुरू हो गया है। समाज में जागरूकता का संवेग फैलता जा रहा है। लोकतंत्र की फसल उग गई है। इस फसल को भारत के प्रदेशों में उच्चस्थ पदों पर बैठने वाले राजनीतिक दलों के नेताओं के रूप में देखा जा सकता है, जिनमें बड़ी संख्या में किसान और मजदूर के बेटे-बेटियां हैं। इसके अलावा सदा से कमजोर मानी जाने वाली जातियां अपना अधिकार और हिस्सा प्राप्त करने हेतु संगठित भी हो रही हैं। यह सिलसिला यहीं नहीं रुकता बल्कि देश में चाय बेचने बाला प्रधानमंत्री बन रहा है, तो कोई आम आदमी पार्टी बना रहा है। सही या झूठ जो भी हो, जनता लोकतंत्र और जननेता में विश्वास करने लगी है। यह सब सकारात्मक संकेत और उज्ज्वल भविष्य मात्र प्रगतीशील कवियों और साहित्यकारों के योगदान का प्रतिफल है। उन महान साहित्यकारों और कवियों में केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं की भूमिका अग्रणी हैं।

*****

संदर्भ श्रोत

1. डॉ. महेंद्रभटनागर, हिंदीकुंज.काम, दिनांक 30.06.2011 http://www.hindikunj.com/2011/06/pragatisheel-sahitya.html
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदीसमय.कॉम, अंतरजाल
3. मधुछन्दा, श्रम का सौंदर्यशास्त्र और केदारनाथ अग्रवाल का काव्य, परिमल प्रकाशक, इलाहावाद, पृ. 6
4. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 133
5. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 30
6. डॉ. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 219
7. डॉ. रावत एवं खंडेलवाल, आधुनिकता एक पहचान, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, पृ. 125
8. सं. नंदकिशोर नवल, निराला रचनावली - 2, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ 162
9. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 21
10. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 29
11. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 158
12. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 115
13. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद,पृ. 144-55
14. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 178
15. केदारनाथ अग्रवाल, फूल रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 98
16. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 132
17. डॉ. मधुछंदा, श्रम का सौंदर्यशास्त्र और केदारनाथ अग्रवाल का काव्य, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 97
18. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 127
19. राजेंद्र रंजन तिवारी, 'दस्तावेज़' पत्रिका, अंक: 13-14 वर्ष: 1979, पृ. 115
20. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 53
21. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 48

*****

षष्टम अध्याय

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य की भाषिक संरचना और शिल्प सौंदर्य

रचना-प्रक्रिया और भाषा

संप्रेषण के सबसे सशक्त माध्यमों में भाषा का सबसे अधिक महत्व होता है। कलाकार अपनी कला को प्रदर्शित करने के लिए अन्य साधनों के अलावा भाषा को विशेष रूप से अपनाता है। साहित्य साधना के विविध विधाओं के सृजन में भाषा की ही प्रमुख भूमिका होती है। जिसे साहित्य-साधक अपनापन देकर उसे विशेष बना देता है। कालांतर में उसके भाषा के प्रयोग के अनुसार उसकी शैली विकसित होती है। भाषा का चयन और उसकी संरचना साहित्यकार के वैचारिक दृष्टिकोण और भावात्मक बोध पर निर्भर करता है। उसकी भाषा उसके अंतर में उठने वाले भावों और विचारों को शब्दों के माध्यम से रूप देती है। रचनाकार द्वारा भाषा का चयन और संरचना की अभिव्यक्ति उसके उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को प्रकट करती है। इस प्रकार "भाषा एक ओर सत्य को जानने का साधन है और दूसरी ओर उन जाने हुए सत्यों को प्रेषित करने का साधन है।"[1] भाषा वही अच्छी मानी जाती है जो कथ्य को पाठक अथवा श्रोता तक उसी रूप में प्रस्तुत कर सके जो मूर्त और अमूर्त वस्तु की वास्तविक व्यंजना होती है। भाषा जनता तक पहुंचने का साधन होती है, रचनाकार जिसके माध्यम से लोगों से संबंध स्थापित करता है। इस संबंध स्थापन में रचनाएं जनता का भाषिक परिष्कार भी करती हैं।

गद्य की तुलना में काव्य के माध्यम से अपनी बात कहना अधिक भावावेग और भाषा पर अधिकार की आवश्यकता होती है। कविता विस्तृत बात और बोध को संक्षिप्त में कहने की एक विधा है। जिसके माध्यम से कवि अपने विचार और भावबोध को संक्षिप्त और सघन रूप में प्रस्तुत करता है उसके कथ्य की संवेदन क्षमता कविता की भाषा पर निर्भर करती है। कविता पर विचार करते हुए डॉ. रामकुमार शर्मा लिखते हैं कि "कविता की रचना के दौरान वैचारिक दृष्टि अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। दृष्टि के इसी वैचारिक अनुशासन में रचना की मूल्य-दिशा और उसके संवेदनात्मक उद्देश्य निर्धारित होते चलते हैं। रचना के लिए तथ्य, दृश्य, चरित्र, तर्क और भाषा का चुनाव इन्हीं उद्देश्यों की पहल पर संपन्न होता है। दृष्टि और उसको कोण देने वाली विचार-प्रणाली के अंतर से रचना की जमीन और उसके केंद्रीय प्रश्न बदल जाते हैं, रचना का पूरा व्यवहार और उसके उपकरण बदल जाते हैं। रचना-प्रक्रिया में वैचारिक दृष्टि की यह भूमिका भाषा और विचार के आपसी संबंधों को स्पष्ट करने के साथ-साथ यथार्थ की सापेक्षता में उनके सहगामी संचरण की अनिवार्यता पर भी बल देती है।"[2] आलोच्य कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में वैचारिक संवेदना के साथ-साथ यथार्थ स्थिति का बोध भाषा द्वारा भी प्रकट हुआ है।

स्वयं कवि रचनाकर्म को एक गंभीर सामाजिक दायित्व मानता है, वे कविता की रचना-प्रक्रिया में भाषा, विचार और संवेदना के रिश्तों पर अपनी मौलिक सोच को व्यवस्थित और

सूत्रबद्ध कर इस प्रकार व्यक्त किया है- "पहली बात यह है कि 'संज्ञान' से प्राप्त हुए सत्य की अभिव्यक्ति करने वाली कविता तभी कविता होगी, जब वह कलात्मक होगी। कलात्मक होने की पहली शर्त यह है कि वह सत्य लोक-जीवन को बिंबित करने वाला हो यानी कि वस्तुगत सत्य को उसकी समग्र वस्तु सत्ता के साथ एवं अंतर्विरोधों के साथ व्यक्त करने वाला हो। दूसरी बात यह है कि जिस तथ्य या सत्य की अभिव्यक्ति की जाए, वह सशक्त बिंब विधान से उद्दीप्त हो अर्थात वह केवल सत्य की नंगी पकड़ न होकर अवश्य वस्तुवत्ता की बुनावट के रूप में उभर कर अभिव्यक्त हुआ हो। अन्यथा पाया हुआ सत्य यदि केवल प्रतीकात्मक शैली में ही व्यक्त हुआ हो तो वह अपने समग्र परिवेश के बिना, धुंधली लालटेन की तरह या मैले दर्पण की तरह, मानसिकता लिए हुए होता है। तीसरी बात यह है कि 'संज्ञान' में पाया हुआ सामाजिक या राजनीतिक सत्य अखबारी भाषा में या मुहल्ले की चलताऊं भाषा में व्यक्त किया गया हो तो वह वैसे स्थायित्व की संरचना के रूप में नहीं होगी, जो समय के प्रहार से ढहने से बच सके। चौथी बात यह है कि कवि की अनुभूतियां दूसरे की अनुभूतियां बने। इसके लिए कविता को परिवेशीय तत्वों से निर्मित करना पड़ेगा न की कल्पना से उसकी रचना करना होगा।"[3] प्रस्तुत है केदार की अनुभूतियों को परिवेशीय तत्वों से व्यक्त करने वाली कविता-

दिन हिरण-सा चोकड़ी भरता चला।
धूप की चादर सिमट कर खो गई।
खेत, घर, वन, गांव का
दर्पण किसी ने तोड़ डाला।
शाम की सोना चिरैया
नीड़ में जा सो गई।
पेड़-पौधे बुत गये जैसे दिये
केन ने भी जांघ अपनी ढांक ली।
रात है, यह रात अंधी रात
और कोई कुछ नहीं है बात।[4]

कवि ने परिवेशीय तत्वों के सहारे रात का जो रूप गढ़ा है, वह सौंदर्य की गहरी अनुभूतियों के बिना असंभव है। दिन की ढलान, धूप की चादर का सिमटना, धूप रूपी दर्पण में जो जगत दिखाई दे रहा था, दर्पण के टूटने से, दिए के बुत जाने से, केन भी अपनी खुली जांघें ढक ली है, क्योंकि रात हो गई है। रात होने का यह गतिशील दृश्य कवि ने हिंदी के बोलचाल के शब्दों के सहारे गढ़ा है, इस रात में गांव का परिवेश अपने आप झलकता है। कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराल' की कविता 'संध्या सुंदरी' में रमणीयता के साथ-साथ एकांतपन है, वैदिक सांस्कृतिक परिवेश है, गंभीरता है-

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही
वह संध्या-सुदरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे।[5]

किंतु केदार के संध्या वर्णन में लोक-जीवन, दैनिक संघर्ष और ग्रामीण वातावरण की सजीवता है। यही कारण है कि कवि केदार आम आदमी के जीवन से जुड़ जाते हैं। दोनों कवियों की भाषा संरचना में भी अंतर है, जहां महाकवि 'निराला' तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं वहीं केदार तद्भव और बोली के शब्दों का सहारा लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि कवि केदार न केवल विचार और संवेदना के स्तर पर लोक-जीवन से जुड़े हैं बल्कि भाषा की संरचना में भी वे लोकवादी है। अतः कहा जा सकता है कि केदार रचना-प्रक्रिया और भाषा दोनों में लोकधर्मी संवेदना के कवि हैं।

केदार स्वयं रचना कर्म के लिए सामाजिक और आर्थिक सरोकारों से जुड़ने की वकालत करते हैं। उनका मानना है कि रचना-प्रक्रिया में वस्तुजगत या आत्मजगत को रचना के माध्यम से प्रस्तुत करना वस्तु का चित्र अथवा व्यक्ति का अहं को प्रस्तुत करने जैसा है। कवि का मानना है कि रचना-प्रक्रिया में अनुभूत-जगत के अनुभवों को कलात्मक रूप से प्रस्तुत करना होता है और जिसका उद्देश्य 'जनहिताय' होता है। कवि अपनी रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखता है- "मेरी कविता में मेरा 'मैं' रहता तो है, पर वह मेरा 'अहं' मात्र नहीं होता–वह 'मैं' सामाजिक 'मैं' होता है। उस 'मैं' में मेरे माध्यम से दूसरे व्यक्तियों का 'मैं' भी होता है। कविता में व्याप्त मेरा 'मैं' समष्टि से संबद्ध 'मैं' होता है। तभी वह मेरा भी उतना ही होता है जितना दूसरों का होता है। मेरी कविता की अभिव्यक्ति दूसरों की आत्मिक अभिव्यक्ति भी होती है। उसे पढ़कर दूसरे भी मेरी चेतना को अपनी चेतना बना लेते हैं और मेरी चेतना का दृश्य-जगत उनकी चेतना का दृश्य-जगत बन जाता है।"[6] अतः केदार जागतिक यथार्थ सत्य को कलात्मक तरीके से काव्य रचना का विषय वस्तु बनाते हैं।

अनुभूत यथार्थ को प्रकट करने की भाषा भी कथ्य के यथार्थ की भाषा होती है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। जब कोई रचना जीवन और जगत की भौतिकता से व्यापक रूप में रागात्मक संबंध स्थापित करती है तो निश्चित रूप से संप्रेषण के स्तर पर उसकी भाषा सामाजिक दायित्व बोध से युक्त हो जाती है। भाषा का यही सामाजिक दायित्व बोध उसे व्यापक बनाता है। "इसलिए अनुभव संसार के विस्तार के लिए भाषा संसार का प्रसार अनिवार्य शर्त है।"[7] भाषा-संसार का यह प्रसार उसको रचना लोक से जोड़ता है और कविता को समाज से जोड़कर उसे जीवंत बनाता है। इस प्रकार जीवन और जगत से जुड़ी कविता की भाषा, फिर सत्य को जानने का साधन बन जाती है और अधिकांश जगहों पर बिना सहारा के स्वयं बोलती है। ऐसी कविताओं में भाषा ही वह माध्यम रह जाती है जो कथ्य की पहचान

कराती है, लोगों की तकलीफें, उनके दुखों-दर्दों को, भाषा नग्न हो कर बयान करती है। जहां संस्कृत निष्ठ तत्सम शब्दावाली युक्त भाषा हमारी संस्कृति के अभिजात वर्ग की जीवन शैली को व्यक्त करती है तो वही तद्भव प्रधान लोकभाषा जन-जीवन को सरलता से व्यक्त करती है। जिसमें लोक-जीवन का सौंदर्य झलकता है।

केदारनाथ अग्रवाल की काव्य भाषा यथार्थ के दबाव और उसके विरोध से विकसित होती है। जिसके कारण इनकी भाषा में क्रियात्मक गतिशीलता एक विशेषता के रूप में पाई जाती है। इनकी कविताओं के अधिकांश शब्द गर्जन-तर्ज

न के साथ जीवन के प्रति रागात्मक गुणों से युक्त पाए जाते हैं। जहां एक ओर कवि की काव्य भाषा में 'घन गरजे', 'जन गरजे' का क्रियात्मक संघर्ष है तो दूसरी ओर 'धूप है कि हंसे जाती है' जैसी रागात्मकता भी देखने को मिलती है। कवि के भाषा की क्रियात्मक विशेषता उनके जन-संघर्ष और श्रम की कविताओं में प्रखर रूप से प्रकट हुई है। उनकी भाषा की रागात्मक विशेषता उनके प्रकृति और प्रेम की कविताओं में कलात्मक रूप में पुष्पित हुई है। इन दो विशेषताओं के कारण कवि की भाषा में सरल संवेदनाओं का उदात्त रूप में विस्तार हुआ है। उनकी कविता की सृजनात्मक क्षमता भाषा के प्रकृत अर्थ को मानव के भाव जगत से जोड़ देती है-

घन गरजे जन गरजे
बंदी सागर को लख कातर
एक रोष से
घन गरजे जन गरजे।
क्षत-विक्षत लख हिमगिरि अंतर
एक रोष से
घन गरजे जन गरजे
क्षिति की छाती को लख जर्जर
एक शोध से
घन गरजे जन गरजे
देख नाश का ताण्डव बर्बर
एक बोध से
घन गरजे जन गरजे।[8]

"यहां जब केदार 'सागर' के पहले 'बंदी' विशेषण लगा देते हैं तो लगभग अनायास ही 'सागर' अपने अर्थ से विस्तृत होकर जनसमूह का वाचक हो उठता है। 'रोष', 'शोध', 'बोध' से पहले एक की आवृत्ति घर और गर्जना को मूर्तिरूप से एकतान कर देती है। समग्र प्रभान्विति में, जन का सामूहिक, प्रचंड आवेग घनघोर बादल घिर आने के सुलभ पूर्वानुभूत बिंब के माध्यम

से भावक के लिए बोध-गम्य हो जाता है। इस कविता में अनुस्यूत विचार और भावबोध प्रगतिशील है, इसलिए ये पंक्तियां प्रगतिशील काव्य हैं। इस भावबोध का उत्स मनुष्य के मूलभूत नैतिक विवेक में है। भाषा के सृजनात्मक प्रयोग से एक तरह की समग्र प्रभावान्विति सिद्ध की गई है–इसलिए ये पंक्तियां श्रेष्ठ काव्य हैं।"[9] उक्त कविता की तुलना महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के 'बादल राग' से की जा सकती है। किंतु इस 'घन जन' कविता में सहज रूप से लोक-विक्षोभ को देखा जा सकता है। भाषा की बुनावट में बिना बल दिए कवि ने जनता की क्रियात्मक गतिशीलता और मानवीय सरोकारों के प्रति गहन रागात्मक लगाव का यथार्थ रूप में संचार किया है। अतः सुप्रसिद्ध आलोचक एवं जन संस्कृति मंच के अध्यक्ष प्रो. मैनेजर पांडेय का कथन उचित है कि "कोई भी कविता तब जनतांत्रिक होती है, जब वह संवेदना, संरचना और भाषा के स्तर पर जनता के लिए, जनता के बारे में और जनता की भाषा में बात करे।"[10] आलोच्य कवि की काव्य-रचनाएं संवेदना, संरचना और भाषा के स्तर पर लोकवादी गुण से संपन्न हैं। वह केवल रस के लिए लिखी कविताएं नहीं हैं बल्कि वे लोक-जीवन से सिंचित होते हुए, लोक जीवन के उत्थान का उद्देश्य पाने के लिए प्रस्फुटित हुई हैं।

केदारनाथ अग्रवाल की भाषा में लोक पक्ष का स्वरूप कई रूपों में आता है। चूंकि कवि की संवेदना का धरातल लोक-जीवन, श्रम और सर्वहारा समाज है। अतः इनकी कविताओं में इन्हीं सामान्य जन की दुख-तकलीफ और कर्म को अभिव्यक्ति मिली हुई है। समाज के इसी पिछड़े लोगों के मेहनत, जीवन-शैली और चिंतन बोध को कवि ने सौंदर्य के साथ अपने कथ्य का माध्यम बनाया है। कवि ने लोकरंग और लोक भाषा की शैली और शब्दों का उपयोग अपनी कविताओं के बुनावट में किया है। जिसके कारण कविताओं का प्रभाव आक्रामक और धारदार बन गया है। इनकी कविताएं अपने आप में आंदोलन जैसी गतिशील और अजस्र शक्तिदायनी जैसी प्रेरक भी हैं। इन कविताओं में लोकगीतों की शैली का प्रयोग कर कवि ने उन्हें जीवन के कर्मठ मधुर उल्लास से भर दिया है-

जल्दी जल्दी हाँक किसनवा।
बैलों को हुरियाए जा।
युग की पैनी लौह कुसी को
'भूईं' में खूब गड़ाए जा।।
पुरखों की हड्डी के हल को,
आगे आज बढ़ाए जा।

हल, हँसिया और हथौड़ा
का परचम लहराए जा
अब अपनी सरकार बना कर,

जीवन में मुस्काए जा।।[11]

केदार की कविता में प्रयुक्त शब्दों पर गौर करें तो 'बैलों को हुरियाए जा' शब्द में जो गांव की बोली का सौंदर्य-छटा है, शायद वह परिष्कृत भाषा में लिखने पर नहीं मिलता। धरती या जमीन के लिए 'भूईं' अवधी भाषा के शब्द का प्रयोग किया गया है। इस 'भूईं' शब्द में जो अर्थ छवि मिलती है वह अन्य समानार्थी शब्दों के प्रयोग से संभव नहीं था। 'भूईं' में जो मिठास और यथार्थ श्रम की व्यंजना है वह कवि के मंतव्य को भी सफलता पूर्वक प्रकट कर देती है। पुरखों की हड्डी की मेहनत और लोकतंत्र की शक्ति का उपयोग कर जीवन में मुस्कराहट लाने का जो आशावादी दृष्टिकोण है, वह सदियों से हो रहे शोषण चक्र के टूटने का संकेत भी है। केदार की तरह नागार्जुन और त्रिलोचन के काव्य में भी जमीनी शब्दों का बहुतायत प्रयोग हुआ है। जिससे इन कवियों के ग्रामीण-जीवन-बोध गहराई से प्रकट होते हैं और इनके कविताओं में गवईं जीवन की सोंधी महक और भविष्य का संकेत भी मिलता है। अतः इन कवियों की कविताएं जनता के जीवन-सौंदर्य की खुशबू बिखेरती हैं।

केदार के काव्य पर बुंदेली भाषा और जन-जीवन का गहरा प्रभाव है। जो कविताएं उन्होंने जनपदीय बोली में लिखी हैं, उनकी संवेदना और शिल्प में बुंदेली का प्रभाव है और भाव व्यंजना में वह उनकी खड़ी बोली की कविताओं से ज्यादा मधुरता लिए हैं। प्रस्तुत है आल्हा छंद में लिखी राजनीतिक कविता-

हम तो उनको वोट न देबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
रोटी कपरा लत्ता खात्तिर
जो हमका तरसाइन हैं।।
.....
आजादी के टोपीधारी
हमका भीख मंगाइन हैं।[12]

केदार की रचना-प्रक्रिया और भाषा उनके विचारों और दृष्टिकोण के अनुरूप ही उनकी काव्य रचनाओं में प्रस्फुटित हुई है। उन्होंने कविता को जन-जीवन की अभिव्यक्ति करने वाली वस्तु माना है और उसकी भाषा को अखबारी और सपाटबयानी से अलग कलात्मक रूप से परिष्कृत जन-जीवन को प्रगतिशील रूप में प्रकट करने वाली भाषा को ही काव्य के लिए उपयुक्त माना है। वे रचना-प्रक्रिया और काव्य भाषा पर विचार करते हुए लिखते है कि "निश्चय ही समाजवादी कृतित्व के लिए प्रत्येक कवि को संघर्ष करना पड़ेगा। यह संघर्ष असाधारण होगा। पहले तो पारंपरिक वैयक्तिक दृष्टिकोण को तोड़ना पड़ेगा, फिर जनवादी यथार्थ परक जीवन दर्शन को समग्र वैज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण से ग्रहण करना पड़ेगा। विवेक और विवेचना से अंतर्विरोधों के मूल कारणों को समझना पड़ेगा। नये बन रहे संबंधों को

पहचानना पड़ेगा। पहचान कर उन्हें आत्मसात करना पड़ेगा और तब रचना-प्रक्रिया को उससे संचालित करना पड़ेगा और तब जाकर अपने मूर्त चिंतन को नये समर्थ बिंब विधान के द्वारा भाषाबद्ध करना पड़ेगा। यह भाषा अपने कथ्य के अनुरूप ही शिल्पित होगी और मानवीय यथार्थ के कलात्मक रूपों के अभिव्यक्तिकरण में सफल होगी।"[13]

अतः कहना संगत होगा कि जनवादी शिखर कवि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में उनका प्रगतिशील लोकधर्मी दृष्टिकोण, काव्य-कथ्य के अतिरिक्त कविता की संरचना और भाषा में भी दिखाई पड़ता है।

काव्य में प्रयुक्त भाषा का स्वरूप

कविता की रचना के लिए कवि जिन साधनों का सहारा लेता है उसमें सबसे महत्वपूर्ण उपकरण भाषा होती है। भाषा अभिव्यक्ति का ऐसा साधन है,

जिसके बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। केदारनाथ अग्रवाल की भाषा अत्यन्त सहज, बोधगम्य और भावानुकूल लचीली है। कविता जन्म के वैचारिक क्षण को कलात्मक मूर्त देने के लिए कवि में भाषा विशेष का आग्रह नहीं है, जिस कारण से कवि की कविताओं में उर्दू, फारसी, देशज और विदेशी शब्दों का भी प्रयोग आवश्यकता अनुसार हुआ है। वस्तुतः लोकधर्मी कवि होने के नाते केदार लोकभाषा हिंदी के सरल, सहज और प्रचलित शब्दों के प्रयोग के पक्षधर हैं-

भूल सकता मैं नहीं
ये कुच-खुले दिन,
ओठ से चूमे गये,
उजले, धुले दिन,
जो तुम्हारे साथ बीते
रस-भरे दिन,
बावरे दिन,
दीप की लौ-से
गरम दिन।[14]

केदार के काव्य में तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी शब्दों का प्रयोग सहज भाव से किया गया है। इन शब्दों के प्रयोग से कविता के भाव में बांधा नहीं पड़ती बल्कि भाव-व्यंजना में विस्तार होता है।

तत्सम शब्द :

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया गया है, उदाहरण स्वरूप कुछ शब्द नीचे दिए जा रहे हैं-

वरेणय, व्यष्टि, अर्ध, मनुज, सुमेरू, अक्षयवट, दिगंत, सर, नद, मेदिनी, मृदंग, शृंग अमर्त्य, कंचन, नूतन, पुरातन, यत्र-तत्र, श्रमजीवी, शिराएं, कृत्रिम, विद्युत, धुम्र-रेखा आदि।

तद्भव शब्द :

केदार ने अपनी कविताओं में अधिकांश तद्भव शब्दों का प्रयोग किया इसलिए उनकी कविता जनता के समीप और जन-सामान्य से जुड़ी हुई है। उदाहरण स्वरूप कुछ शब्द यहां दिए जा रहे हैं। जैसे- अठदलीय, धरती, जाड़ा, कुहरा, खिड़की, पेड़, सेतुआ, गुड़, गठरी आदि।

देशज शब्द :

कवि ने अपने अपनी कविताओं में देशज शब्दों का प्रयोग कर उसे जमीनी हकीकत के साथ जोड़ दिया है, इसलिए कवि की कविताएं लोक-जीवन की यथार्थ सच्चाई प्रकट करने में सफल हुई है। कुछ देशज शब्दों के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं-

बंदुखिहा, करेजा, संजम, बूकेगा, झुराया, अरंभ, घिन, रेंगना, हुरियाआ, पुरखा, टोहना, छुट्टा, बंधुआ, कलबलाती, बेघर, घँघरिया, सँवरिया, कुरिया, अँधियार, बैकल, बिजली, छौंक बघारी, गरियाते, चाऊर, किनकी, चिऊँटी, बटुली, बिचारी, लपालप आदि।

विदेश शब्द :

क) अंग्रेजी शब्द : निम्नलिखित अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हुआ और ये शब्द लोक-जीवन में खुब प्रचलित भी हैं। जैसे- लालटेन, जॉज, रैफल, लॉन लौंपपोस्ट, पेंशन, बुशशर्ट, क्रोड, पेण्डलुम, फ़्यूज, सिलोलाइड, फार्मूलों, माइक, शूट, इनडोर, आउटडोर, मेकअप, एक्सीडेंट, स्टैचू, फैक्टरियों, रेल, मेल, टाइम, सेंकड, एवरग्रीन, लाकेट आदि।

ख) अरबी-फारसी शब्द : मुक़र्रर, तुलतबील, नेस्तनाबूद, मुख्तलिफ़, अर्ज़दास्त, गर्दिश-गुबार, सिपहसालार, कब्र, खून, खफ्त, बेखफत, अलमबरदार, आफ़त, नाहक, मुरदा, आजाद, आजादी, तसवीर, कारवां, मनहूस, जोश, परेशान, शोहरत, घायल, गुलामी, गवाह, बेचारे, तराने, हुक्म, जालिम, कयामत, हसीन, बेकार, निज़ात आदि। इस प्रकार के अनेक प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग कवि ने अपनी कविता में किया।

लोक-प्रचलित शब्द :

केदारनाथ अग्रवाल जन-साधारण के कवि है, उन्होंने अपनी कविता में लोक-प्रचलित बोलियों के शब्दों का बड़ी मात्रा में प्रयोग किया है। इसलिए उनकी कविता लोक-जीवन को अत्यंत सहजता के साथ व्यक्त कर पाती है। शब्दों की सूची इस प्रकार है- फूहड़, पट्ठे, बौडम,

रंगी, भिनसार, मरैठा, कुनबा, साइत, कुसाइत, सुरतिया, अरहरी, अहिगन, गगरिया, दुलकिया, डगरिया, बदरिया, चौपारी, बावली, मस्तमौला, गोरस, चना-चबैना, भौजाई, औघाता, डैने, लटसन, पटसन, चमरौधे आदि शब्द कवि की भाषा को गवईंपन से भर कर सजीव और अमर बना देते हैं।

नादात्मक शब्द :

केदार ने बड़ी मात्रा में नाद उत्पन्न करने वाले शब्दों का प्रयोग किया है। जहां बन बड़ा है वहां लोक प्रचलित ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया, पर जहां सटीक शब्द नहीं मिले हैं वहां पर कवि ने लोक-प्रचलित शब्दों की शैली पर नए शब्दों को गढ़ दिया है। जिससे उनकी भाषा सरल और लोक-भाषा बन जाती है। जैसे- उजाला-उजेला, कलेजा-करेजा, बेडौल-बौडम, नाकबजने-नकबजन आदि। इसी प्रकार केदार ने नादात्मक शब्दों का प्रयोग कर अपनी कविताओं में जांन फूंक दी है। जैसे- हहर-हहर, साँय-साँय, चमक-चमक, झर-झर, टें-टें-टें-टें, टिरटों-टिरटों, टर-टर, तड़-तड़, ताबड़तोड़, उर्र, बर्र, गुर्राता, फुर आदि।

लोक-प्रचलित और नादात्मक शब्दों का प्रयोग कर कवि ने जहां एक ओर अपने को जनपद की मिट्टी से जोड़ लेता है तो वहीं दूसरी ओर लोक-संवेदना की पहचान राष्ट्र स्तरीय बना देता है। इस प्रकार के कार्य को ही जनपदीयता को उठाकर राष्ट्रपद का गौरव प्रदान करना कहते हैं। केदार के काव्य में देशी रंग की छौंक मिलती है जिससे उनका काव्य क्षेत्रीयता के दायरे में भी आ जाता है। उनकी कविताओं में लोक-प्रचलित शब्द इतनी मात्रा में मिले हैं कि उसमें लोक-गीत और लोक-रस का आनंद मिलता है। कवि ने अपने काव्य को लोक-संप्रेषणीय बनाने के लिए धड़ल्ले से गांव की संस्कृति से जुड़े और वहां प्रचलित शब्दों का चुनाव किया है, जैसे- सेतुआ, अधरम, दांसा, हंसिया, करबी, भउहर, ठाड़, ठिंगना, पुरखिन और भिंसारे आदि। उक्त शब्दों का प्रयोग कवि ने काव्य-कला को व्यापकता प्रदान करने और उसमें देशी महक लाने के लिए सोद्देश्य किया है। कवि का प्रयोजन न केवल विचार और भाव से लोकधर्मी संवेदना की स्थापना है बल्कि उसकी रचना और संप्रेषणीयता को भी लोकधर्मी बनाया है। जिस कारण से केदार की कविताएं जागती हुई और गांव की सजीवता से युक्त हो गई हैं। उदाहरण स्वरूप उनकी सुप्रसिद्ध कविता 'चंद्रगहना से लौटती बेर' का उदाहरण देखिए-

एक बीते के बराबर
यह हरा ठीगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सज कर खड़ा है।
.....
और सरसों की न पूछो

हो गई सबसे सयानी

हाथ पीले कर लिए हैं

ब्याह मंडप में पधारी।[15]

उत्तर भारत के अवध क्षेत्र में शादी-विवाह के अवसर पर इसी धुन-लय पर विवाह गीत और गाली-गीत गाई जाती है। जिसमें युवामन को मुग्ध कर देन, उसे सपनों में खो देने तथा वैवाहिक जीवन की राह में आने वाली चुनौतियों के लिए तैयार करने की शक्ति होती है। ऐसे गीतों को गांव की औरतें मनभावन और पावन गीत का नाम देती हैं। केदार ने अपनी रचनाओं को लोक-धुनों से सजा-संवार कर कला की उच्चकोटि की समझ रखने का परिचय दिया है तथा उसे लोक-रस और मनभावों से जोड़कर उसमें मनचाहा भाव-सौंदर्य की उत्पत्ति की है, जो युवाओं को अपनी ओर अनायास ही खींच लेता है-

टूटे न तार तने जीवन-सितार के

ऐसा बजाओ इन्हें सौरभ के श्वास से,

आशा की भाषा से, यौवन की हास से,

छाया बसंत रहे उपवन में प्यार के।[16]

केदारनाथ अग्रवाल ने अपने काव्य में लोक-प्रचलित मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग कर उसकी भाषा को संप्रेषणीय, समृद्ध और लोकधर्मिता से युक्त बना दिया है। उनकी कविता में जन-जीवन के नित्य प्रयोग में आने वाले मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है। कुछ कवि के प्रयोग उदाहरण के लिए प्रस्तुत हैं-

1. पेट खलाए फिरता है।
2. मुंह बाए फिरता है।
3. गुड़ के लोभी चींटे।
4. ढेला सी बड़ी-बड़ी आंखें लिए।
5. अपने-अपने बिल से निकले।
6. कंड़ा हो रही थी आंखें कितनों की।
7. हाथ पीले कर लिए हैं।
8. सजकर खड़ा है।
9. राधा बनकर धरती नाची।
10. आषाढ़ी जामुन के रंग का, आदि।

केदार उक्त प्रकार के अनेक प्रयोग अपनी कविताओं में किए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने कहीं संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया है तो आवश्यकतानुसार खड़ी बोली हिंदी के शब्दों का प्रयोग कर, अपनी कविता में संस्कार और देशीपन दोनों एक साथ निर्मित किया है। उनकी कविताओं में भावों के स्पष्टता के लिए अंग्रेजी और उर्दू शब्दों का भी प्रयोग

हुआ है। इसके अतिरिक्त स्थानीय और लोक-जीवन में प्रचलित शब्दों का भाव के अनुसार शिल्प विधान में भी परिवर्तन किया है। अतः कहा जा सकता है कि कवि ने भावों के अनुसार भाषा का और भाषा के अनुरूप शब्दों का चयन किया है। वाक्य संरचना भी उनके काव्य की भावों के अनुसार उतार-चढ़ाव लेती हुए मानो उसके जनहितार्थ को बयान करती जाती है। उनकी यह शैली सामान्य जनता के बोध के अनुकूल है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि उन्होंने आम-लोगों का ध्यान न केवल कथ्य और विषय-चयन में रखा है, बल्कि वाक्य निर्माण और भाषा प्रयोग में भी रखा है।

काव्य का शिल्प-सौंदर्य

काव्य सौंदर्य में भाषा का भाव और शिल्प दोनों सौंदर्य शामिल होता है। भाव जहां कविता की हृदय अथवा आंतरिक व्यंजना की मिठास है वहीं शिल्प कविता की बुनावट अथवा बाह्य रूप की गढ़न है। यहां स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि कविता के भाव रूप के वैविध्य को पिछले अध्यायों में लोकधर्मी, प्रकृति, प्रेम और प्रगतिशीलता में किसी न किसी रूप में कथ्य द्वार अभिव्यक्त भावों का अध्ययन कर चुके हैं। अतः यहां पर शिल्प-गत सौंदर्य का अवलोकन करने की कोशिश की गई है। केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में प्रयुक्त शब्द चयन, भाषा और वाक्य संचरना की योजना पर, ऊपर विमर्श किया जा चुका है। आगे काव्य सौंदर्य के अंतर्गत कवि द्वारा निर्मित बिंबों, प्रतीकों, उपमानों, अलंकारों, छंदों और ध्वन्यात्मक विशेषताओं का मूल्यांकन किया जाएगा।

बिंब-विधान:

बिंब योजना के अंतर्गत उन काव्य चित्रों को रखा जाता है, जो ऐंद्रिय आधारों पर निर्मित होते हैं। वास्तव में बिंब अंग्रेजी शब्द 'इमेज' का हिंदी अनुवाद है। 'इमेज' से तात्पर्य आकृति, रूप आदि से है। मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि मनुष्य बाह्य जगत की सुंदरता को अपने इंद्रियों के माध्यम से अनुभव करता है। जब उसका अनुभव गहरी अनुभूति में बदल जाता है, तो उसके मानस पर उन अनुभूतियों की छवि अंकित हो जाती है। जिसको मनुष्य ध्यान करने पर, उस अनुभूतिजन्य परिस्थिति की अनुपस्थिति में भी, उन छवियों को दृष्टिगोचर कर पता है। अतः पूर्व-अनुभूतियों के आधार पर एकत्रित छवि-रूप अथवा मानस-प्रतिमाओं को बिंब कहा जा सकता है। इन्हीं बिंबों के आधार पर हमारे मस्तिष्क की अनेक शक्तियां काम करती हैं।

इन बिंबों को कलाकार अपनी स्मृति और कल्पना के संयोजन से अपनी कृति में आकृति देता है। डॉ. केदारनाथ सिंह के शब्दों में "बिंब वह शब्द-चित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐंद्रिय अनुभवों पर निर्मित होता है"।[17] प्रसिद्ध बिंबवादी कवि एजरा पाउंड ने बिंब की परिभाषा इस प्रकार की है- "बिंब वह है जो काल की तात्कालिकता में बौद्धिक और भावात्मक संसृष्टि को उपस्थित करता है"।[18] आधुनिक समीक्षकों ने बिंब की अपने अनुसार परिभाषाएं की हैं, जैसे सी.डे लेविस का कथन है कि "बिंब एक प्रकार का शब्द-चित्र है"।[19] "बिंब एक अमूर्त विचार अथवा 'भावना' की पुनर्रचना है"[20] ऐसा जार्ज व्हलेय का मानना है।

भारतीय काव्य शास्त्र में 'बिंब' शब्द पाश्चात्य शब्द 'इमेज' के स्थान पर ग्रहण किया गया है, जो भारतीय साहित्य में सर्वथा नया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'बिंब' को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि "मानसिक रूप-विधान का नाम ही कल्पना है। मन के भीतर यह रूप-विधान दो तरह का होता है, या तो यह कभी प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्यों का त्यों प्रतिबिंब होता है, अथवा प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के रूप-रंग, गति आदि के आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार विधान है। प्रथम प्रकार की आभ्यंतर-रूप-प्रतीति स्मृति कहलाती है और द्वितीय प्रकार की रूप-योजना या मूर्ति-विधान को कल्पना कहते हैं।[21] इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने बिंब को स्मृति और कल्पना का संयोजन माना है।

बिंब की आई. ए. रिचर्ड्स की परिभाषा अधिक मनोवैज्ञानिक और व्यापक मानी जाती है, उन्होंने बिंब की इस प्रकार परिभाषित किया है कि "बिंब एक चित्र है, संवेदना की एक अनुकृति, एक विचार, एक मानसिक घटना, एक अलंकार अथवा दो भिन्न अनुभूतियों के तनाव से बनी एक भाव-स्थिति, कुछ भी हो सकता है"।[22]

संक्षेप में बिंब स्थूल, सूक्ष्म तथा अमूर्त अनुभूतियों का चित्रण है, जिसको पाठक इंद्रियों से छूकर संवेदनशील हो जाते हैं।

काव्य में बिंब शब्दों के माध्यम से उकेरे जाते हैं। इसलिए काव्य-बिंब वे शब्द-चित्र होते हैं जो मानस में स्थित चित्र अथवा मूर्त-छवियों को शब्दों द्वारा निर्मित करते हैं। इस बारे में डॉ. नगेंद्र का कथन है कि "काव्य बिंब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है"।[23]

केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील युग-धारा के प्रमुख कवि हैं, इस धारा के कवियों की सौंदर्य दृष्टि यथार्थ और वस्तुगत चित्रण से प्रभावित और प्रेरित रही है। आलोच्य कवि लोक-जीवन को सशक्त और समृद्ध बनाने के लिए दो स्तरीय प्रयास करता है, पहले वह वास्तविक वस्तु स्थित का बिंब उपस्थित करता है, फिर वस्तुस्थिति में परिवर्तन करने के उपायों को भी दर्शाता है। कवि ने भूख से विह्वल मानव जीवन के दयनीय रूप का बिंब इस प्रकार प्रस्तुत करता है-

देश के करोड़ पुत्र

छोड़ सिंधु, गंगा, ब्रह्म, विंध्य के महाप्रदेश,

क्षीण, वृत्तिहीन, त्रस्त

खा पछाड़, यत्र-तत्र पेट को मरोड़ते।।[24]

दूसरी ओर केदार के काव्य में गांव के आम-आदमियों के कामों के महत्व को दर्शाया गया है ताकि उनमें आत्मविश्वास पैदा हो सके और वे अपनी समस्याओं के समाधान के लिए संगठित प्रयास करें। कवि सामान्य-सी लगने वाली बातों को जब दृश्य-बिंब के रूप में प्रस्तुत करता है, तो वह शक्ति-पुंज में बदल जाती है और पाठक के अंतस में विद्युत की धारा दौड़ने लगती है। अतः केदार की कविता में आए सामान्य से लगने वाले रोजमर्रा के बिंब पाठकों को संवेदनशील बना देते हैं, इन बिंबों का प्रभाव लोक-जीवन पर अत्यधिक पड़ता है क्योंकि इनका कथ्य लोक-समस्याओं से जुड़ा होता है। दूसरे शब्दों में इन्हें लोकधर्मी बिंब भी कह सकते हैं। प्रस्तुत कविता में आत्म शक्ति का बोध पैदा करने वाला लोकधर्मी बिंब, जिसमें गांव के किसान और मजदूर की संवेदना मूर्त हुई है-

आदमी का बेटा

गरमी की धूप में भाँजता है फड़ुआ।

हड्डी को, देह को तोड़ता है।

खूब गहराई से धरती को खोदता है।

काँखता है, हाँफता है, मिट्टी को ढोता है।

गंदी आबादी के नाले को पाटता है।।[25]

केदार की भाषा में काव्य के अन्य सौंदर्य अनायास आए हैं, क्योंकि वे कविता को शास्त्रीय अलंकरणों से सप्रयास सजाने के पक्ष में नहीं थे। वे अलंकरणों को कविता के मौलिक विकास में बांधा मानते थे तथा जनता की मुक्ति की तरह कविता को भी शास्त्रीय अलंकरण से मुक्त करने के पक्षधर थे। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे सौंदर्य के विरोधी थे, उन्होंने काव्य में सपाट बयानी या अखबारी भाषा को कविता मानने से इनकार कर दिया था। उनका विचार है कि " 'संज्ञान' से प्राप्त हुए सत्य की अभिव्यक्ति करने वाली कविता तभी कविता होगी, जब वह कलात्मक हो। कलात्मक होने की पहली शर्त यह है कि वह सत्य जिसकी अभिव्यक्ति कविता करती है, स्पष्ट और लोक जीवन को बिंबित करने वाला हो"।[26] अतः केदार ने लोक जीवन को बिंबित करने के लिए अधिकांशतः बिंब और प्रतीकों का सहारा लिया है। उनकी कविताओं की मुख्य विशेषता बड़ी मात्रा में बिंबों द्वारा यथार्थ संवेदनाओं का चित्रण है।

बिंबों को विद्वानों द्वारा अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार बताए गए हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. दृश्य-बिंब 2. ध्वनि-बिंब 3. गतिशील-बिंब 4. यथार्थ-बिंब 5. संवेदन-बिंब 6. यथार्थ-बिंब 7. लोक-जीवन-बिंब 8. कल्पना-बिंब 9. भाव-बिंब 10. सांद्र-बिंब 11. विवृत्त-बिंब

12. लोकधर्मी-बिंब

बिंबों का निर्माण केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं की मुख्य विशेषता है। उनकी कविताओं में सभी प्रकार के बिंब खोजे जा सकते हैं किंतु दृश्य, गतिशील, यथार्थ एवं लोकधर्मी बिंबों का प्रयोग उनके काव्य को विशिष्ट बना देते हैं। आलोच्य कवि के काव्य में प्राप्त कुछ प्रमुख बिंबों का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

दृश्य-बिंब :

केदार के काव्य में देखने की क्रिया का सबसे अधिक चित्रण हुआ है। वे अपने काव्य-वस्तु को बहुत गौर से देखते हैं और तर्कसंगत ढंग से उसकी विविध संवेदनाओं की अनुभूति करते हैं। इसलिए उनके काव्य में दृश्य-बिंबों की अधिकता पाई जाती है। इस प्रकार के बिंबों में कवि का उद्देश्य अपनी कल्पना के रंग में प्रकृति के रूपों को रंग कर, उसका मानवीकरण कर चित्र खींचना होता है। यहां कवि ने खेत में फागुन की फसल देख कर उसका सजीव बिंब खींचा है-

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सज कर खड़ा है।[27]

केदारनाथ अग्रवाल अपनी कविताओं में सजीव का चित्रण करें या निर्जीव का, किंतु उनकी चेतना सदैव जड़ पदार्थ को भी उसके सजीव रूप में ही पकड़ती है। सूर्यास्त और रात का आवागमन सभी रोज देखते हैं किंतु क्या उन्हें कवि जैसी अनुभूति होती है। केदार को प्रकृति के इस जड़ रूप में भी मानवीय संवेदनाएं दृष्टिगोचर होती हैं। उन्हें सारा दिन ऐसा दिखाई देता है कि मानो 'कोई हिरण चौकड़ी भरता' निकल गया हो और दर्पण में प्रतिबिंबित सारा दृश्य-जगत दर्पण टूट जाने के कारण आंखों से ओझल हो गया हो। प्रकृति के इस दैनिक चित्र को केदार ने बड़ी सजीव संवेदना के बिंब के साथ प्रकट किया है-

दिन हिरण-सा चौकड़ी भरता चला,
धूप की चादर सिमट कर खो गयी,
खेत, घर, वन, गाँव का
दर्पण किसी ने तोड़ डाला,
शाम की सोना-चिरैया

नीड़ में जा सो गई,
पेड़ पौधे बुत गये जैसे दीये,
केन ने भी जाँघ अपनी ढाँक ली,
रात है यह रात, अंधी रात,
और कोई कुछ नहीं है बात।[28]

ध्वनि-बिंब :

केदार की कविताओं में दृश्य और गतिशील बिंबों की भरमार मिलती है, किंतु उनकी अन्य इंद्रियां भी संवेदनशील हैं, वे भी उसी प्रकार सजग और सक्रिय हैं जैसे उनकी चक्षु। वे चीजों को देखते भर नहीं हैं, उन्हें छूते भी हैं और उनकी आवाज भी सुनते हैं, उन्हें सूंघते भी हैं और उनका स्वाद भी लेते हैं। केदार के कान साधारणतया वह सब सुन लेते हैं जो सामान्य व्यक्ति नहीं सुन पाता है। पत्थरों पर चिड़ियों का फुदकना और चहचहाना आम बात है, किंतु कवि के लिए यह विशिष्ट बात है क्योंकि वह पत्थर और चिड़ियों के बीच हो रहे संवाद को सुन पाता है-

पत्थर भी बोलते हैं-
जब चिड़ियों का झुण्ड
बैठ जाता है उन पर
और वे चहकती हैं आपस में।
पत्थर के ये बोल
मुझे मीठे लगते हैं,
और हृदय में रस भरते हैं
अंगूरों से निकला
मीठ-मीठ ताजा।[29]

उक्त पंक्तियों में कवि द्वारा सृजित ध्वनि-बिंब और उससे प्रसूत स्वाद-बिंब का मनोहारी चित्रण पैदा किया गया है।

यथार्थ-बिंब :

कवि ने अपनी कविताओं में वस्तुओं और संवेदनाओं का यथार्थ-बिंब खींचा है, इस प्रकार के बिंबों में कवि यथावस्तु चित्रण करता है। जिसमें वस्तुएं या घटनाएं अपने पूरे परिचित्र अथवा परिघटना के साथ उपस्थित होती हैं। 'पैतृक संपत्ति' कविता में कवि ने किसान के बेटे को उसके मरने के पश्चात प्राप्त उत्तराधिकार की वस्तुओं का वर्णन मात्र किया है, जो मानस में हलचल पैदा कर देता है। इस प्रकार केदार साधारण वस्तुओं को अपने साधारण बिंबो द्वारा

असाधारण बना देते हैं और कविता कथ्य के वास्तविकता को यथावत प्रकट करने में पूर्ण होती है। अतः वह चित्रण एक श्रेष्ठ यथार्थ बिंब बन जाता है-

जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने
घर का मलवा, टूटी खटिया,
कुछ हाथ भूमि वह भी परती।
चमरौधे जूते का तल्ला,
छोटी, टूटी बुढ़िया औगी,
दरकी गोरसी, बहता हुक्का,
लोहे की पत्ती का चिमटा।[30]

गतिशील-बिंब :

गतिशील बिंब में यथार्थ की दृढ़ रेखाओं के साथ कविता में गत्यात्मकता होती है। कविता चलचित्र जैसे दिखाई देती है। स्थिर बिंब का प्रचलन छायावादी कवियों में भी देखने को मिलता है किंतु गतिशील बिंब केदारनाथ अग्रवाल के काव्य की विशेषता है। वे शुष्क-यथार्थ चल-शब्द-चित्रों में व्यंग्य की नमकीन डाल कर उसे और स्वादिष्ट बना देते हैं। केदारनाथ अग्रवाल की अनेक कविताओं में गतिशील-बिंब पाया जाता है-

चित्रकूट के बौड़म यात्री
सेतुआ गुड़ गठरी में बाँधे
गठरी को लाठी पर साधे
लाठी को कांधे पर टाँगे
दिनभर अधरम करने वाले
परनारी को ठगने वाले
.....
बंडी काली तेलही पहने
धोती ओछी गंदी पहने
गंदे जीवन के अधिकारी
स्वर्ग पहुंचने की इच्छा से
लम्बे-लम्बे कदमें धरते
जल्दी-जल्दी सांसे भरते
नंगे पैरों पैदल चलते।[31]

इस बिंब में केदार ने व्यक्तियों की गतिशीलता के साथ-साथ व्यंग्य द्वारा उनकी मनोदशा का भी स्पष्ट कर दिया है। यही कवि की बिंबात्मक कला की सफलता है।

स्पर्श-बिंब :

स्पर्श बिंब में स्पर्श कर संवेदनाओं का अनुभव किया जाता है। त्वचा द्वारा किए गए अनुभव को कविता में बिंब के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। केदार के यहां ऐसे बिंब बहुत सफलता के साथ निर्मित किए गए हैं जो अपने गठन में नवीन हैं। प्रस्तुत है केदार की 'धूप" कविता से स्पर्श-बिंब का उदाहरण-

धूप नहीं, यह
बैठा है खरगोश पलंग पर
उजला, रोएंदार, मुलायम,
इसको छूकर
ज्ञान हो गया है जीने का
फिर से मुझको।[32]

इससे स्पष्ट है कि केदारनाथ अग्रवाल की बिंब योजना अत्यंत सशक्त है और जो उनकी अपूर्व काव्य क्षमता को व्यक्त करती है। बिंबों द्वारा आलोच्य कवि ने अपनी रचनाओं को सशक्त, स्पष्ट और लोकधर्मी बनाने में श्लाघनीय सफलता प्राप्त किया है।

प्रतीक-विधान :

'प्रतीक' शब्द का अर्थ होता है- 'संकेत', 'चिह्न', 'प्रतिरूप', अप्रस्तुत की स्थानापन्न वस्तु आदि। प्रतीक शब्द-चिह्न है, जिसके द्वारा अमूर्त भावों को व्यक्त किया जाता है। यह उस भाव अथवा वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, जो सीधे गोचर नहीं होती हैं। अतः अदृश्य भाव को स्पष्ट करने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उसे प्रतीक कहते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने 'प्रतीक' की निम्नलिखित परिभाषाएं दी हैं-

"काव्य प्रतीक द्वारा जो वस्तु संप्रेषित होती है, वह है तो रूप विधान ही, किंतु इसका लक्ष्य इससे आगे बढ़कर सौंदर्यबोधात्मक और भावबोधात्मक भी होता है"।[33]----आर्थर साइमंस

"प्रतीक ही अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करता है। वैसे प्रतीक के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रतीक बिंब का सर्वाधिक निकटवर्ती शब्द है। बिंबों से ही प्रतीक का आविर्भाव संभव माना गया है"।[34]

"सौंदर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौंदर्य की अनुभूति के साथ ही हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं"।[35]

हिंदी साहित्य कोश भाग-1 में प्रतीक को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि "सामान्यतः प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रति-विधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। अथवा यह कहा जा सकता है कि अन्य स्तर की सामान्य रूप-वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय-भाव का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है"।[36]

डॉ. भगीरथ मिश्र ने प्रतीक की संतुलित परिभाषा करते हुए लिखा है कि- "अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं के सादृश्य एवं प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव-विचार, क्रियाकलाप, देश-जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है"।[37]

प्रायः प्रतीक और बिंब को पूरक समझ लिया जाता है किंतु दोनों में बड़ा अंतर है। प्रतीक जहां एक निश्चित अर्थ-सत्ता अथवा भाव-सत्ता की ओर संकेत करता है। वहीं बिंब पूरी परिघटना अथवा परिभाव को प्रतिबिंबित करता है। काव्य से बिंब को निकालने से उसके भाब-बोध में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता है जबकि प्रतीक काव्य से हटते ही अभिधा अर्थ में बदल जाता है और अपना भाव-सत्तात्मक अर्थ खो देता है।

"बिंब-विधान एक प्रकार का सफल सम्मूर्तन है, जिसमें चित्रोपमता रहती है, किंतु प्रतीक में ऐसी चित्रोपमता अथवा सम्मूर्तन की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इसमें प्रभाव साम्य एवं प्रभविष्णुता को महत्व दिया जाता है"।[38] उक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक बिंब प्रतीकात्मक होता है और बार-बार दुहराए जाने पर एक बिंब प्रतीक का रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः शब्द का रूढ़ प्रयोग प्रतीक कहलाता है। इसके अतिरिक्त शब्द के रूढ़ प्रयोग के होने पर भी शब्द अपनी बिंब शक्ति नहीं खोता है। उसमें चित्र उपस्थित करने की क्षमता बनी रहती है।

विद्वानों ने काव्य प्रतीकों को अलग-अलग आधारों पर विभाजित कर उसके भिन्न-भिन्न प्रकार बताए हैं। किंतु प्रतीक मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं-

1. प्रकृति संबंधी
2. पौराणिक-धार्मिक
3. ऐतिहासिक
4. वैज्ञानिक और आर्थिक जीवन से संबंधित
5. सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन से संबंधित

केदार के काव्य में प्रतीकों का भरपूर उपयोग किया गया है। प्रतीकों के प्रयोग ने उनके काव्य को कलात्मकता से भर दिया है। प्रतीक का प्रयोग उन्होंने सप्रयास नहीं किया है, न ही प्रतीक का प्रयोग उनकी विवशता है। जब उन्हें बात की प्रभाविता बढ़ानी होती है तो वे प्रतीकों

का प्रयोग करते हैं। प्रतीकों के चयन में कवि ने परंपरागत प्रतीक-विधान से स्वयं को बचाया है और यथासंभव नए प्रतीकों का विधान किया है। उनके काव्य में लगभग प्रत्येक क्षेत्र से प्रतीक ग्रहण किए गए हैं, जैसे- प्रकृति, पशु-जीवन, लोक-जीवन, आर्थिक जीवन, किसान और श्रमिक जीवन, नारी, मार्क्स-दर्शन तथा पौराणिक-धार्मिक आदी।

प्राकृतिक-प्रतीक :

केदार काव्य में प्राकृतिक प्रतीकों की भरमार है। वे इन प्रतीकों से वर्तमान सामाजिक-जीवन की विसंगतियों को प्रभावशाली तरीके से चित्रित करते हैं। वे मुख्य रूप से निम्नलिखित प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग किए हैं- आग, आलोक, सूरज, उजाला, अंधकार, कोयला, कोहरा, गंगा, गर्रा नाला, पहाड़, दिन, कली, नदी, बबूल, कमल, धान, धूप, हरियाली आदि। 'दो जीवन' कविता में कवि ने एक ओर ऐश्वर्य और वैभव में पलने वाले 'कली' और दूसरी ओर अभाव और निरीहता में पला 'बबूल' के जीवनान्तर को प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से सफल अभिव्यक्ति प्रदान किया है-

कली निगाह में पली,
हिली-डुली कपोल में,
हृदय-प्रदेश में खीली,
तुली हँसी की तोल में।
गरम गरम हवा चली,
अशांत रेत से भरी,
हरेक पाँखुरी जली,
कली न जी सकी, मरी।
बबूल आप ही पला,
हवा से वह न डर सका,
कठोर जिंदगी चला,
न जल सका, न मर सका।[39]

पौराणिक-धार्मिक प्रतीक :

केदार ने भारतीय पुराणों के कई पात्रों और आख्यानों का प्रतीकात्मक प्रयोग अपने कविताओं में किया हैं। वे इन प्रतीकों से लोक-विश्वासों में फैले परंपरागत अंधविश्वासों को तोड़ने का प्रयास करते हैं। केदार लोक-संस्कृति के विविध पक्षों की उपेक्षा नहीं करते, बल्कि वे प्रतीकों के नए अर्थ से लोक-जीवन में वैज्ञानिक चेतना पैदा कर, उसे जागरूक बनाने की कोशिश की है-

जनकपुरी की पैदाइस है, अवधपुरी में आयी है।
जनका ठाकुर की बेटी है, रमचंदा को ब्याही है।
.....
मूसल चक्की, कुटना-पिसना, सब तड़के से करती है।
खपरे-छाये कच्चे घर में, रामराज्य में रहती है।
.....
कौड़ी मोल नहीं रखती है, आँखें भर कर रोती है।
धरती माता की गोदी में सीता चुपके सोती है।।[40]

यहां सीता महारानी नहीं बल्कि स्त्री की दासता और दशा का प्रतीक बन कर आई है। सीता उन करोड़ों गरीब नारियों की जीवन-दशा का प्रतीक है, जिनका जीवन देखकर न केवल हृदय कचोटता है बल्कि विदीर्ण भी हो जाता है।

ऐतिहासिक प्रतीक :

केदारनाथ अग्रवाल ने ऐतिहासिक पात्रों को संदर्भानुसार नए अर्थ-बोधक प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया है। वे सीता-सावित्री को आदर्श पतिव्रता एवं भीष्म को दृढ़ता का प्रतीक माना है। मैकाले को पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के प्रतीक रूप में तो डॉलर, पराधीनता का प्रतीक बन कर आया है। राम और रावण का प्रतीकात्मक रूप लोकतंत्र में बदल गया है-

लीला के बाद, राम लीला के राम
जंगली लोकतंत्र में
रावण का रोल अदा करते हैं
दूसरों की संपदा हरते हैं
न नय से डरते,
न अनय से बचते हैं
जहां-देखो तहां
एक नई लंका रचते हैं।[41]

वैज्ञानिक एवं आर्थिक जीवन से संबंधी प्रतीक :

केदारनाथ अग्रवाल ने वैज्ञानिक और आर्थिक जीवन से भी प्रतीकों को चुना है। 'भूखा पेट' जहां गरीब मजदूरों की दशा का प्रतीक है, तो 'डांगर' पूंजीपतियों और सेठ-महाजनों का प्रतीक है। 'कांग्रेस' और 'सुरसा', मक्कारी और महंगाई की प्रतीक हैं जो जनता का खून चूस रही हैं। 'एटम' वैज्ञानिक क्षेत्र से लिया गया शब्द है जो राक्षसी शक्ति का प्रतीक है। 'बल्ब का फ्यूज' वैज्ञानिक शब्द है, जो आशाओं के मरने का प्रतीक है। 'डॉलर' अमेरिकी पूंजीवाद का

प्रतीक है, जो पूरी दुनिया को अपने आगोश में लेकर शोषण कर रहा है। आलोच्य कवि की कविताओं में इस प्रकार व्यक्त हुआ है-

यहां हमारी जन्मभूमि पर यदि आएगा डॉलर,
तो वह सौदा-सुलुक बेचकर
मातृभूमि का सारा सोना ले जाएगा;
अमेरिका में अपनी सड़कें,
उस सोने की बनवाएगा।[42]

सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन संबंधी प्रतीक :

प्राकृतिक परिवेश, धार्मिक और सामाजिक जीवन, ऐतिहासिक घटनाएं, राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक दशा, युग की परिस्थितियां और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना तथा परिवेशगत दबाव एवं कवि की रुचि आदि का प्रभाव कवि द्वारा प्रतीकों के चयन पर पड़ता है। जिसके परिणाम स्वरूप नवीन प्रतीकों का जन्म होता है और पुराने प्रतीकों के अर्थवत्ता में परिवर्तन होता है। 'धरती का शक्ति पुत्र' के रूप में किसान, श्रमिकों के हाथों की सुंदरता 'कमल' के रूप में की गई है। चट्टान, पाषाण, पहाड़, पूंजीपति शोषकों के प्रतीक के रूप में आए हैं। 'कोयला' श्रमजीवी का प्रतीक और 'गेहूं' लाल फौज का प्रतीक बना है।

केदारनाथ अग्रवाल ने मार्क्स-दर्शन के प्रभाव के कारण श्रमिकों द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले औजारों को नई अर्थवत्ता दी है। 'हथौड़ा' औजार को कवि प्रतीक के रूप प्रयोग करता है। जिसका भाव श्रमरत जनता का संघर्ष है, इसके अतिरिक्त उन्होंने 'हथौड़ा' प्रतीक का प्रयोग सक्रियता, कर्मठता, मजदूर का शस्त्र, क्रांति का सूचक आदि के रूप में किया है। लाल रंग के प्रतीकों का प्रयोग भी कवि ने लोक-जीवन में जागरण से जोड़ कर किया है। प्रस्तुत है 'हथौड़ा' और 'लाल' रंग के व्यंजक भाव से भरी हुई केदार की कविता-

मार हथौड़ा,
कर कर चोट
लाल हुए काले लोहे को
जैसा चाहे वैसा मोड़।[43]

केदार के यहां प्रतीकों का जो प्रयोग हुआ है, वह स्पष्ट, सरल और लोक-जीवन से जुड़ा हुआ है। उनकी कविता में दुरूह और अस्पष्ट प्रतीकों का प्रयोग नाममात्र का भी नहीं हुआ है। उनके अधिकांश प्रतीक परंपरागत और सामान्यतः जन-जीवन में प्रचलित हैं। अतः कहा जा सकता है कि केदार की कविता में प्रयुक्त प्रतीक लोक-जीवन से और लोकधर्मी संवेदना की अभिव्यक्ति करने के लिए आए हुए हैं।

छंद-विधान :

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य जगत में चमकने से पूर्व सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' छंद का बंध तोड़ कर चमक रहे थे। कवि पर निराली जी के परवर्ती काव्य का प्रभाव पड़ रहा था। अतः केदार मुक्त छंद के आग्रही थे, यद्यपि उन्होंने छंदबद्ध कविताएं सफलता पूर्वक लिखी हैं। छंद और छंद-मुक्त काव्य के बारे में केदार के विचार उनके द्वारा अपने प्रिय मित्र डॉ. रामविलास शर्मा को लिखे पत्रों में झलकता है, जो इस प्रकार है- "रही बात Free verse की - यह मुझे मेरी जान ही मालूम होती है। जो चाहता हूँ, वही उन शब्दों में कह लेता हूँ - ऐसा नहीं होता कि लिखने कुछ बैठूँ और तुकांत के दाँव-पेंच में पड़कर कुछ दूसरा ही लिख डालूँ। मेरा ऐसा अनुभव है कि तुकांत में यही होता है। उसमें मेरी हत्या होती है, फ्री-वर्स में मैं पनपता हूँ। मुझे तुम्हारी सलाह तुकांत में लिखने की पसंद है, पर ग्राह्य नहीं।.....मुझे फ्री-वर्स का माध्यम जानदार और जोरदार मिला है। यह पिटा-घिसा नहीं है। न इसमें पंक्ति के अंतिम भाग का एक सा अवसान है। यहां प्रवाह है, रोज़ की बोली का सजीव रूप है। शर्मा मेरी राय मान लो, तुम मुझे तुकांत लिखने की सलाह न दो। ..... तुकांत की जीत नहीं हो सकती, नहीं हो सकती।[43] स्पष्ट है कि केदार मुक्त छंद में स्वयं को सहजता के साथ अभिव्यक्त कर पाते हैं।

केदार को कथ्य को बढ़ा-चढ़ा कर और मांत्रिक छंदों में बाँध कर लिखने की महारत हासिल है। उनके काव्य में प्राचीन छंद 'आल्हा' का सफलता पूर्वक प्रयोग मिलता है। 'आल्हा' बुंदेलखंड का एक लोक-प्रिय जन-काव्य रूप है, जिसका प्रचलन अवध प्रदेश के जन-जीवन में भी पाया जाता है। कवि ने अंग्रेजी शासन के विरूद्ध 1945 ई. में ऐतिहासिक मुंबई नौ-सेना विद्रोह का वर्णन, अपनी रचना 'बंबई का रक्त स्नान' नामक काव्य संग्रह में, 'आल्हा' छंद की काव्यात्मक शैली में किया है। उसका नमूना निम्न है-

दक्खिन मां बम्बई शहर है साथिव ! यहि का सुनो हवाल।
हुआँ धकाधक मिलैं चलतु हैं गिन्ती का न करौ सवाल।।
हुआँ रेल-ट्रामें चलती हैं हुआँ मोटरें फिरैं तमाम।
हुआँ हवा में उड़ै सवारी जेहि का उड़नखटोलवा नाम।।
रोम रोम मुरछा से च्याता, रोम रोम मा आगी लाग।
अब जनता ऐसे फुफकारै, जैसे फुफकै करिया नाग।।[44]

उक्त काव्य संग्रह के अतिरिक्त केदार ने आल्हा छंद का प्रयोग कुछ अन्य कविताओं में किया है। जैसे- 'वोट न माँगे पहौ', 'हम तो उनका वोट न देबै', 'बात करौ केदार खरी', 'यह देखो कुदरत का खेल' और 'धिक्कार है' आदि कविताओं में किया है, जो 'कहें केदार खरी खरी' नामक काव्य संग्रह में संकलित हैं। कवि के इन छंदों से उनके काव्य में बुदेलखंड के लोकगीतों की अनुगूंज सुनाई देती है।

केदार की छंद योजना पर अपना विचार व्यक्त करते हुए उनके मित्र कवि शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा "उसके छंद में एक ठेठपन मिलेगा, जो ठोस अनुभवों का तेवर लिए होता है। उसकी वाणी में एक कस-बल है, जो बुंदेलखंड का ही नहीं उसका तो है ही, हर स्वस्थ मेहनतकश नौजवान का भी है। उसके शिल्प में बारीकियाँ न होते हुए भी, उसके अंदाज में जोर और असर है और एक अजीब ताजगी"।[45] केदार की छंदबद्ध कविताओं में लोक-जीवन की मधुर मिठास देखने को मिलती है।

केदार की कविताओं में 5 से लेकर 30 तक के मांत्रिक छंदों का प्रयोग पाया जाता है। उनके काव्य में वर्णिक छंद का प्रयोग लगभग नहीं हुआ है। उन्होंने कुछ मौलिक मांत्रिक छंदों की रचना की है। जिसमें चौपाई छंद की तरह 16 मात्राएं पाई जाती हैं, किंतु इसका रूप चौपाई छंद से पूर्णतः अलग है-

गाओ साथी! उन गीतों को
s s s s । । s s s
जो गाते हैं नंगे निर्धन,
पेट खलाये, रीढ़ झुकाए,
जो गाते हैं टूटे निर्धन।[46]
s s s s s s । । । ।

अलंकार विधान :

केदार के काव्य में बहुत कम ऐसे स्थान मिलेंगे, जहां अलंकारों का प्रयोग न हुआ हो। किंतु कवि सयास अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है, बल्कि उनके काव्य में कबीर के पदों की तरह स्वतः आ गए हैं। उनके काव्य में अनुप्रास, रूपक और मानवीकरण अलंकारों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। उन्होंने अपनी कविता में अनेक नवीन उपमानों की मौलिक रचना की है-

1. कलम की चोंच
2. धूप गुजरिया
3. टूट गए बटनों की तरह खोई खोई जिंदगी
4. बासी भाँजी सी आबादी
5. नदी नौजवान ढीठ लड़की
6. ढेला-सी बड़ी-बड़ी आँखें लिए

उक्त उपमान विधानों में अनुप्रास अलंकार 'नदी नौजवान ढीठ लड़की' जैसे काव्य पंक्तियों में पाए जाते हैं। इसके अलावा केदार के उपमान विधानों में रूपक और मानवीकरण अलंकार भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए-

मोती जैसी बूंद बरसी
धरती पर जलधारा बरसी
झाग भरे लाखों मटमैले
फन फैलाए अहिगन सरके।[47]

केदारनाथ अग्रवाल के काव्य लोक-जीवन की प्रगतिशीलता, प्रकृति और प्रेम से भरा है और नव निर्वाण के लिए हुंकार भरता हुआ आम आदमियों के जीवन में सुख-समृद्धि लाने के लिए साहस, संघर्ष और संपन्नता का काव्यात्मक गीत है। उसी प्रकार उनके काव्य का शिल्प नवीन बिंबों, प्रतीकों और रूपक-विधानों से जनभाषा में लोकधर्मी बुनावट से नए शिल्प का लोकतांत्रिक विधान है, जो लोक-जीवन के भविष्य का मार्ग तय करता हुआ दिखाई पड़ता है।

*****

संदर्भ श्रोत

1. डॉ. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 111
2. सं. अजय तिवारी, केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 74
3. केदारनाथ अग्रवाल, विचार बोध, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 83
4. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 58
5. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', परिमल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 104
6. केदारनाथ अग्रवाल, विचार बोध, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 38
7. डॉ. नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 100
8. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 23
9. पुरुषोत्तम अग्रवाल, तीसरा रूख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 165
10. प्रो. मैनेजर पांडेय, जनज्वार.कॉम, दिनांक 31/05/2011, संजाल
11. सं. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील काव्य और केदारनाथ अग्रवाल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 180
12. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 73
13. आधुनिक कवि : 16 केदारनाथ अग्रवाल, संस्करण 1978, हिंदी साहित्य सम्मेलन,

प्रयाग, पृ. 41-42
14. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 12
15. वही, पृ. 17
16. वही, पृ. 28
17. डॉ. केदारनाथ सिंह, हिंदी काव्य में बिंब विधान, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 23
18. S. K. Coffman(Jr), Imagism, Internet, Page 9
19. C Day Lavies, The Poetic Image, Internet, Page 19
20. George Whalley, Poetic Process, Internet, Page 145
21. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत 2011, पृ. 260
22. I .A. Richards, Coleridge On Imagination, Internet, Page 34
23. डॉ. शिवकुमार मिश्र, आधुनिक कविता और युगदृष्टि, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 35
24. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 70
25. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 28
26. केदारनाथ अग्रवाल, विचार बोध, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 83
27. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 17
28. वहीं, पृ. 58
29. वहीं, पृ. 48
30. वहीं, पृ. 78
31. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 34
32. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 50
33. आर्थर साइमंस, दि सिम्बोलिक मूवमेंट इन लिटरेचर, अंतरजाल, पृ. 42
34. शांतिस्वरूप गुप्त, पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धांत, अंतरजाल, पृ. 298
35. जयशंकर प्रसाद, काव्य और काल तथा अन्य निबंध, अंतरजाल, पृ. 34
36. सं. धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश भाग-1, ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी, पृ. 515
37. भगीरथ मिश्र, काव्य शास्त्र, अंतरजाल, पृ. 255
38. कुमार विमल, सौंदर्य शास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 264
39. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 24
40. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 151
41. केदारनाथ अग्रवाल, बोले बोल अबोल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 112

42. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 51
43. सं. डॉ. रामविलास शर्मा और अशोक त्रिपाठी, मित्र संवाद, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 51
44. केदारनाथ अग्रवाल, बम्बई का रक्त स्नान, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 5, 20
45. सं. अजय तिवारी, केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 73
46. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी खरी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 133
47. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेंहदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. 22

*****

सप्तम अध्याय

उपसंहार

मानवीय चेतना और लोक-जीवन से संबद्धता का नाम केदारनाथ अग्रवाल है। प्रकृति के दर्पण में प्रेम की आंच से पकी हुई लोकधर्मी संवेदनाओं की गाथा उनकी कविताओं का मूल स्वर है। यह स्वर लोक-दृष्टि की उस परंपरा से निसृत हुआ है जिसके भाष्यकार कबीर, सूर, तुलसी थे। स्पष्ट है कि केदार जनता के कवि हैं और उनकी रचनाओं में जनता के दैनिक जीवन के सुखात्मक और दुखात्मक जीवन-संघर्षों की अनुभूतियों की आशामयी अभिव्यक्ति हुई है। लोक-जीवन उनकी कविताओं का उत्स है और ग्राम्य-जीवन से वे ऊर्जा प्राप्त करते हैं। इस शक्ति के बल से बांदा के लोक-जीवन को पूरे राष्ट्र की लोक-संवेदना से जोड़कर चेतना के स्तर पर उसे राष्ट्रीय और वैश्विक स्वरूप देते हैं।

केदारनाथ अग्रवाल को प्रगतिशील कवियों में महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रगतिशीलता एक व्यापक शब्द है जिसका अर्थ तार्किक तथा संगत विचारों को स्वीकार कर उसका प्रसार करना है। इसलिए प्रेमचंद ने साहित्यकारों को स्वभावतः प्रगतिशील कहा है। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील कविता का संबंध मानव समाज की गति और विकास से है। ये कविताएं मानव को वैयक्तिक संकीर्णताओं से मुक्त रखने की पक्षधर होती हैं तथा जन-जीवन से गहरे जुड़कर भावनाओं को मानवीय आयाम प्रदान करती हैं। इनमें सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, युगीन चेतना, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय भावधारा, वर्ग-चेतना, क्रांति और विद्रोह की भावना, रूढ़ियों के प्रति आक्रोश और उनके प्रति लोक-पक्षीय दृष्टिकोण व्यक्त होता है। साहित्यकार अपनी कविताओं से जनतांत्रिक मूल्यों, लोक-जीवन की समस्याओं को उठाते हुए, नारी सशक्तिकरण, प्रकृति प्रेम और सामान्य लोगों तथा उनके जीवन के प्रति लगाव की दृष्टि से साहित्य का सृजन करते हैं। इसके मूल में सामान्य जनता के जीवन में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधार करने की भावना निहित होती है। कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से जन-जीवन में परिवर्तन लाने वाले अपने नूतन दृष्टिकोण से जनता की वास्तविक स्थितियों का यथार्थ चित्रण कर, उसमें सकारात्मक बदलाव के लिए प्रयत्नशील होता है।

केदार का काव्य प्रगतिशील विचारों से भरा हुआ है, उनकी रचनाओं में किसानों, मजदूरों और ग्रामीण भारत की जनता के दैनिक जीवन संघर्षों का वास्तविक चित्र खींचा गया है। जिसके कारण उन्हें मार्क्सवादी विचारधारा का कवि माना जाता है। आलोच्य कवि ने अपनी रचनाओं की भूमिकाओं और कविता की विषय वस्तु के माध्यम से अपने ऊपर पड़े मार्क्सवादी दर्शन का प्रभाव स्वीकार करता है। जिस कारण से उन्हें प्रगतिशील कवि के रूप में स्वीकार किया जाता है और वाम-पक्षीय दृष्टिकोण से उन पर कई शोध-ग्रंथ भी लिखे जा चुके हैं। किंतु केदार के जीवन और रचनाओं का गहन अनुशीलन करने के पश्चात ऐसे तथ्य मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि वे समाजवादी विचारधारा से प्रभावित लोक जीवन के चितेरे हैं। उनके काव्य में वाम-पक्षीय वर्ग-संघर्ष का कोई चरम उदाहरण नहीं मिलता है। इसके विपरीत उनके काव्य में लोकतंत्र, समता, बंधुत्व, भारतीय संस्कृति, राष्ट्रीयता, लोक-जीवन तथा ग्रामीण जीवन के

यथार्थ और अनुपम उदाहरण मिलते हैं। अतः उन्हें लोकधर्मी संवेदना का कवि कहने में कोई असंगतता दिखाई नहीं देती है।

कवि की कविताओं का विवेचन लोकधर्मी दृष्टिकोण से करने पर उनकी सारी कविताओं की संवेदना का मूल सहजता से प्रकट हो जाता है। लोकधर्म की स्थापना भारतीय संस्कृति का प्रमुख लक्षण है। वैदिक काल से आजतक इस देश में अनेक महापुरुष पैदा हुए हैं, जिन्होंने जनता के हित में कार्य किया है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, गुरुनानक, कबीर, सूर, तुलसी, विवेकानन्द, भारतेंदु हरिश्चंद आदि महापुरुषों ने अपने कर्म से जनता के हेतु संघर्ष किया है और अपने अपने स्तर पर युगीन लोकधर्म की स्थापना की है। पौराणिक कथाओं में भी हरिश्चंद, रंतिदेव और दधीचि ने लोकार्थ अपना सब कुछ दान कर दिया था। अतः लोकधर्मी संवेदना इस धरती की परंपरा है। केदारनाथ अग्रवाल उसी परंपरा को आगे बढ़ाने वाले लोक संवेदना के गायक हैं।

कविता का लोक से गहरा संबंध है, लोक से विमुख व्यक्ति या कवि कभी भारतीय संस्कृति में सम्मान नहीं प्राप्त कर पाया है, रहीम, बिहारी और रसखान को आज भी लोक जीवन में बहुत आदरणीय स्थान प्राप्त है, इसका कारण उनकी रचनाओं का लोक जीवन से अनुस्यूत होना है। यह एक बहुत बड़ा सच है कि कविता को अनिवार्यतः लोक से जुड़ना ही पड़ता है। क्योंकि कविता की सामूहिक चेतना लोक से उपजी है, इसी लोक से कविता में सहजता आती है। कविता की रचनात्मक जटिलता के बावजूद, वह लोक तत्त्वों से ही अधिकाधिक संप्रेषणीय बन पाती है। लोक-जीवन और लोक-संवेदना से युक्त कविता ही लोकवाणी बन पाती है, अन्यथा वह किसी व्यक्तिवादी उपदेशात्मक ग्रंथ की तरह जनता की आंखों से ओझल हो जाती है।

केदारनाथ अग्रवाल भी लोकधर्मी संवेदना के कवि है, उनका काव्य लोक-जीवन के हर रंग से रंगा गया है। प्रथमतः उनका स्वयं का व्यक्तित्व चरित्रवान, विचारवान और जनवादी था। वे तार्किक, वैज्ञानिक और आधुनिक युग के मूल्यों से परिपूर्ण थे। वे शुद्ध शाकाहारी और सात्विक विचारों से युक्त थे। केदार श्रेष्ठ गुणों से युक्त मानवता के व्यक्ति और कवि थे। इसलिए वे लोक-जीवन के सौंदर्य को महसूस कर पाए और उसको अपनी रचनाओं के माध्यम से सजीव बना दिया। उनका उद्देश्य जनता को शिक्षित, समृद्ध और शक्तिशाली करना तथा उसे वैज्ञानिक और तार्किक बनाकर लोक जीवन की सामाजिक, राजनीति और आर्थिक दशाओं में उन्नति करना है। जिससे मानव का मानव द्वारा शोषण बंद हो सके, भ्रष्टाचार, अंधविश्वास आदि मनुष्य के विकास में बाधक न बन सके, इस प्रकार कवि केदार उच्च आधुनिक मानवीय मूल्यों से ओतप्रोत थे और उन्हीं मूल्यों की स्थापना, लोक-जीवन और राष्ट्रीय जीवन में करना चाहा है।

केदार के काव्य में लोक-जीवन और ग्रामीण-जीवन की संवेदना का विविध रूपों में चित्रण पाया जाता है। जिसमें खेत की बुवाई, कटाई, निराई, दवाई, ओसाई करते किसान और भरपूर अनाज होने पर प्रफुल्लित किसान का परिवार, सुबह, सुबह काम पर जाने के लिए तैयार श्रमिक, अपने हक और अधिकार के लिए संगठित होते मजदूर, फावड़ा चलाता हुआ श्रमिक, गांव की सुबह, शाम, धूप, बारिश, गरीबी, सेठ, महाजन, थाना, कचहरी, मुवक्किल, जज आदि सभी का यथार्थ चित्रण उनकी कविताओं का विषय बने हैं। केदार के काव्य की एक विशेषता यह है कि उनका किसान, श्रमिक और लोक-जीवन निराश और हताश नहीं है। उसमें एक विश्वास और आशा है, भविष्य की चाह और जीवन को सुंदर बनाने की आस भरी पड़ी है। वे सकारात्मक सोच के कवि हैं, इसलिए उनके रूपायित लोक-जीवन में निराशा और कुंठा नहीं है, छल, छद्म नहीं है, बल्कि उसके स्थान पर शक्ति, एकता और संघर्ष के भाव हैं, जिससे जीवन समृद्ध और सुखी बनता है। अतः केदार के काव्य में आया जन-जीवन अपने यथार्थ स्वरूप में होते हुए भी आशा, खुशी और विश्वास से भरा हुआ है। उनके काव्य में गरीबी, शोषण, दुर्व्यवस्थाओं, अभावों, परेशानियों, समस्याओं, भुखमरी, बीमारी के बावजूद आपसी भाईचारा, छोटी-छोटी खुशियां तथा जिंदगी की गरमाहट का सुख है। इन सबके अतिरिक्त लोक-जीवन में जिंदगी के राग के साथ शोषक शक्तियों के खिलाफ आक्रोश भी है। इस प्रकार केदार का जन-जीवन यथार्थ और अपने वस्तुस्थिति में प्रकट हुआ है तथा तर्क एवं वैज्ञानिक चेतना के साथ अन्याय, शोषण, भ्रष्टाचार, रूढ़ियों और अंधविश्वासों से टकराता है, कवि इस टकराहट और संघर्ष से आधुनिक मानव मूल्यों की सहज और स्वाभाविक स्थापना की दिशा का संकेत देता है। उनकी राजनीतिक समझ इतनी प्रगतिशील थी कि उनके द्वारा स्थापित संभावनाएं संप्रति देश के हर कोने में साकार हो रही हैं।

केदार के काव्य में लोक-जीवन का चित्रण प्रमुखता से हुआ है, किंतु उनके काव्य की दूसरी मुख्य विशेषता प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण है। कवि का प्रकृति चित्रण अनोखा है, जिसमें प्रगतिशीलता का चित्रण और लोकधर्मी संवेदना का रूपायन सहजता से प्रकट हुआ है। आलोच्य कवि की रचनाओं से पहले प्रकृति के उपादानों का वर्णन काव्य में दृश्य के रूप में किया जाता था ताकि कविता का सौंदर्य बढ़ सके। आधुनिक काल में छायावाद से प्रकृति का मानवीकरण के रूप में काव्य में प्रयोग होने लगा। किंतु छायावाद में प्रकृति सूक्ष्म और काल्पनिक रूपों में प्रकट हुई है जिसका यथार्थ जीवन से कोई अधिक वास्ता नहीं था। किंतु केदार एवं प्रगतिशील कवियों के यहां प्रकृति लोक-जीवन के अंग के रूप में प्रस्तुत हुई है। यहां प्रकृति के उपादान लोक-जीवन से ग्रहण किए गए हैं। प्रकृति लोक के साथ उसकी सहचरी के रूप में उपस्थित हुई है। वह लोगों के साथ हंसती और रोती है। उसके भाव के तार लोक से जुड़े हैं। केदार की कविताओं में बसंती हवा है, माइके में आई बेटी जैसी धूप है, नए जीवन का तरह लाल सबेरा है, जल रहा गुलाब है तथा तेजधार का कर्मठ पानी, बांधा रूपी चट्टानों को

तोड़ रहा है। केदार के काव्य में प्रकृति लोक-जीवन का अंग और उसकी साथी है जो लोक के साथ संघर्षरत है। अतः केदार के काव्य में प्रकृति में लोकधर्मी संवेदनाओं का अनोखा चित्रण हुआ है। प्रकृति और लोक-जीवन की संवेदनाओं का ऐसा मंजुल मेल अन्यत्र मिलना दुर्लभ होता है।

केदार काव्य की तीसरी विशेषता प्रेम है, जो लोक-जीवन, प्रकृति, पशु-पक्षियों, संस्कृति, राष्ट्र, भाषा और साहित्य के अलावा मानव, विशेष कर नारी के प्रति प्रकट हुआ है। सामान्यतः केदार आशावादी कवि हैं और वे जीव-जगत के प्रत्येक उपादानों से प्रेम रखते हैं। किंतु उनका प्रेम व्यापक रूप में मनुष्यता के लिए प्रकट हुआ है। वे नारी को पूर्णतः स्वावलंबी बनाना चहते हैं, इसलिए कभी उसे 'लोहा जैसे चलते देखते हैं', 'चिकट गंदी निरी उटंगी, चिथड़ी धोती लिपटी है' के रूप में देखते हैं तो कभी 'दिन में कुमारी और रात में प्रेमिका' के रूप में देखते हैं। वास्तव में केदार नारी की सच्ची और यथार्थ तस्वीर खींचते हैं। उनके काव्य की संवेदना नारी को उसकी समानता और स्वतंत्रता दिलाना है। किंतु उनके नारी विषयक विचारों में श्लीलता है। उसी शील को पाने के लिए केदार अपने दंपति जीवन के प्यार को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। वे अपनी प्रिया को 'हे मेरी तुम' और प्रिया प्रियंबद कह कर संबोधित करते हैं। उनकी प्रिया कोई रूढ़िवादी पारंपरिक स्त्री नहीं है बल्कि स्वकीया प्रेमिका है, पत्नी है, सहचरी है और साथी भी है। इस प्रकार केदारनाथ अग्रवाल प्रेम के क्षेत्र में भी प्रगतिशील है और विशेष कर लोक-समाज के समक्ष वैवाहिक प्रेम का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। कवि के द्वारा दंपति प्रेम की स्थापना को रूढ़िवादी या दकियानूसी नहीं समझना चाहिए, जहां पुरुष प्रधानता होती है और नारी उसकी आश्रिता। केदार के यहां प्रेम को बराबरी का स्थान दिया गया है जहां पर दो प्रेमी स्वाभाविक रूप से एक दूसरे के साथी होंगे। इस तरह दंपति प्रेम से लोक जीवन में नारी की स्थिति मजबूत रहेगी और घर कलहों से बचा रहेगा। जहां शांति होगी वहीं समृद्धि होगी। इस प्रकार केदार लोक-जीवन को व्यभिचार और नैतिक गिरावट से रोकना चाहते हैं।

केदार के काव्य की मुख्य तीन विशेषताएं लोक-जीवन, प्रकृति और प्रेम में प्रगतिशीलता है। उनकी प्रगतिशीलता काव्य के विषय और कथ्य तक ही सीमित नहीं है बल्कि उन्होंने काव्य के शिल्प को भी प्रगतिशील बना दिया है। उनकी कविताएं छोटी-छोटी और अपने आप में एक पूर्ण बिंब होती हैं, जो वस्तुचित्र के स्थान पर उसके संपर्क से निर्मित संवेदनाओं की छबि अंकित कर देती है। वे काव्य में नए प्रतीकों का प्रयोग किए है, जैसे लाल, हथैड़ा, डॉलर आदि। भाषा में मिश्रित जन प्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है। कुछ रचनाओं में वे लोकधुनों का उपयोग करते हैं विशेषकर आल्हा लोक छंद।

केदार का वाड्मय इतना विस्तृत है कि उसकी पूरी विवेचना और विश्लेषण करना एक स्थान पर अपर्याप्त है, उनके काव्य को पूरी तरह समझने तथा व्यक्तित्व में झांकने के लिए और शोध ग्रंथ लिखने की आवश्यकता है, जैसे केदार की काव्य-दृष्टि, केदार का जीवन और

चरित्र, केदार के काव्य में स्थापित जीवन-दर्शन, पर्यावरण सुरक्षा और केदार का काव्य आदि। उनका लोकधर्मी सच्चा चरित्र उनके प्रिय सखा बाबा नागार्जुन के शब्दों में इस प्रकार प्रकट हुआ है-

प्यारे भाई, मैंने तुमको पहचाना है
समझा-बूझा है, जाना है.....
केन कूल की काली मिट्टी, वह भी तुम हो !
कालिंजर का चौड़ा सीना, वह भी तुम हो !
ग्रामबधू की दबी हुई कजरारी चितवन, वह भी तुम हो !
कुपित कृषक की टेढ़ी भौंहें, वह भी तुम हो !
खड़ी सुनहली फसलों की छबि-छटा निराली, वह भी तुम हो !
लाठी लेकर कालरात्रि में करता जो उनकी रखवाली, वह भी तुम हो !

अतः भारतीय लोक परंपरा का वंशज होने की घोषणा करने वाले कवि श्री केदारनाथ अग्रवाल की कविताएं जनवादी, प्रगतिशील, लोकवादी, ग्रामीणता, देहातीपन, जनपदीयता आदि विशेषणों से युक्त होते हुए भी, अपनी संवेदना और कथ्य में सार्वभौमिक और सार्वदेशीय हैं। इनकी कविताएं भारतीयता की मूल संवेदना की स्थापना करती हैं। इनकी कविताओं में भारत के जन-जीवन में झलकने वाला उपजीव्य केंद्रीभूत हो कर प्रकट हुआ है। इनकी कविताएं भारतीय लोक जीवन की यथार्थ और सच्ची संवेदनाएं है और केदार लोकधर्मी संवेदना के सच्चे कवि हैं।

*****

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार-ग्रंथ सूची

1. अजय तिवारी एवं इब्बन रब्बी, कवि मित्रों से दूर, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986
2. अजय तिवारी, केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2007
3. अशोक त्रिपाठी, संचयिता केदारनाथ अग्रवाल, अ.म,वि,वि. वर्धा से प्रकाशित
4. केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2009
5. केदारनाथ अग्रवाल, आग का आईना, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2009
6. केदारनाथ अग्रवाल, गुलमेहंदी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2009
7. केदारनाथ अग्रवाल, पंख और पतवार, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2009
8. केदारनाथ अग्रवाल, मार प्यार की थापें, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2009
9. केदारनाथ अग्रवाल, हे मेरी तुम, साहित्य भंडार इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2009
10. केदारनाथ अग्रवाल, मुंबई का रक्त-स्नान, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2009
11. केदारनाथ अग्रवाल, कहें केदार खरी-खरी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
12. केदारनाथ अग्रवाल, जमुन जल तुम, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
13. केदारनाथ अग्रवाल, अपूर्वा, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
14. केदारनाथ अग्रवाल, बोले बोल अबोल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
15. केदारनाथ अग्रवाल, जो शिलाएं तोड़ते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
16. केदारनाथ अग्रवाल, आत्मगंध, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
17. केदारनाथ अग्रवाल, अनहारी हरियाली, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
18. केदारनाथ अग्रवाल, खुली आँखें खुले डैने, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण,

2009
19. केदारनाथ अग्रवाल, पुष्पदीप, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
20. केदारनाथ अग्रवाल, वसंत में प्रसंन हुई पृथ्वी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
21. केदारनाथ अग्रवाल, कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2009
22. केदारनाथ अग्रवाल, देश देश की कविताएं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
23. केदारनाथ अग्रवाल, समय-समय पर, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
24. केदारनाथ अग्रवाल, विचार-बोध, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
25. केदारनाथ अग्रवाल, विवेक-विवेचन, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
26. केदारनाथ अग्रवाल, पतिया, परिमल प्रकाशन, 1985
27. केदारनाथ अग्रवाल, दीनू की दूनिया, अप्रकाशित
28. केदारनाथ अग्रवाल, बैल बाज़ी मार ले गए (अधूरा), आजकल पत्रिका, अंक : मई, 2011
29. केदारनाथ अग्रवाल, बस्ती खिले गुलाबों की, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2009
30. रामविलास शर्मा एवं अशोक त्रिपाठी, मित्र संवाद, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2009
31. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2009
32. रामविलास शर्मा, श्रम का सूरज, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1986
33. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, प्रथम संस्करण, 1984

सहायक ग्रंथ सूची

1. अज्ञेय, हिंदी साहित्य : एक आधुनिक परिदृष्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967
2. कामता प्रसाद, कविता तीरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995
3. कुमार विमल, सौंदर्य शास्त्र के तत्व, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1989
4. गिरिजा कुमार माथुर, मैं वक्त के हूं सामने, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1990

5. गोविंद प्रसाद, कविता के सम्मुख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002
6. चंद्रशेखर मिश्र 'शास्त्री', घनानंद कवित्त प्रथम शतक, संजय बुक सेंटर, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1993
7. ठा. रवींद्र भ्रमर, हिंदी भक्ति साहित्य में लोकतत्व, भारतीय साहित्य मंदिर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1965
8. डॉ. कृष्ण देव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्रा. लि. इलाहाबाद, संस्करण 1957
9. डॉ. मधुछंदा, श्रम का सौंदर्य शास्त्र और केदारनाथ अग्रवाल का काव्य, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1992
10. डॉ. रवींद्र मिश्र, अंतिम दशक की हिंदी कविता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2013
11. डॉ. राजेंद्र प्रसाद, अज्ञेय : कवि और काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006
12. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1986
13. डॉ. विमल अग्रवाल, मनोविज्ञान, एसबीपीडी प्रकाशक, आगरा, संस्करण 2013
14. डॉ. सत्येंद्र, लोक साहित्य विज्ञान, शिवलाल अग्रवाल प्रकाशन आगरा, प्रथम संस्करण 1962
15. डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण, मुक्ति बोध की काव्य सृष्टि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004
16. डॉ. चंद्रबली सिंह, लोकदृष्टि और हिंदी साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1986
17. डॉ. नामवर सिंह, दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2000
18. डॉ. रामकिशोर शर्मा, आधुनिक कवि, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संशोधित संस्करण 2008
19. डॉ. रामदरश मिश्र, साहित्य संदर्भ और मूल्य, भारतीय साहित्य मंदिर, नई दिल्ली, संस्करण 1961
20. डॉ. रामदरश मिश्र, पक गई है धूप, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1969
21. डॉ. रावत एवं खंडेलवाल, आधुनिकता एक पहचान, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, संस्करण 1985

22. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, पेड़ का हाथ, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002
23. डॉ. शशि शर्मा, प्रगतिशील कविता में लोकतत्व, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007
24. डॉ. शिवकुमार मिश्र, आधुनिक कविता और युगदृष्टि, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 2012
25. डॉ. सुभाष क्षीरसागर, नागार्जुन के काव्य में लोकचेतना, शुभम पब्लिकेशन, कानपुर, प्रथम संस्करण 20011
26. तुलसीदास, रामचरित मानस (बालकांड), गीता प्रेस, गोरखपुर
27. त्रिलोचन, अरघान, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1983
28. त्रिलोचन, धरती, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1977
29. त्रिलोचन, शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980
30. त्रिलोचन, उस जनपद का कवि हूं, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981
31. नंदकिशोर नवल, अथातो काव्य जिज्ञासा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1986
32. नंदकिशोर नवल, हिंदी आलोचना का विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981
33. नागार्जुन, युगधारा, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1982
34. नागार्जुन, हजार हजार बाहों वाली, राधाकुष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981
35. निर्मला जैन, आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2004
36. प्रभाकर श्रोत्रिय, कालयात्री है कविता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993
37. प्रो. राधाबल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत कविता में लोकजीवन, एस पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण 2010
38. मधुस्थाना, किरणबाला वर्मा, व्यक्तित्व मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर, दिल्ली, संस्करण 2008
39. महादेवी वर्मा, निहारिका, कविता कोश, संजाल
40. रमाकांत शर्मा, छायावादोत्तर हिंदी कविता, साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण 1970
41. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1, इंडिया प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण 1976
42. रामचंद्र शुक्ल, रस मीमांसा, नागरीप्रचारणी सभा, काशी, संवत 2011

43. रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-2, सरस्वती मंदिर, काशी, विक्रम 2002
44. रामचंद्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत 2028
45. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चौदहवां संस्करण 2019
46. रामविलास शर्मा, लोक जागरण और हिंदी साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2004
47. विद्या निवास मिश्र, लोक और लोक का स्वर, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
48. विरेंद्र द्विवेदी, आधुनिक हिंदी कविता में लोकतत्व, विद्या प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण 1991
49. शिवमंगल सिंह 'सुमन', मिट्टी की बारात, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठां संस्करण 1991
50. श्री प्रकाश, केदार : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1970
51. सं. किशोरी लाल, सूर और उनका भ्रमरगीत, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1996
52. सं. जगन्नाथ रत्नाकर, बिहारी रत्नाकर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1990
53. सं. धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश भाग-1, ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी, संवत 2015
54. सं. नगेंद्र, मानवीकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खंड, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1965
55. सं. नगेंद्र, काव्य-बिंब, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1979
56. सं. परमानंद श्रीवास्तव, सूरदास मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1995
57. सं. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी, काशी
58. सत्यप्रकाश व्यास, हिंदी कवियों की मार्क्सवादी विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2007
59. सुमित्रानंदन पंत, पल्लव, कविता कोश, संजाल
60. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' परिमल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 1991
61. हजारी प्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, साहित्य भवन, इलाहाबाद, दूसरा संस्करण 1954

62. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2008
63. हेलवॉस एलिस अनु. मन्मथनाथ गुप्ता, यौन मनोविज्ञान, राजपाल एवं संस, दिल्ली, संस्करण 2010

संस्कृत ग्रंथ

1. श्रीमद्भगवद गीता, संजाल, bhagavad-gita.org
2. महाभारत, वेद व्यास, अनुवाद पं. परमानंद शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1970
4. सिद्धांत कौमदी, व्यंकटेश्वर प्रेस, मुंबई

शब्द कोश

1. डॉ. हरदेव बाहरी, वृहत हिंदी कोश, ज्ञानमंडल लि., वाराणसी
2. श्री नवल जी, नालन्दा विशाल शब्द सागर, आदीश बुक डिपो, दिल्ली, संस्करण 2013
3. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिंदी शब्दकोश, अनिल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011
4. सहज समांतर कोश (हिंदी थिसारस), अरविंद कुमार, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2010

सहायक पत्रिकाएं

1. अक्षर द्वैमासिकी, अंक 33, जनवरी-फरवरी, 2015, म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल
2. आजकल, केदारनाथ अग्रवाल विशेषांक, अंक 01, मई, 2011, नई दिल्ली
3. आजकल, केदारनाथ अग्रवाल विशेषांक, अंक 12, अप्रैल,1995, नई दिल्ली
4. आलोचना त्रैमासिक, केदारनाथ अग्रवाल विशेषांक, सहस्त्राब्दी अंक 42, जुलाई-सितंबर, 2011, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. सृजन संदर्भ त्रैमासिक, जन्म शताब्दी स्मरण अंक, अंक 9-10, अप्रैल-सितंबर, 2011, स्वामी प्रकाशक, कल्याण, थाणे
6. वर्तमान साहित्य, सं. रवींद्र कालिया, एमआईजी अवंतिका- 1 रामघाट रोड़ अलीगढ़ से प्रकाशित

आनलाइन पत्र और पत्रिकाएं

1. वागार्थ http://www.bharatiyabhashaparishad.org/
2. साहित्य शिल्पी http://www.sahityashilpi.com/
3. रचनाकार http://www.rachanakar.org/
4. नवभारत टाइम्स http://navbharattimes.indiatimes.com/
5. हिंदुस्तान http://www.livehindustan.com/

*****